राज्यविज्ञान के मूल सिद्धान्त

लेखक

श्री ज्योति प्रसाद सूद
अध्यक्ष, राज्यविज्ञान
मेरठ कॉलेज, मेर

तथा

श्री म० न० मेहता, एम० ए०
अध्यक्ष, राज्यविज्ञान तथा इ
बलवन्त राजपूत कॉलेज

द्वितीय खण्ड

लक्ष्मीनारायण अ
प्रकाशक एवं पुस्तक
हॉस्पिटल रोड, आ

...सभी
उपयोगी

म० न० मेहता
मू

प्रथम संस्करण १९५१
द्वितीय संस्करण १९५३
संशोधित संस्करण (दो खण्डों में) १९५६

प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
आगरा।

विषय-सूची

राजनीतिक धारणाएँ

वर्तमान युग की [illegible] धाराएँ

राजनीतिधाराएँ

अध्याय १

प्रभुत्व

अद्वैतवाद (Monism) तथा बहुवाद (Pluralism)

प्रभुत्व की प्रकृति—

आधुनिक राज्य प्रभुत्वसम्पन्न राज्य है। प्रभुत्व राज्य का एक प्रमुख विधायक तत्व है। एक जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक कि वह ऐसे आन्तरिक संगठन का विकास न कर ले जो नागरिकों को आदेश दे सके और उनका पालन करवा सके। राज्य की जनता के मामलों का नियन्त्रण एवं नियमन करने की सर्वोच्च सत्ता भी होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यह सत्ता बाहरी नियन्त्रण से मुक्त या प्रायः मुक्त होनी चाहिये। इस प्रकार संगठित जनता की सत्ता पर बाहरी अथवा भीतरी किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिये। राज्य का यह लक्षण प्रभुत्व (Sovereignty) कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि "प्रत्येक राज्य में कोई व्यक्ति, परिषद् या समुदाय (यथा निर्वाचक मण्डल) हो, जिसे सामूहिक इच्छा को कानून के रूप में अभिव्यक्त करने तथा उसे लागू करने की सर्वोच्च सत्ता हो अर्थात् उसे आदेश देने तथा उसका पालन कराने की अन्तिम सत्ता हो।"[१] सारांश में, इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक राज्य में एक सार्वजनिक सत्ता ऐसी होती है जिसके, कानूनी रूप में, सब हित अधीन होते हैं जिनका वह सार्वजनिक हित की दृष्टि से नियमन एवं नियन्त्रण कर सकता है। इस प्रभुत्व के कारण अपनी सीमा के भीतर राज्य समस्त व्यक्तियों एवं संस्थाओं से उच्च होता है और उनके व्यवहार का नियमन करने के लिये नियम तथा कानून निर्धारित कर सकता है जिनका उन्हें पालन करना पड़ता है। विरोध होने पर राज्य की इच्छा को ही मान्यता दी जाती है। उसका आदेश अन्तिम होता है। अपने प्रभुत्व के कारण ही राज्य उन अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का

---

[१] Garner : op. cit., p. 155

आदि-स्रोत है जिनका नागरिक भोग करते हैं। इसी प्रभुत्व के कारण वह समाज में एकमात्र कानून बनाने वाली सत्ता है और कानूनी तथा गैर क़ानूनी के भेद का स्रोत है। कानून का स्रोत होने के कारण प्रभु अपने बनाये हुए कानून से ऊपर होता है और इसी कारण असीमित होता है। सर्वोच्च होने के कारण वह सबको आदेश देता है परन्तु किसी से आदेश प्राप्त नहीं करता। उसकी इच्छा की कोई कानूनी सीमा नहीं है। उसके बनाये हुए कानून सही समझे जाते हैं चाहे सामाजिक हित की दृष्टि से उनका मूल्य कुछ भी हो। लास्की के शब्दों में, जिस वस्तु का वह इरादा करता है वह इरादे की घोषणामात्र से ही ठीक समझी जाती है। संक्षेप में, इसका यह अर्थ है कि समाज में राज्य से बढ़कर कोई ऊँची या बड़ी सत्ता नहीं है।

अद्वैतवाद (Monism)—

राज्य-प्रभुत्व के कभी-कभी दो पहलू बताये जाते हैं: आन्तरिक और बाह्य। जो कुछ ऊपर कहा गया है वह उसका आन्तरिक पहलू है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि राज्य को अपने समस्त व्यक्तियों एवं समुदायों को बिना किसी शर्त के आदेश देने का और उनसे उनका पालन करवाने का अधिकार है। बाह्य प्रभुत्व का अर्थ 'स्वतंत्रता' शब्द से अधिक अच्छी तरह प्रकट होता है। इसका अर्थ है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक राज्य को बिना किसी दूसरे राज्य के हस्तक्षेप के अपनी नीति निर्धारित करने और कार्य करने की स्वतन्त्रता है। किसी राज्य को दूसरे राज्यों को उनके कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में आदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिये। वह केवल अपना इच्छा से ही बँधा रहता है। इस प्रकार राज्य के प्रभुत्व में दो बातें स्पष्ट हैं—राज्य की सीमा के भीतर समस्त व्यक्तियों एवं संस्थाओं पर उसकी सर्वोपरि सत्ता और विदेशी नियंत्रण से मुक्ति। पहला पहलू बोदाँ की व्याख्या में स्पष्ट हो जाता है। उसने कहा है कि नागरिकों तथा प्रजा पर कानून से अमर्यादित राज्य की सर्वोपरि सत्ता का नाम प्रभुत्व है। जेलिनेक ने अपनी परिभाषा में दूसरे पहलू पर जोर दिया है। प्रभुत्व 'राज्य' की वह विशेषता है जिसके कारण कानूनी रूप से वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी इच्छा द्वारा अथवा अपनी सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता द्वारा मर्यादित नहीं है। बर्गेस ने प्रभुत्व की परिभाषा निम्न प्रकार की है: "वह समस्त व्यक्तियों एवं संस्थाओं पर

मौलिक, निरपेक्ष और असीमित सत्ता है।" "यह आदेश देने तथा उसका पालन कराने की अप्राप्त एवं स्वतन्त्र सत्ता है।" इस परिभाषा में प्रभुत्व की निरपेक्ष तथा असीमित प्रकृति पर जोर दिया गया है। हम कह सकते हैं कि राज्य की क़ानून बनाने तथा अपने पूर्ण बल से उनका अमल करवाने की सत्ता प्रभुत्व है। इस सिद्धान्त को जिसके अनुसार समाज में राज्य की ही एकमात्र सर्वोच्च सत्ता होती है प्रभुत्व का अद्वैतवादी या एकवादी सिद्धान्त (Monistic theory) कहते हैं।

प्रभुत्व का इतिहास—

राज्य के प्रभुत्व का (क़ानूनी) सिद्धान्त आधुनिक है। यह राज्य-विज्ञान की सबसे महत्वपूर्ण धारणाओं में से एक है और अन्तर्राष्ट्रीय विषय सम्बन्धी विवाद में इसका प्राधान्य है। अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' पुस्तक में प्रभुत्व शब्द कहीं नहीं है और न इसका प्रयोग रोमन विचारकों ने ही किया। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे इस धारणा से परिचित नहीं थे। अरस्तू ने राज्य की सर्वोच्च सत्ता (Supreme Power of State) की चर्चा की है। रोमनों ने भी सर्वोच्च सत्ता (Summa potestas) का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि वे राज्य में सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता का अनुभव करते थे। किन्तु ऐसी सर्वोच्चता, जिसकी उन्होंने कल्पना की, आधुनिक प्रभुत्व-सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है। रोम तथा यूनान में ऐसी स्थिति नहीं थी जिसमें प्रभुत्व के आधुनिक सिद्धान्त का आविर्भाव सम्भव होता। राज्य तथा व्यक्ति एवं संस्थाओं के बीच उस समय विरोध नहीं था और यह विचार कि राज्य ही क़ानून का स्रोत है, यूनान में विद्यमान नहीं था। वहाँ राज्य कानून के अधीन था। मध्य-युग में राज्य के लिये कोई भावना नहीं थी और केन्द्रीय सत्ता पर कोई एक-रूप-निर्भरता नहीं थी। एक प्रदेश में सत्ता कुछ प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं के बीच वितरित थी। उस युग में चर्च, रोमन सम्राट्, सामन्त तथा व्यापारिक संघ व्यक्तियों पर अपने-अपने प्रभाव का विस्तार करने के लिये प्रयत्नशील थे। ऐसी स्थिति में प्रभुत्व-सिद्धान्त के प्रादुर्भाव के लिये कोई अनुकूल अवसर ही नहीं था। मध्य-युग के अन्त में उस समय की अव्यवस्था में समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की सुरक्षा के लिये राष्ट्रीय राज्यों (National State) का उदय हुआ। इन राज्यों के एकतन्त्रीय शासकों ने नागरिक क़ानून के निर्माण के एकान्तिक अधिकार का दावा किया। इसके लिये यह आवश्यक था कि शासक लोग पोप, सामन्तों और स्वशा-

सित नगरों की सत्ता का निषेध करते। इस प्रकार आन्तरिक तथा बाह्य प्रभुत्व के सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु यह शासक (Monarch) का प्रभुत्व था, राज्य का नहीं। धीरे धीरे यह शासक के प्रभुत्व से राज्य का एक प्रमुख विधायक तत्व माना जाने लगा। बोदाँ ने १६वीं सदी में सबसे प्रथम राज्य प्रभुत्व का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया। उसके अनुसार प्रभु का मुख्य कार्य कानून बनाना है। प्रभु को अपने निर्मित कानूनों से ऊपर बतलाकर उसने प्रभुत्व को निरपेक्ष बना दिया। उसने इतना अवश्य स्वीकार किया कि प्रभु (Sovereign) दैवी विधान तथा प्राकृतिक नियम से बाध्य है और वह ईश्वर के समक्ष अपने समस्त कृत्यों के लिये उत्तरदायी है। बोदा ने तो आन्तरिक प्रभुत्व का प्रतिपादन किया और ग्रोटियस ने उसके बाहरी पहलू पर जोर दिया किन्तु लोक-प्रभुत्व (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त पर न तो बोदाँ ने और न ग्रोटियस ने और न बाद में हॉब्स तथा लॉक ने ही कोई प्रकाश डाला। रूसो के 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त से ही लोक-प्रभुत्व के आधुनिक सिद्धान्त का विकास हुआ। इस सिद्धान्त के आधुनिक व्याख्याकारों में ऑस्टिन, ग्रीन और बोसनक्वे प्रसिद्ध हैं। ऑस्टिन ने इस पर कानूनी दृष्टि से विचार किया और राज्य के कानूनी प्रभुत्व के सिद्धान्त की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या की। ग्रीन तथा बोसनक्वे का विवेचन दार्शनिक अधिक था। ग्रीन ने ऑस्टिन के मत और रूसो के मत में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। हाल में प्रभुत्व के परम्परागत सिद्धान्त की जिसके अनुसार राज्य निरंकुश और सर्वशक्तिसम्पन्न माना जाता है बहुवादी लेखकों ने बड़ी तीव्र आलोचना की है। उन्होंने परम्परागत सिद्धान्त से बिलकुल विपरीत राज्य की नई भावना प्रस्तुत की है।

प्रभुत्व के लक्षण—

परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार राज्य प्रभुत्व के निम्नलिखित लक्षण माने गये हैं : (१) असीमता, निरपेक्षता अथवा निरंकुशता, (२) एकता, (३) अनन्यता अथवा वर्जनशीलता, (४) सर्वव्यापकता, (५) स्थायित्व और (६) अविच्छेद्यता।

(१) निरपेक्षता—

राज्य का प्रभुत्व निरपेक्ष अथवा असीम होता है। इसका अर्थ यह है कि समाज में प्रभु से महान् और ऊँची अन्य कोई सत्ता नहीं होती। प्रभु की कानून बनाने की सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध या किसी प्रकार की कानूनी

मर्यादा नहीं है यद्यपि प्रभु स्वयं उन कानूनों से ऊपर है। यह बात ऑस्टिन के सिद्धान्त से सर्वथा स्पष्ट है। उसने यह माना है कि निश्चित मानव-प्रभु समस्त कानूनों का स्रोत है और इस कारण उस पर किसी उच्च कानून द्वारा कोई मर्यादा नहीं लगाई जासकती। राज्य में प्रभुत्व सम्पन्न अधिकारियों की कोई एक सीढ़ीनुमा शृंखला नहीं हो सकती। कानूनी दृष्टि से यह सिद्धान्त मानना ही पड़ेगा कि प्रभु कानूनी रूप से अनियंत्रित है। यह मानना कि प्रभु पर भीतरी या बाहरी किसी बड़ा सत्ता का नियन्त्रण है, स्वयं प्रभुत्व का निषेध होगा। यह सर्वथा विरोधोक्ति होगी।

अनेक व्यक्ति इस असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वे ऐसी अनेक बातें हमारे सामने पेश करते हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि राज्य की असीम सत्ता जैसी कोई चीज नहीं है। प्रभुत्व भीतर से व्यक्तियों तथा समूहों के अधिकारों, दैवी कानूनों की मर्यादाओं, न्याय की भावना, धार्मिक विधि-निषेध आदि तथा परम्परा से स्थापित लोकाचार एवं देशाचार से सीमित है। संसार में आज तक ऐसा कोई भी स्वेच्छाचारी शासक नहीं हुआ और न कभी हो सकता है जो सर्वथा अनियन्त्रित सत्ता का उपभोग करता हो। तुर्की के सुल्तान और रूस के ज़ार भी अपने-अपने देश के लोकाचार के विपरीत नहीं चल सके। जो राज्य नैतिक विचारों की उपेक्षा करता है और नागरिकों के धार्मिक व्यापारों में हस्तक्षेप करता है उसका नाश हो जाता है। प्रत्येक काल में तथा प्रत्येक स्थान में राज्य की सत्ता उसके आदेशों की अवज्ञा की सम्भावना के कारण सीमित रही है। भारत में ब्रिटिश पार्लामेण्ट की सत्ताएँ कानूनी दृष्टि से असीमित थीं किन्तु वह भारतीय जनता की इच्छा के विरुद्ध भारत पर कोई संविधान नहीं लाद सकी। इस विचार से कई लेखक प्रभुत्व को 'सीमित' करना पसन्द करते हैं।

एक अर्थ में राज्य का प्रभुत्व सीमित कहा जा सकता है; जिन प्रतिबन्धों की चर्चा ऊपर की गई है वे वास्तविक हैं। स्वेच्छाचारी से स्वेच्छाचारी शासक भी अपनी प्रजा की माँगों को अधिक समय तक नहीं टुकरा सकता। प्रत्येक सभ्य राज्य को सदाचार तथा न्याय के सिद्धान्तों को मान्यता देनी पड़ती है और उनका आदर करना पड़ता है। मनुष्य के प्राकृतिक तथा जन्मसिद्ध स्वत्वों के कारण भी प्रभुत्व पर जो प्रतिबन्ध उत्पन्न होते हैं, वे भी वास्तविक हैं। किन्तु इन समस्त प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि वे कानूनी नहीं हैं। वे उसी सीमा तक

राज्य के लिए बन्धनकारी हैं, जिस सीमा तक वह उन्हें स्वीकार करता है। वे राज्य द्वारा स्वयं आरोपित हैं। जो प्रतिबन्ध किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं अपने ऊपर लगाया जाय, वह वास्तव में प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब वह चाहे तब उसे हटा सकता है। और राज्य के अतिरिक्त ऐसा कौन है, जो इस बात का निर्णय कर सके कि राज्य ने इन नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन किया है या नहीं। अतः हम गार्नर के इस कथन से सहमत हैं कि कानूनी दृष्टि से ये मर्यादाएँ वास्तव में राज्य-प्रभुत्व की मर्यादाएँ नहीं हैं। "प्रकृति के नियम, सदाचार के सिद्धान्त, ईश्वरीय नियम, मानवता तथा विवेक बुद्धि के आदेश, लोकमत का भय तथा प्रभुत्व पर अन्य तथा-कथित प्रतिबन्धों का कोई भी कानूनी प्रभाव नहीं है। यह प्रभाव केवल उसी समय और उसी सीमा तक है जहाँ तक राज्य उन्हें स्वीकार कर लेता है और उन्हें अमल में लाता है।" अतः हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि राज्य प्रभुत्व पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं है। गार्नर ने लिखा है कि—"जब तक हम उस सत्ता तक नहीं पहुँच जाते जो कानूनी रूप से असीमित है, तब तक हमें प्रभुत्व का साक्षात्कार नहीं होता।" ऑस्टिन ने कहा है कि कानून द्वारा सीमित सर्वोच्च सत्ता विरोधोक्ति है।

ऐसे भी विद्वान हैं जो असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त का खण्डन अपने इन मन्तव्यों के आधार पर करते हैं कि यह नागरिकों की स्वतन्त्रता के प्रतिकूल है; इससे राज्य स्वेच्छाचारी बन जायगा; आज की स्थिति में राज्य की सत्ताओं को मान्यता देने की अपेक्षा नागरिक स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देने की आवश्यकता है। यह आक्षेप दोहरी भ्रान्ति के कारण किया जाता है। सर्वप्रथम, यह सिद्धान्त तार्किक रूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि यह राज्य का कानूनी अधिकार है कि वह अपने अधीन प्रजा के समस्त व्यापारों पर नियन्त्रण रखे। इससे राज्य का ऐसा करने का नैतिक अधिकार समाविष्ट नहीं है। समस्त राज्य में राज्य की नैतिक अधिकार-सीमा से परे व्यक्तिगत जीवन का क्षेत्र स्वीकृत है। दूसरे यह समझना भी कठिन है कि राज्य का प्रभुत्व नागरिकों की स्वतन्त्रता के कैसे प्रतिकूल है। जैसा कि आगे दिखलाया जायगा, राज्य का प्रभुत्व नागरिकों की स्वतन्त्रता का विरोधी न होकर उसकी सर्वथा अनिवार्य शर्त है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को जो चीज संकट में डालती है वह शासन की अनियन्त्रित सत्ता है—राज्य की सत्ता नहीं। यह सिद्धान्त राज्य के प्रभुत्व का प्रतिपादन करता है, शासन के प्रभुत्व का नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भावात्मक दृष्टि से प्रभुत्व असीमित है। इसके विरुद्ध जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं, वे भ्रान्तिजन्य हैं। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि क़ानून-निर्माण के क्षेत्र में जिसमें प्रभुत्व के सिद्धान्त को विशेष रूप से लागू किया जाता है, यह बात केवल सैद्धान्तिक रूप से ही सत्य है। क़ानून-निर्माण करने वाली संस्थाओं की व्यवस्था में ऐसी सत्ता अवश्य होनी चाहिये जिसके ऊपर कोई उच्च सत्ता नहीं हो और जिसकी क्षमता इस प्रकार आवश्यक रूप से असीमित हो। किन्तु व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्रों में असीमित प्रभुत्व का विचार अवास्तविक है। बहुत सी बातें ऐसी हैं जिन्हें करने की क़ानूनी दृष्टि से राज्य को क्षमता है परन्तु जिन्हें वह वास्तव में कर नहीं सकता।

(२) एकता अथवा अविभाज्यता—

प्रभुत्व की एकता से प्रयोजन यह है कि उसको हम खण्डों में विभाजित नहीं कर सकते। वह सदैव अविभाज्य ही रहता है। प्रभुत्व का सार इच्छा की सर्वोच्चता में है और राज्य के भीतर केवल एक ही सर्वोच्च इच्छा हो सकती है। यदि एक ही राज्य में दो अधिकारियों द्वारा प्रभुत्व-सत्ता का प्रयोग किया जाता है, तो वह एक राज्य नहीं, दो राज्य हैं। एक लेखक केल्हाउन ने जोरदार शब्दों में कहा है कि—"प्रभुत्व समूची चीज है; उसे विभाजित करना उसका नाश कर देना है। वह राज्य में सर्वोच्च सत्ता है। अर्ध-प्रभुत्व की बात करना वैसा ही है जैसा आधे वर्ग अथवा आधे त्रिभुज की बात करना।"[१]

प्रभुत्व की अविभाज्यता उसकी असीमता का अनिवार्य परिणाम है। विभाजित प्रभुत्व उसी प्रकार विरोधोक्ति है जिस प्रकार क़ानूनी से मर्यादित प्रभुत्व। जो लेखक राज्य की असीमता का विरोध करते हैं, वे उसकी एकता का भी निषेध करते हैं। वे विभाजित प्रभुत्व की बातें करते हैं। इस प्रकार लॉवेल ने लिखा है कि एक ही राज्य में दो प्रभुत्वसम्पन्न अधिकारी एक ही प्रजा को आदेश दे सकते हैं किन्तु भिन्न मामलों में। लॉर्ड का भी विचार है कि दो समकक्ष अधिकारियों के बीच प्रभुत्व का विभाजन हो सकता है। ऐसा संघ-राज्य में होता है। सङ्घ-शासन सङ्घीय विषयों के सम्बन्ध में प्रभुत्व-सत्ताओं का प्रयोग करता है और स्थानीय या राज्यों के शासन राज्य के मामलों में प्रभुत्व-सत्ताओं का प्रयोग करते हैं। किन्तु इन मामलों में जिस सत्ता का विभाजन किया गया है, वह राज्य-प्रभुत्व नहीं, शासन सम्बन्धी सत्ता है। एक ही प्रभुत्व-सत्ता अनेक रूपों में प्रकट

होती है। संघ राज्य में जनता की सर्वोच्च इच्छा संघीय विषयों के सम्बन्ध में संघ-शासन के द्वारा अभिव्यक्त होती है और राज्यों के विषय-के सम्बन्ध में राज्यों के शासन द्वारा। प्रभुत्व इच्छा की सर्वोच्चता है, अतः उसका विभाजन नहीं हो सकता क्योंकि इच्छा का विभाजन नहीं हो सकता। बहुवादी लेखक प्रभुत्व को राज्य तथा अन्य समुदायों के बीच विभाजित करते हैं। इस विचार का समर्थन नहीं हो सकता। समुदाय राज्य के समकक्ष नहीं हो सकते, वे राज्य के आधीन ही रहते हैं, चाहे उनके स्वायत्त शासन का क्षेत्र कितना ही विस्तृत हो। बहुवाद को पूर्णतः अमल में लाने में राज्य का ही अन्त हो जायगा।

(३) अनन्यता—इसका अर्थ यह है कि राज्य में एक ही प्रभुसत्ता हो सकती है।

(४) सार्वभौमता—प्रभुत्व की वह विशेषता जिसके कारण राज्य के भीतर सभी व्यक्ति एवं संस्थाएँ उसकी अधीनता में रहती हैं, सार्वभौमता कहलाती है। कोई भी व्यक्ति या संस्था उसके नियन्त्रण से मुक्ति पाने का अधिकार नहीं रखती। किन्तु इसके कुछ अपवाद भी हैं। वैदेशिक राजदूत तथा व्यापारिक प्रतिनिधि, किसी राज्य के भीतर से निकलती हुई विदेशी सेनाएँ, विदेशी राजा जो अस्थायी रूप से उस राज्य में रह रहे हों, अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार के अनुसार उस राज्य की प्रभुत्व सत्ता के नियन्त्रण से मुक्त होते हैं। कभी-कभी एक निर्बल राज्य अपनी सीमा के अन्दर रहनेवाले किसी सबल राष्ट्र के नागरिकों को ऐसा अधिकार दे देता है जिसके द्वारा वे अपने ही राज्य के कानूनों से बाध्य होते हैं। ऐसी अवस्था में निर्बल राज्य की प्रभुता का उल्लंघन होता है। पिछले कुछ वर्षों तक ऐसी स्थिति देखी जाती थी परन्तु अब प्रायः नहीं रही।

(५) स्थायित्व—राज्य के स्थायित्व के सम्बन्ध में हम काफी प्रकाश डाल चुके हैं। अतः प्रभुत्व के स्थायित्व के सम्बन्ध में अधिक प्रकाश डालना आवश्यक नहीं है। इस गुण के कारण जब तक राज्य कायम रहता है तब तक उसका प्रभुत्व भी निरन्तर कायम रहता है। किसी प्रभुत्व सत्ताधारी की मृत्यु के कारण प्रभुत्व का अन्त नहीं हो जाता। वह तुरन्त ही नवीन उत्तराधिकारी को प्राप्त हो जाता है। निम्नलिखित वाक्य का यही वास्तविक महत्त्व है: 'राजा का स्वर्गवास हो गया; राजा चिरायु हों!' (The King is dead; long live the King)।

(६) अविच्छेद्यता—प्रभुत्व की अविच्छेद्यता (Inalienability) का अर्थ यह है कि राज्य अपनी प्रभुता का त्याग अपना विनाश किये बिना नहीं कर सकता। प्रभुत्व राज्य का प्राण है। उसका त्याग करना आत्महत्या करना है। प्रभुत्व दिया जा सकता है या नहीं यह प्रश्न पहले बड़ा महत्वपूर्ण था। अब इसका कोई महत्व नहीं रहा।

इस बात को सदा ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रभुत्व के उपर्युक्त लक्षण कानूनी अथवा वैध प्रभुत्व के ही हैं। प्रभुत्व की कानूनी भावना उसकी अनेक भावनाओं में से केवल एक है। अब हम उन अन्य भावनाओं पर विचार करेंगे।

प्रभुत्व के विभिन्न अर्थ—

यह वास्तव में चिन्तनीय बात है कि राज्य का एक मुख्य तत्व होते हुए भी प्रभुत्व शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं।

नाममात्र का प्रभुत्व (Nominal Sovereignty)—प्रभुत्व के विविध अर्थों का स्पष्टीकरण उस समय अच्छी प्रकार हो जायगा, जबकि हम किसी वास्तविक राज्य के सम्बन्ध में विचार करें। ब्रिटेन का ही प्रश्न लें। वहाँ कौन प्रभु है ? साधारण व्यक्ति उत्तर देगा कि राजा ही प्रभु है। राजकीय भाषा में भी इंगलैंड के राजा को प्रभु (Sovereign) कहा जाता है। जब अतीतकाल में इंगलैंड के राजा को वास्तविक सत्ता प्राप्त थी तभी से ऐसा प्रयोग होने लगा। आज इङ्गलैंड के राजा को वास्तविक सत्ता प्राप्त नहीं है, उसकी सत्ता नाममात्र की है। वह राज्य का नाममात्र का प्रभु है। उसकी वास्तविक सत्ता अन्यत्र है। एक पद के रूप में ही राजा को प्रभु कहा जाता है। इस प्रकार का प्रभुत्व नाममात्र का प्रभुत्व है।

क़ानूनी प्रभुत्व (Legal Sovereignty)—जो सब व्यक्तियों पर लागू होने वाले क़ानून बनाने की सर्वोच्च सत्ता को प्रभुत्व का मुख्य लक्षण मानते हैं वे तुरन्त ही कहेंगे कि पार्लामेण्ट अथवा राजा सहित पार्लामेण्ट ही प्रभु है। इस प्रकार का प्रभु कानूनी प्रभु है और इस प्रकार के प्रभुत्व को क़ानूनी प्रभुत्व कहते हैं। यह राज्य-प्रभुत्व की एक वकील की कल्पना है। वह राज्य में प्रभु और सर्वोच्च नियामक में एकरूपता मानता है। इसके द्वारा जिस क़ानून की घोषणा की जाती है वही राज्य का कानून होता है और सब नागरिकों पर बन्धनकारी होता है। न्यायालय उसी कानून पर अमल करते हैं जिसका कानूनी प्रभु निर्माण करता है। उसकी

कानून बनाने की सत्ता पर कोई मर्यादा नहीं होती। कानूनी दृष्टि से ब्रिटिश पार्लामेण्ट सर्वशक्तिशाली है। जैसा डायसी का कथन है, 'वह एक *बालक को पूर्ण वयस्क घोषित कर सकती है, वह मृत्यु के बाद किसी भी* व्यक्ति को राजद्रोही सिद्ध कर सकती है, वह दोगली सन्तान को औरस सन्तान बना सकती है और यदि वह उचित समझे तो किसी व्यक्ति को अपने ही मामले में न्यायाधीश बना सकती है।' ऐसे कोई भी नागरिक अधिकार नहीं है जिन्हें वह रद्द न कर सके।

कानूनी प्रभु सदैव निश्चित और स्पष्ट होता है। वह एक शासक, (जैसे एकतन्त्र राज्य में) या एक परिषद् (जैसे प्रजातन्त्र में) हो सकता है। परिषद् बड़ी हो या छोटी, किसी भी समय उसमें एक निश्चित संख्या में सदस्य होते हैं। इस प्रकार कानूनी प्रभु एक निर्दिष्ट मानवी सत्ता होता है। वह निश्चित रूप से संगठित और कानून द्वारा स्वीकृत होता है। वही कानूनी भाषा में राष्ट्र की इच्छा को घोषित कर सकता है। सब अधिकार उसी से प्राप्त होते हैं। किसी भी व्यक्ति को उसके विरुद्ध अधिकार नहीं होता। कानूनी प्रभु सर्वोच्च और निरपेक्ष होता है।

राजनीतिक प्रभुत्व (Political Sovereignty)—एक अर्थ में इङ्गलैंड में ब्रिटिश पार्लामेण्ट सर्वोच्च नहीं है यद्यपि इङ्गलैंड में ऐसी कोई सत्ता या अधिकारी नहीं है जो पार्लामेण्ट के निर्णय को रद्द कर सके या जिसके मत या निर्णय को उसे मानना पड़े; किन्तु उसके पीछे एक सत्ता है जिसके आदेश का उसे पालन करना पड़ेगा और अन्त में जिसकी इच्छा ब्रिटिश राज्य में प्रधान होती है। वह निर्वाचकमण्डल अथवा लोकमत का बल या जनता की शक्ति है। इसलिये यदि हमें सत्ता के अन्तिम आश्रय की खोज करनी है, तो हमें कानूनी प्रभुत्व तक पहुँचकर ही नहीं ठहर जाना चाहिये। हमें अपना विश्लेषण आगे बढ़ाना चाहिये और प्रभुत्व की खोज करनी चाहिये जिसके सामने कानूनी प्रभु भी नतमस्तक होता है। उसे राजनीतिक प्रभु कहते हैं और उसकी सत्ता राजनीतिक प्रभुत्व कहलाती है।

कानूनी तथा राजनीतिक प्रभु में भेद तो स्पष्ट है किन्तु जब राजनीतिक प्रभु को मानना या एक निश्चित रूप देने का प्रयास किया जाता है तो बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। राजनीतिक प्रभु को लोकमत मानना *उचित नहीं है क्योंकि प्रजातान्त्रिक देश में निर्वाचित विधान मण्डल ही* लोकेच्छा का व्याख्याता माना जाता है। इसका अर्थ तो यह होगा कि जो वास्तव में कानूनी प्रभु है, वही राजनीतिक प्रभु भी है। इसके अति-

रिक्त लोकमत ऐसी वस्तु है जो स्थायी नहीं होती। वह सदा किसी न किसी बात से प्रभावित होती रहती है और बड़ी चञ्चल है। जनता को भी राजनीतिक प्रभु मानना उचित नहीं होगा क्योंकि वह भी धर्माधिकारियों, जमींदारों अथवा सैनिकवादियों के प्रभाव में हो सकती है। ऐसी अवस्था में जनता नहीं वरन् वे व्यक्ति ही राजनीतिक प्रभु बन जायेंगे। जब निर्वाचक-मण्डल को राजनीतिक प्रभु मान लेते हैं तब भी ऐसी ही कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। जहाँ मतदान जनता के एक भाग तक ही सीमित होता है, वहाँ मत न देनेवाला विशाल जन-समुदाय भी मतदाताओं पर अपना प्रभाव डालता है। इस प्रकार का कठिनाइयों के कारण ही कुछ लेखक राजनीतिक प्रभुता की कल्पना को व्यर्थ मानते हैं। इस प्रकार लीकॉक का कथन है कि राजनीतिक प्रभुत्व के लिये "जितनी ही अधिक खोज की जाती है, उतना ही वह अधिक दूर देख पड़ता है।" यों देखने में तो राजनीतिक प्रभुत्व का विचार अत्यधिक विवेकपूर्ण और तार्किक प्रतीत होता है किन्तु इसकी अधिक परीक्षा करने पर यह एक राजनीतिक 'आदि कारण' बन जाता है; जिसका भौतिक विज्ञान की तरह राज्य विज्ञान के क्षेत्र में व्याख्या नहीं की जा सकती। ऑस्टिन की निश्चित कानूनी भावना के बाहर सर्वत्र भ्रान्ति ही भ्रान्ति देख पड़ती है। आधुनिक राज्य में जिन व्यक्तियों को क़ानून निर्माण करने की असीमित सत्ता होती है, वे निर्दिष्ट और स्पष्ट होते हैं किन्तु जिस व्यक्ति या व्यक्ति-मण्डल में वास्तविक सत्ता होती है वह विश्लेषण करने पर अव्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार गेटेल का कथन है कि क़ानूनी प्रभु के पीछे राजनीतिक प्रभु की खोज के लिये प्रयास करने में प्रभुत्व की भावना नष्ट हो जाती है और प्रभुत्व केवल अनेक प्रभावों का ढेर रह जाता है। चूँकि राजनीतिक प्रभु असंगठित, अनिश्चित और क़ानून के लिए अपरिचित होता है और राज्य की इच्छा को क़ानूनी भाषा में प्रकट करने की क्षमता उसमें नहीं होती इसलिये उसकी कल्पना राज्य-विज्ञान के लिये अधिक उपयोगी नहीं होती। उसकी केवल एक ही उपयोगिता है कि वह लौकिक प्रभुत्व (Popular Sovereignty) के लिये मार्ग तैयार करती है जो आधुनिक प्रजातन्त्र की आधार-शिला है।

लोक-प्रभुत्व—

स्वेच्छाचारी एकतन्त्र या अल्पजनतन्त्र में, अनिश्चित होते हुए भी, राजनीतिक प्रभु का अस्तित्व हो सकता है और वह कानूनी प्रभु पर

अपना प्रभाव भी डाल सकता है। परन्तु प्रजातन्त्र में उसमें विस्तृत होने की प्रवृत्ति होती है और वह सामूहिक रूप में जनता के साथ अभिन्न हो जाता है। जो सिद्धान्त अन्तिम राज सत्ता को जनता में मानता है, उसे लोक प्रभुत्व का सिद्धान्त कहते हैं। यह सिद्धान्त योरोप के इतिहास में समय समय पर प्रकट हुआ और मिटा है। रोम के राजनीतिक विचार में एक मत था कि सीजर ने अपना पद तथा सत्ता अन्तिम रूप में रोम की जनता से प्राप्त की। परवर्ती मध्य युग में पादुआ के मारसीलियो तथा ओकम के विलियम ने इस पर जोर दिया। अठारहवीं शताब्दी में रूसो ने बड़े जोर के साथ इसका प्रतिपादन किया और तभी से यह प्रजातन्त्र का एक आधारभूत एवं मौलिक सिद्धान्त बन गया है। समस्त प्रजातन्त्रीय देशों में यह साधारणतया माना जाता है कि जनता ही राजनीतिक सत्ता की अन्तिम संरक्षिका है।

लोक प्रभुत्व का सिद्धान्त बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है किन्तु जब इसे हम निश्चित रूप देने का प्रयत्न करते हैं तो गम्भीर कठिनाइयाँ सामने आती हैं। राज्य का अन्तिम प्रभु 'जनता' कौन है, इसका निश्चय करना सरल नहीं है और वह किस भाव में प्रभु है, इसकी व्याख्या करना और भी कठिन है। क्या समस्त असंगठित जनता जिसमें स्त्रियाँ तथा बालक भी सम्मिलित हैं, प्रभु है? इसका उत्तर है—'नहीं'। असंगठित जनता कभी एक प्रभु के रूप में कार्य नहीं कर सकती। यदि हम 'जनता' से तात्पर्य मतदाताओं से लें, तो भी यह स्पष्ट है कि वे भी प्रभु नहीं हो सकते, जब तक कि वे कानून द्वारा स्वीकृत माध्यम से अर्थात् अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा कार्य न करें। मतदाताओं द्वारा अनियमित ढंग से दिया गया निर्णय उसी प्रकार कानून नहीं माना जा सकता जैसे विधान मण्डल के सदस्यों द्वारा स्वीकृत किया गया गैर सरकारी प्रस्ताव। यदि हम तर्क के लिये यह मान भी लें कि किसी अनिश्चित भाव में निर्वाचक प्रभु हैं, तो भी उनकी ओर से प्रभुत्व-सत्ता का प्रयोग निरन्तर नहीं हो सकता, वे प्रत्येक प्रश्न पर अपना निर्णय नहीं दे सकते। प्रभुत्व तो सदैव प्रयोग किये जाने की वस्तु है किन्तु निर्वाचक तो समय समय पर ही कार्य करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्रवादी राज्य में इस शब्द के किसी भी प्रचलित अर्थ में निर्वाचकों को प्रभु नहीं माना जा सकता। केवल उन्हीं राज्यों में जहाँ विधान मण्डल द्वारा स्वीकृत कानूनों पर जनता का मत अनिवार्य रूप से प्राप्त किया जाता है अथवा जनता को कानून

बनाने का प्रारम्भिक अधिकार (Initiative) है या जहाँ सामान्य इच्छा को व्यक्त करने के लिये जनता एकत्रित होती है, लोक-प्रभुत्व की भावना की उपलब्धि होती है।

किन्तु अप्रत्यक्ष जनतन्त्रवाले बड़े राज्यों में भी लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्तों को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि इसमें सत्यता नहीं होती तो इसे प्रजातन्त्र का आधार नहीं मान लिया जाता। इसका अर्थ यह मानना चाहिये कि राजनीतिक सत्ता का एकमात्र सच्चा स्रोत जनता है और समस्त सत्ता का उद्‌गम जनता से ही होता है। वह (जनता) प्रभुत्व-सत्ता का प्रयोग स्वयं नहीं करती वरन् ऐसी सत्ता का प्रयोग समाज में जिस संस्था द्वारा होगा वह जनता की सद्भावना और उसकी अनुमति पर आधारित होगी। जनता विधान मण्डल के कार्य में तथा नीति-निर्माण के कार्य में भाग चाहे न ले किन्तु उसे समस्त वैध सत्ता का स्रोत मानना चाहिये। इस अर्थ में यह सिद्धान्त ग्राह्य है और अपरिहार्य भी है। डा० आशीर्वादम् ने इस सिद्धान्त के निम्नलिखित परिणाम बतलाये हैं —

(क) शासन का अस्तित्व स्वयं अपने हित के लिये नहीं, जनता के हित के लिये है।

(ख) यदि जनता की इच्छा की जानबूझ कर उपेक्षा की जाय, तो क्रान्ति की सम्भावना रहती है।

(ग) लोकमत को कानूनी रूप में अभिव्यक्ति के लिये सरल साधन प्रस्तुत करने चाहिये।

(घ) शासन को निम्नलिखित साधनों द्वारा जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी बनाना चाहिये जैसे समय-समय पर निर्वाचन, स्थानीय स्वराज्य, जनमत संग्रह, जनता द्वारा कानून का प्रारम्भिक निर्माण तथा प्रतिनिधियों का वापस बुलाना (Recall) आदि।

(ङ) शासन को अपनी सत्ता का प्रयोग देश के कानून के अनुसार ही करना चाहिये; स्वेच्छाचारी ढंग से नहीं।

राष्ट्रीय प्रभुत्व—

फैसिज्म ने राज्य का एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। वह लोक-प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करता और उसके स्थान पर राष्ट्र (Nation) के प्रभुत्व का प्रतिपादन करता है। इस सिद्धान्त का यह अभिप्राय है कि राष्ट्र केवल व्यक्तियों के समूहमात्र से कुछ अधिक है; वह एक रहस्यमय एकता है जिसमें अतीत, वर्तमान तथा भावी सन्तति का भी समावेश रहता है।

उसकी व्यक्तियों की इच्छाओं से भिन्न अपनी इच्छा होती है। यह इच्छा प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त द्वारा मानी हुई लोक-इच्छा या सामान्य इच्छा से भी भिन्न होती है। राज्य के रूप में संगठित राष्ट्र ही प्रभु है। राष्ट्र के हित तथा व्यक्तियों के हितों में जब संघर्ष या विरोध हो तो राष्ट्र का हित ही सर्वोपरि होना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति राज्य की पूर्ण अधीनता में रहते हैं। यह सिद्धान्त लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्त से, जिसमें व्यक्ति के मूल्य का इतना महत्व है और जो प्रजातन्त्र का मुख्य आधार है, सर्वथा विपरीत है।

कानूनी एवं वास्तविक प्रभुत्व—

कुछ लेखकों ने भौतिक बल पर आधारित प्रभुत्व और कानूनी अधिकार पर आधारित प्रभुत्व में भेद माना है। पहले को वास्तविक प्रभुत्व (De Facto Sovereignty) और दूसरे को वैध प्रभुत्व (De Jure Sovereignty) कहते हैं। यह भेद क्रान्ति काल में स्पष्ट देखा जा सकता है। जब कोई विजेता या अपहरणकर्ता पुराने शासक को बलपूर्वक राजसिंहासन से उतार कर स्वयं अपनी शक्ति के सहारे शासन करने लगता है तब उसे वास्तविक प्रभु माना जाता है। हिटलर जर्मनी के सैनिक राज्यपालों के द्वारा शासन करते सन् १९४० ई० से १९४५ ई० तक हॉलैंड तथा नार्वे का वास्तविक प्रभु रहा। काबुल से अमानुल्ला के पलायन के बाद बचा सक्का अफगानिस्तान का वास्तविक प्रभु था। जो प्रभु अपनी सत्ता को संविधान या कानून पर आधारित करता है और जनता की अनुमति से शासन करता है, वह वैध प्रभु कहलाता है। सामान्य प्रवृत्ति यह है कि धीरे धीरे दोनों एक हो जाते हैं। जो वास्तविक प्रभु होता है वह वैध प्रभु बन जाता है जब कि उसके द्वारा निर्मित संविधान या कानून को जनता स्वीकार कर लेती है। अबीसीनिया पर इटली के राजा का प्रभुत्व आरम्भ में वास्तविक था किन्तु जब संसार के अन्य राज्यों ने विजय स्वीकार कर ली, तब वह वैध प्रभुत्व हो गया।

ऑस्टिन इस भेद को अस्वीकार करता है। उसके अनुसार प्रभु सदैव वैध होता है क्योंकि प्रभु की इच्छा ही कानून है। यह भेद शासकों के सम्बन्ध में लागू हो सकता है जो वास्तविक और वैध हो सकते हैं। इस प्रकार का भेद करना गलत नहीं है परन्तु इसका कोई महत्व नहीं है।

ऑस्टिन का प्रभुत्व-सिद्धान्त—

प्रभुत्व के जिन रूपों का हमने विवेचन किया है उनमें से राज्य-विज्ञान की दृष्टि से क़ानून तथा लोक-प्रभुत्व ही सबसे अधिक महत्व के हैं। आधुनिक समय में पहले इस सिद्धान्त का विवेचन अनेक विचारकों ने किया है जिनमें बोदाँ, हॉब्स तथा बेन्थम के नाम प्रसिद्ध हैं। इसका सर्वोत्तम विवेचन उन्नीसवीं शताब्दी के अँग्रेज विद्वान जान ऑस्टिन ने किया है। उसने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि "यदि एक निर्दिष्ट श्रेष्ठ मानव, जो इसी प्रकार के किसी अन्य श्रेष्ठ मानव के आदेशों का पालन करने का अभ्यस्त न हो, किसी समाज के अधिकांश भाग को आदेश देता है और वह अभ्यस्त रूप से उसका पालन करता है, तो उस समाज में वह निश्चित मानव प्रभु होता है और वह समाज (उस श्रेष्ठ व्यक्ति सहित) राजनीतिक तथा स्वतन्त्र समाज होता है।" प्रभुत्व की यह परिभाषा उसकी क़ानून की उस परिभाषा पर आधारित है जिसमें उच्चतम व्यक्ति द्वारा निम्न व्यक्ति को दिये गये आदेश को क़ानून माना गया है। ऑस्टिन ने आगे यह भी लिखा है प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति या संस्था द्वारा स्वतन्त्र राजनीतिक समाज के व्यक्तियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से जो कुछ भी आदेश दिया जाय उसके अतिरिक्त क़ानून और कुछ नहीं है।

इसे ठीक-ठीक समझने के लिये इस कथन का विश्लेषण निम्न प्रकार किया जा सकता है। (१) प्रभुत्व सत्ता प्रत्येक राजनीतिक समाज के लिये आवश्यक है क्योंकि उसके बिना कोई क़ानून नहीं हो सकता और कानून के अभाव में कोई राजनीतिक समाज नहीं हो सकता। (२) वह प्रभु सदैव निश्चित होता है चाहे वह एक व्यक्ति हो या संस्था। इसके द्वारा प्रभुत्व के अस्तित्व को अनिश्चित जन-समाज में या अव्यक्त सामान्य इच्छा में मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है। (३) इस निश्चित श्रेष्ठतम मानव के आदेश का समाज का अधिकांश अभ्यस्त रूप से पालन करता है। इस प्रकार प्रभुत्व का जनता द्वारा आदेश-पालन से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जिस समाज का बहुमत प्रभु के आदेश का पालन करने का अभ्यासी नहीं होता उसमें वह स्थगित हो जाता है। (४) मानव प्रभु को समस्त नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिये। उसे समाज के अन्दर या बाहर किसी अन्य मानव से आदेश प्राप्त करने का अभ्यास नहीं होना

चाहिये। उसके ऊपर और कोई नहीं होता, वह सर्वोच्च होता है। प्रभुत्व असीमित और निरपेक्ष होता है। (५) क़ानून प्रभु का आदेश होता है। प्रभु की जो इच्छा होती है, उसी का नाम क़ानून है। समाज के लिये स्वतन्त्र रूप से कानून बनाने की सत्ता प्रभुत्व का मुख्य लक्षण है। चूँकि क़ानून प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति है इस कारण कोई भी क़ानून उसके लिये बन्धनकारी नहीं होता। प्रभुत्व कानूनी दृष्टि से असीमित है। यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि ऑस्टिन ने यह कदापि नहीं माना कि प्रभु की सत्ता पर कोई भौतिक, नैतिक, बौद्धिक या सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं है। उसने केवल राज्य के क़ानूनी निरपेक्ष प्रभुत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना—

उपर्युक्त सिद्धान्त की प्रत्येक बात की तीव्र आलोचना की गई है किन्तु उन सबमें कुछ सत्यांश अवश्य है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे पहली आपत्ति यह की जाती है कि यह पूर्वी साम्राज्यों पर और आधुनिक राज्यों पर भी लागू नहीं किया जा सकता। ऑस्टिन ने जिस प्रकार के प्रभु (Sovereign) का प्रतिपादन किया है, उसका अस्तित्व हम कहीं भी नहीं पाते; यहाँ तक कि टर्की के सुलतान, रूस के ज़ार और भारत के मुगल सम्राटों को भी हम इस रूप में नहीं देखते। सर हेनरी मेन ने अपने महान् ऐतिहासिक ज्ञान के बल पर यह आग्रहपूर्वक बतलाया है कि पूर्वी समाजों में स्वेच्छाचारी राजाओं की इच्छा ही सर्वोपरि नहीं थी। उनके आदेश ऐसे नहीं थे जिनको ऑस्टिन क़ानून कह सकता। जो नियम प्रजा के जीवन का नियमन करते थे उनका स्रोत अतीत काल से प्रचलित लोकाचार, भावनाओं, विश्वासों और अंधविश्वासों में था। अधिकांश मामलों में उनका अमल घरेलू न्यायालयों द्वारा होता था, राजाओं द्वारा नहीं। यह विचार कि क़ानून राजा द्वारा निर्धारित किया जाता है, आधुनिक है; प्राचीन समाजों में इसका अस्तित्व नहीं था। इस प्रकार ऑस्टिन का सिद्धान्त प्राचीन समाजों पर लागू नहीं होता। आधुनिक राज्यों में भी यह सिद्धान्त उसी समय लागू हो सकेगा जब कि हम समाज तथा शासन के सभी लक्षणों को एक ओर उठाकर रख दें और केवल बल को ही रहने दें। इस आपत्ति का अर्थ यही है कि यह सिद्धान्त समाज में तथा क़ानून के पीछे काम करनेवाले प्रभावों तथा शक्तियों की उपेक्षा करता है। इस प्रकार यह अपनी प्रकृति में केवल औपचारिक (Formal)

तथा अव्यावहारिक एवं भावात्मक (Abstract) है। जैसा कि सर जेम्स स्टोफन ने संकेत किया है, "यह सिद्धान्त केवल भावात्मक रूप में ही सत्य है क्योंकि प्रकृति में एक पूर्ण वृत्त नाम की कोई चीज नहीं है और न पूर्णतः कठोर पदार्थ; या जिस प्रकार कोई ऐसी यांत्रिक प्रणाली नहीं है जिसमें कोई संघर्ष न हो अथवा ऐसी कोई सामाजिक स्थिति नहीं है जिसमें मनुष्य केवल अपने लाभ के लिये ही काम करता हो, उसी प्रकार प्रकृति में भी कोई पूर्ण निरपेक्ष प्रभु (Absolute Sovereign) नहीं है।"* जिस प्रकार वास्तविक वृत्त ज्यामिति-विज्ञ द्वारा निर्दिष्ट समस्त सत्यों को पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर सकता उसी प्रकार किसी वास्तविक समाज में ऑस्टिन के प्रभु का भी अस्तित्व सम्भव नहीं है। परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि राज्य और उसके प्रभुत्व की क़ानूनी प्रकृति की कल्पना के रूप में यह सिद्धान्त बिलकुल ही अग्राह्य है। ऑस्टिन ने राज्य में प्रभु द्वारा प्रयुक्त सत्ताओं की व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं किया। वह तो केवल प्रभुत्व की कल्पना का अर्थ समझने के लिये उसका विश्लेषण कर रहा था। इस आपत्ति के मूल्यांकन के लिये हमें राज्य की वास्तविक क्षमता और क़ानूनी कल्पना के रूप में प्रभुत्व के बीच भेद करना चाहिये।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि वह राज्य में सच्चे प्रभुत्व-सत्ता के विश्लेषण एवं खोज का कार्य पूर्णता के साथ नहीं करता। वह केवल क़ानूनी प्रभु का ही विचार करके रुक जाता है और राजनीतिक प्रभु के सम्बन्ध में मौन रहता है जिसके सामने वास्तव में उसे झुकना पड़ता है। वह आधुनिक राज्य में लोकमत के प्रभाव की उपेक्षा करता है। इस प्रकार वह अपर्याप्त है। राजनीतिक प्रभुत्व के सम्बन्ध में विचार करने की कठिनाइयों का पिछले पृष्ठों में उल्लेख हो चुका है; अतः उसके सम्बन्ध में यहाँ अधिक विवेचन अनावश्यक होगा।

इसके विरुद्ध तीसरा आक्षेप यह है कि निश्चित श्रेष्ठतम मानव की कल्पना प्रभुत्व की दार्शनिक कल्पना के विपरीत है जिसके अनुसार प्रभुत्व सामान्य इच्छा में है। सामान्य इच्छा की व्याख्या करना कठिन भले ही हो परन्तु उसे केवल कपोल-कल्पना समझना ग़लत होगा। प्रजातन्त्र में विश्वास उसी के आधार पर टिका हुआ है। जो प्रभुत्व-सिद्धान्त सामान्य इच्छा पर विचार नहीं करता, वह वास्तव में अपर्याप्त है। ग्रीन ने यह

*Quoted by Leacock: Elements of Political Science p. 57.

भली-भाँति प्रमाणित किया है कि ऑस्टिन के सिद्धान्त के निश्चित श्रेष्ठतम मानव के आदेशों का समाज का बहुमत इस कारण पालन करता है कि वह जन-साधारण की इच्छा का प्रतिनिधि माना जाता है। समाज जो जो चीज़ सङ्गठित रूप से रखती है वह प्रभुत्व सत्ता की शक्ति या बल नहीं वरन् सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना है जिसका दूसरा नाम सामान्य इच्छा है। ऑस्टिन का सिद्धान्त इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता कि समाज इच्छा पर आधारित है, बल पर नहीं। वह बल पर अनावश्यक ज़ोर देता है और इच्छा के तत्व की उपेक्षा करता है।

इस सिद्धान्त का एक दूसरा दोष यह है कि इसकी कानून की कल्पना अधूरी है। यह सत्य है कि कोई भी नियम कानून का रूप उस समय तक धारण नहीं कर सकता जब तक उसका निर्धारण कानूनी प्रभु द्वारा नहीं होता किन्तु यह भी सत्य है कि क़ानून का स्रोत विधान-मण्डल की इच्छा से भिन्न है। क़ानून का स्रोत लोकाचार, न्याय-भावना आदि है। कानून को केवल प्रभु का आदेश मानना बिलकुल गलत है। इस पर आगे विचार किया जायगा।

अन्त में, इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी आक्षेप किया जाता है कि इसने राज्य को पूर्ण स्वेच्छाचारी बना दिया है। आजकल अनेक लेखक यह मानते हैं कि राज्य का प्रभुत्व सीमित है। वे निरंकुश प्रभुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। इस पर विचार किया जा चुका है।

सब कुछ देखते हुए, क़ानूनी दृष्टि से ऑस्टिन का सिद्धान्त सही है। एक आधुनिक राज्य में जितने भी प्रभाव काम करते हैं उन सब पर हम विचार कर सकते हैं और इस सिद्धान्त से उनका सामञ्जस्य स्थापित कर सकते हैं परन्तु ऐसा करने से इस सिद्धान्त की यथार्थता और निश्चितता नष्ट हो जायगी। यदि हम इन गुणों को पसंद करते हैं तो हमें ऑस्टिन का सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ेगा।

प्रभुत्व का स्थान—

कुछ राज्यों में यह जान लेना सरल है कि निश्चित उच्चतम मानव कौन है जो समाज के बहुमत से अपने आदेशों का अभ्यस्त रूप से पालन कराता है और जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई ऐसा नहीं है जिसके आदेश को मानने का वह अभ्यासी हो। इङ्गलैंड जैसे देश में जहाँ वैधानिक कानून तथा साधारण क़ानून में कोई भेद नहीं है, राजा सहित पार्लामेंट ही क़ानूनी प्रभु है। उसकी क़ानून बनाने की सत्ता पर कोई प्रतिबंध नहीं है।

किन्तु अमेरिका के संयुक्त राज्य जैसे देश में, जहाँ विधान-मण्डल की क़ानून बनाने की सत्ता पर लिखे संविधान द्वारा प्रतिबंध लगे हुए हैं, जिन्हे विधान-मण्डल नहीं हटा सकता और जहाँ सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून को अवैधानिक घोषित कर सकता है, क़ानूनी प्रभुत्व के स्थान को खोजना बहुत ही कठिन है। कुछ विचारकों के अनुसार ऐसे राज्य में प्रभु ऐसी संस्था है जो संविधान में संशोधन कर सकती है। इस प्रकार के उत्तर में कठिनाई यह है कि संविधान परिषद् समय-समय पर ही काम करती है, निरंतर नहीं परंतु प्रभुत्व का प्रयोग अविराम रूप में होता है।

गेटेल प्रभुत्व को "शासन की समस्त कानून निर्माण करने वाली संस्थाओं की समष्टि में मानता है।" कानून बनाने वाली संस्थाओं में विधान-मण्डल, न्यायालय (क्योंकि वे कानून का निर्माण कानूनों की व्याख्या करके करते हैं), प्रशासनाधिकारी (जब कि वे अध्यादेश आदि जारी करते हैं) तथा निर्वाचक मण्डल (जब वह जनमत-संग्रह आदि का प्रयोग करता है), आदि सब आ जाते हैं। यह विचार राज्य तथा शासन में भेद नहीं करता। अनेक क़ानून बनाने वाली संस्थाएँ, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, शासन के अंग हैं, उनकी सत्ताएँ मौलिक नहीं हैं। यह मत संतोषजनक नहीं है।

क्या सामान्य इच्छा प्रभु है—

प्रभुत्व की दार्शनिक कल्पना के अनुसार सामान्य इच्छा (General Will) को ही प्रभु माना जाता है। यह सिद्धान्त कानूनी प्रभुत्व के सिद्धान्त के विरुद्ध है। यह सामान्य इच्छा की कल्पना आधुनिक राज्य-विज्ञान को रूसो की देन है। इस विचार की व्याख्या करना कठिन है। यह सर्वथा भावात्मक है जिसकी स्थिति दृश्य जगत में नहीं है। ग्रीन की व्याख्या के अनुसार सामान्य उद्देश्य वाली सामान्य चेतना को सामान्य इच्छा कह सकते हैं जिसके बिना समाज एक सामूहिक इकाई के रूप में क़ायम नहीं रह सकता। राज्य केवल व्यक्तियों के समूह का ही नाम नहीं है। वह उनकी नैतिक तथा सामूहिक एकता का नाम है। अब प्रश्न यह उठता है कि व्यक्तियों को नैतिक एकता के सूत्र से कौन बाँधता है ? ग्रीन का उत्तर है— प्रजा या जनता एकता के सूत्र मे सामान्य उद्देश्यो की सामान्य चेतना के कारण बँधी रहती है। सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना को सामान्य इच्छा कहा जा सकता है। यह सामान्य चेतना ही अधिकारो को जन्म देती है और उन्हें क़ायम रखने के लिये आवश्यक स्थितियाँ प्रस्तुत करती है।

इसलिये इसे प्रभु मानना उचित है। ऑस्टिन के निश्चित श्रेष्ठ मानव के आदेशों का पालन समाज का बहुमत इस कारण करता है कि जनता उसे सामान्य इच्छा की साकार प्रतिमा मानती है, वह यह अनुभव करती है कि उसके आदेश सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित हैं। जिस समय वह उच्चतम मानव सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करना त्याग देता है या जनता का विश्वास-भाजन नहीं रहता तो वह जनता की भक्ति का भी पात्र नहीं रहता। अतः अंतिम विश्लेषण में; सामान्य इच्छा या सामूहिक ढंग से सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कार्य करने वाले समाज से कम कोई वस्तु प्रभु नहीं है।

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा एकात्मक इच्छा है परन्तु वह एक व्यक्ति की इच्छा नहीं है। वह एकात्मक इच्छा इस अर्थ में है कि वह अपने सङ्घात रूप में समस्त समाज की इच्छा है। बोसान्के की भाषा में वह समाज की इच्छा है। उसे जो एकात्मकता प्राप्त होती है, वह उस सामान्य उद्देश्य के कारण होती है जो व्यक्तियों को सम्बद्ध कर एकता के सूत्र में बाँधता है और जो उसके बनने में प्रभाव डालता है। वह इच्छा सामान्य तथा एकात्मक उस समय नहीं रहती, जब कि उसको बनाते समय व्यक्तियों का लक्ष्य सामान्य हित नहीं रहता। वह सबकी इच्छा भी नहीं है जिसका अर्थ वैयक्तिक इच्छाओं का योग होना है और जिससे उसका (सामान्य इच्छा का) संघर्ष हो सकता है। वह आवश्यक रूप से बहुमत की इच्छा भी नहीं होती। बहुमत सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता यदि वह स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत लाभ की भावना से प्रेरित होता है। इस प्रकार सामान्य इच्छा जनसंख्या का प्रश्न नहीं है, वह तो भावना या प्रयोजन की बात है। उसका प्रादुर्भाव उस समय होता है जब कि समाज का प्रत्येक सदस्य सार्वजनिक हित को अपना हित बना लेता है और इस प्रकार अपने आपको सब लोगों के साथ समान उद्देश्य में बाँध लेता है। वाइल्ड ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—'एक बुद्धिमान मनुष्य की उस हित की ओर अमिट प्रेरणा जो (हित) अपना विस्तार करके सामान्य हित में परिणत हो जाता है।' जो बात ध्यान में रखनी चाहिये वह यह है कि इच्छा की सामान्यता उसके समर्थकों की संख्या से नहीं बनती वरन् सामान्य हित से बनती है। कभी-कभी महात्मा गाँधी जैसी एक आत्म-त्यागी तथा पवित्र आत्मा समाज के बहुमत की अपेक्षा समाज की सामान्य इच्छा का सर्वश्रेष्ठ ढंग से प्रतिनिधित्व करती है।

इससे हमको सामान्य इच्छा का एक दूसरा लक्षण मिलता है। साधारण इच्छा विवेकपूर्ण एवं तर्क-संगत है। सामान्य इच्छा विवेक से कम नहीं है क्योंकि मानव-जीवन के कार्यों के पथ-प्रदर्शन में वह सक्रिय रहता है। मनुष्य सामान्य इच्छा को अपनी इच्छा समझते हैं और जान-बूझकर उसके आदेश का पालन करते हैं क्योंकि प्रत्येक को उसमें अपनी इच्छा दिखाई देती है जो अपनी वास्तविक प्रकृति में विवेकपूर्ण है। हम उसको नागरिकों की असली इच्छाओं का सगठित रूप अथवा उसमें जो कुछ सर्वोत्तम है उसकी अभिव्यक्ति समझ सकते हैं। डॉ॰ आशीर्वादम् ने उसे नागरिकता की मूर्त भावना कहा है। सामान्य इच्छा पवित्र और निरपेक्ष है क्योंकि वह विवेकपूर्ण है। विवेकपूर्ण एवं पवित्र होने के कारण वह सदैव ठीक होती है। उसका ध्येय उस वस्तु को प्राप्त करना है जो निर्धारित परिस्थितियों में सर्वश्रेष्ठ होती है। जो सर्वश्रेष्ठ है उसके सम्बन्ध मे यदि हमारा निर्णय गलत है, तो सामान्य इच्छा भी गलत हो सकती है परन्तु फिर भी वह ठीक है क्योंकि उसका लक्ष्य सामान्य हित है। जैसा कि स्वयं रूसो ने कहा है—"सामान्य इच्छा सदैव ठीक होती है किन्तु जो निर्णय उसका पथ-प्रदर्शन करता है वह सदैव उचित नहीं होता।" लॉर्ड ने सामान्य इच्छा के एक दूसरे लक्षण—उसके स्थायित्व—की ओर सकेत किया है। यह विचारों तथा हितों के सादृश्य में पाया जाता है जो लोगों में परिव्याप्त होकर उन्हें एक निश्चित रूप देता है। चरित्र, जैसा कि दर्शन-शास्त्र के ज्ञाता हमें बतलाते हैं, इच्छा को स्थायी वृत्ति का नाम है। यह अपेक्षाकृत स्थायी एवं निश्चित होती है। सामान्य इच्छा स्थायी होने के कारण "जनता की भावना के तूफान में या राजनीतिज्ञ की तरंगों मे, चाहे वह कितना ही लोकप्रिय हो, नहीं होती। वह तो जनता के चरित्र में होती है। इस प्रकार सामान्य इच्छा अक्षय होती है। उसका नाश जनता के नाश के साथ ही हो सकता है अन्यथा नहीं।

यह कल्पना भावात्मक है; यह एक आदर्श की व्याख्या है जिसे पूर्ण रूप में कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु अन्य आदर्शों के समान यह सामाजिक जीवन का नियमन करता है और उस सीमा तक इस आदर्श की नित्य प्राप्ति होती रहती है। इस प्रकार यह आदर्श तथा वास्तविक वस्तु दोनों ही है।

सामान्य इच्छा की कल्पना का काफी राजनीतिक महत्व है। इसका अर्थ यह है कि राज्य एक सावयव एकता है जिसकी अपनी इच्छा है।

वह स्वार्थी तथा असम्बद्ध व्यक्तियों का समूहमात्र नहीं है। इस इच्छा का नागरिकों की इच्छाओं से पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता किन्तु उसको नागरिकों की इच्छाओं से एकरूप नहीं माना जा सकता। वह उनके आगे निकल जाती है और उनमें प्रवेश कर जाती है और उनमें से किसी में भी उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। दूसरे, वह इस कथन की पुष्टि है कि 'राज्य एक जीवित आदर्श और आध्यात्मिक वास्तविकता है।' वह कोई ऐसी युक्ति नहीं है जिसमें व्यक्ति या व्यक्तिसमूह अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकें। "राज्य का वास्तव में अपने नागरिकों के जीवन से पृथक् कोई जीवन नहीं है किन्तु उसका जीवन किसी भी व्यक्ति या उसके नागरिकों की किसी पीढ़ी के जीवन से अधिक लम्बा, पूर्ण एवं विस्तृत है।" ऑस्टिन के सिद्धान्त की एक मुख्य अपूर्णता इसी में है कि वह सामान्य इच्छा की कल्पना के विपरीत है।

राज्य प्रभुत्व के सिद्धान्त की आलोचना—

प्रभुत्व की परिभाषा, उसके अर्थ तथा प्रकारों के सम्बन्ध में विचार करने के बाद हम प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की कल्पना की आलोचना पर विचार करेंगे। उसकी आलोचना अनेक विद्वानों ने अनेक प्रयोजनों से की है। उसका सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक महत्व भी है। प्रभुत्व सिद्धान्त पर सबसे बड़ा प्रहार बहुवादी करते हैं जो उसे भ्रमात्मक और व्यर्थ मानते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधान के लेखक तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रेमी राज्य की बाह्य प्रभुता को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सहयोग की अभिवृद्धि में एक बड़ी बाधा मानते हैं। तीसरा आक्षेप यह किया जाता है कि कानून राज्य से भी पूर्व का है और इस कारण वह राज्य से स्वतन्त्र है। ऐसे भी लेखक हैं जो प्रभुत्व को राज्य का विधायक तत्व नहीं मानते। अब इन पर विस्तार के साथ विचार किया जायगा।

(१) राज्य प्रभुत्व का निषेध—

राज्य विज्ञान के अनेक लेखक प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों को स्वीकार करते हुए भी यह मानते हैं कि राज्य के निर्माण में प्रभुत्व कोई आवश्यक तत्व नहीं है। वे यह कहते हैं कि प्रभुत्व कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है। राज्य के विकास में उसका आकस्मिक घटना के रूप में विकास हुआ है। संक्षेप में, वह एक ऐतिहासिक वस्तु है। प्राचीन काल में ऐसे भी राज्य थे जो प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं थे, उदाहरणार्थ, मध्य-युग के सामन्ती राज्य। भविष्य में ऐसे राज्य हो सकते हैं जो प्रभुत्वसम्पन्न न हों। उनके अनुसार राज्य और

प्रभुत्व आवश्यक रूप से एकरूप नहीं है। राज्य का सार तत्व प्रभुत्व में नहीं; राज्य-सत्ता में अर्थात् आदेश देने और उनका पालन कराने तथा शासन करने की सत्ता में है। वे इसे आधिपत्य (Domination) की सत्ता, समाज को आदेश देने और अपने ही अधिकार से शासन करने का सत्ता कहते हैं। इस अर्थ में सङ्घ के राज्य भी राज्य कहलायेंगे।

प्रभुत्व को राज्य का आवश्यक तत्व माना जाय या नहीं यह लेखक की प्रभुत्व तथा राज्य की कल्पना पर निर्भर है। यदि वह सङ्घ-राज्य के अन्तर्गत इकाइयों को राज्य (State) माने तो वह असीमित राज्य-प्रभुता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करेगा। बहुमत इस पक्ष में नहीं है कि राज्य की कल्पना इतनी विस्तृत हो कि उसमें सङ्घ के विधायक राज्य भी सम्मिलित हो जायँ। अनेक लेखक प्रभुत्व और आधिपत्य की सत्ता में कोई भेद नहीं मानते। दोनों ही एक वस्तु है, केवल नाम का भेद है।

बहुवाद (Pluralism)

(७) प्रभुत्व पर बहुवादी आक्रमण—

बहुवादी लेखक प्रभुत्व की आवश्यकता को ही अस्वीकार नहीं करते, वे राज्य-प्रभुत्व के अस्तित्व को भी नहीं मानते। वे उसे कोरी कपोलकल्पना मानते हैं जिसका वर्तमान काल के तथ्यों में कोई सामञ्जस्य नहीं है। प्रो० क्रिएबे का कथन है कि "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों के सिद्धान्त का खण्डन हो चुका है।" बार्कर का भी मत है कि कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना निष्फल नहीं है जितना कि प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों का सिद्धान्त। प्रो० लॉस्की का निष्कर्ष है कि "राजनीतिक दर्शन के लिये कानूनी प्रभुत्व के सिद्धान्त को समुचित मानना असम्भव है।" उसका विचार है कि प्रभुत्व कल्पना को त्याग देना राज्य-विज्ञान के लिये स्थायी रूप से उपयोगी होगा।" अब हमें उन आधारों पर विचार करना है जिन पर ये विचार टिके हुए हैं।

(क) बहुवादी राज्य की पुरातन अद्वैत कल्पना को स्वीकार नहीं करते क्योंकि ऐसी राज्य-कल्पना जिसके अनुसार राज्य के अन्दर के समस्त समुदाय उसकी दया पर निर्भर रहते हैं, आजकल के तथ्यों के अनुकूल नहीं है। राज्य हमारे समस्त सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता। मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये अन्य संस्थाएँ भी आवश्यक हैं। उनका मत है कि राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह-मात्र ही नहीं है जिनका राज्य को छोड़कर एक दूसरे से कोई

सम्बन्ध न हो; वह समुदायों का समुदाय है। उसकी इकाइयाँ असम्बद्ध या पृथक् व्यक्ति नहीं है वरन् वे व्यक्ति हैं जो पहले से ही सामान्य जीवनयुत समुदायों के रूप में सङ्गठित हैं। ये समुदाय व्यक्तियों तथा राज्य के मध्य में स्थित हैं। बहुवादी 'राज्य बनाम व्यक्ति' की नहीं 'समुदाय बनाम राज्य' की बात करते हैं। अधिकांश में ये समुदाय राज्य के किसी रचनात्मक प्रयत्न के बिना जन्म लेते हैं और व्यक्तियों की उनके प्रति भक्ति होती है। मैकआइवर का विचार है कि ये महान् समुदाय न तो राज्य के भाग हैं और न केवल उसकी प्रजा ही हैं, उनका अस्तित्व राज्य के समान अपने ही अधिकार से है। राज्य की सत्ता के समान ही उनकी स्वयं अपनी सत्ताएँ होती हैं। उनमें से कुछ संस्थाएँ तो ऐसी हैं जो अपने सदस्यों के हितों का राज्य की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधित्व करती हैं और सदस्य उनके आदेशों का पालन अधिक श्रद्धा के साथ करते हैं; उनके प्रति उनकी भक्ति भी अधिक होती है। जब ऐसी संस्थाओं के प्रति भक्तिभाव का राज्य के प्रति भक्तिभाव के साथ विरोध होता है, तो संस्थाओं के प्रति भक्ति की विजय हो सकती है। ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई देता कि राज्य के प्रति भक्ति *को किसी अन्य संस्था के प्रति भक्ति की अपेक्षा प्राथमिकता क्यों मिलनी* चाहिये। राज्य को खुले बाजार में नागरिकों की भक्ति के लिये अन्य संस्थाओं के साथ प्रतियोगिता करनी चाहिये। दूसरे शब्दों में, बहुवाद यह नहीं मानता कि राज्य कोई ऐसी अनुपम संस्था है जिसका अन्य संस्थाओं पर श्रेष्ठता का नैतिक अधिकार है या जो अन्य संस्थाओं से आवश्यक रूप से अधिक महत्वपूर्ण है। राज्य समुदायों का केवल एक समुदाय है जो अन्य समुदायों के समकक्ष है और जो किसी प्रकार भी उनसे ऊँचा नहीं है। उसे समाज की अद्वितीय प्रभुता नहीं दी जा सकती। उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध समानता का है, अधीनता का नहीं। यदि राज्य भी एक समुदाय ही है तो उसे नागरिकों की भक्ति का अन्य समुदायों से अधिक अधिकार नहीं है। इस प्रकार उसका यह दावा कि वह एक स्वाश्रयी तथा अनिवार्य *संस्था है, निराधार हो जाता है* और अन्य समुदायों का यह दावा प्रमाणित हो जाता है कि उन्हें बिना किसी बाधा एवं नियन्त्रण के कार्य करने का अधिकार है। उन्हें कार्य करने की अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। क़ानून-निर्माण तथा नियमन की सत्ता पर इस समय राज्य का जो एकाधिपत्य है उसको उसे त्याग कर देना चाहिये और उसमें अन्य समुदायों को भी भाग मिलना चाहिये। राज्य को कारखानों में काम के घण्टे आदि निश्चित करने

का कोई अधिकार नहीं होना चाहिये। यह प्रश्न तो उन्हीं पर छोड़ दिया जाना चाहिये जो कारखानों में काम करते हैं। इसी प्रकार राज्य को विश्वविद्यालयों तथा धर्म-संस्थाओं पर भी कोई नियन्त्रण नहीं रखना चाहिये। उन्हें अपने हितों की अभिवृद्धि के लिये स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देना चाहिये। समाज का सङ्गठन एकात्मक के स्थान पर सङ्घात्मक होना चाहिये। समाज के विधायक अङ्गों को अपने कार्यों के सम्पादन की स्वतन्त्रता होनी चाहिये; उन्हें अपने क्षेत्र में कानून बनाने का अधिकार होना चाहिये। दूसरे शब्दों में राज्य के कार्य, क़ानून और व्यवस्था की रक्षा, अपराध की रोकथाम और विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा आदि सामान्य कार्यों तक ही सीमित रहने चाहिये।

(ख) प्रोफ़ेसर लॉस्की का यह तर्क है कि राज्य की प्रस्तावित योजनाओं एवं क़ानूनों का जब कुछ समुदाय दृढता से विरोध करते हैं तो राज्य उन्हें वापिस कर लेने के लिये बाध्य हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के प्रभुत्व का सिद्धान्त अव्यावहारिक और असमर्थनीय है। उसने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं। सन् १९१४-१८ ई० के महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार वेल्स की खानों के विद्रोही मजदूरों के विरुद्ध म्युनिशन एक्ट को लागू नहीं कर सकी। संयुक्त राज्य अमेरिका की रेलवे यूनियन ने आम हड़ताल की धमकी देकर कांग्रेस को आठ घण्टे का दिन स्वीकार करने को बाध्य कर दिया। अपने ही देश में राष्ट्रीय भारतीय कांग्रेस के नेतृत्व में जनता के विरोध के फलस्वरूप रोलट बिल का व्यवहार में प्रयोग नहीं हो सका। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि राज्य अपने नागरिकों के संबंध में सर्वशक्तिसम्पन्न नहीं है। उसे ऐसी नीतियों को स्वीकार करने के लिये बाध्य किया जा सकता है जिनके वह विरुद्ध हो। लॉस्की ने राज्य की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध एक नैतिक तर्क भी दिया है। राज्य व्यक्ति की भक्ति का उस समय तक अधिकारी नहीं, जब तक उसकी अन्तरात्मा उसे आज्ञा न दे और अन्तरात्मा उस समय तक आज्ञा नहीं देगी जब तक कि राज्य का आदेश नैतिक आधार पर नहीं होगा। राज्य का मुझ पर अधिकार उसके आदेशों की नैतिकता के अनुपात में है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायगा कि राज्य के प्रभुत्व पर बहुवादियों द्वारा जो आक्रमण किया गया है, वह इस इच्छा से प्रेरित है कि समाज में विविध समुदायों को अधिक स्वतन्त्रता मिले और उनके तथा व्यक्तियों

के अधिकारों की रक्षा हो जो शासन की बढ़ती हुई सत्ता के कारण बड़े सङ्कट में है। आज जिस बात की आवश्यकता है वह राज्य की सत्ताओं पर जोर देने की नहीं वरन् उसकी सत्ताओं पर मर्यादा लगाने की है। नैतिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से राज्य के असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया जा सकता। यदि हम प्रभुत्व के सिद्धान्त को कायम रखना चाहते हैं, तो यह उचित होगा कि हम व्यक्तियों एवं समुदायों के जन्मसिद्ध नैतिक अधिकारों द्वारा सीमित प्रभुत्व की बात करें। इस प्रकार बहुवाद आवश्यक रूप से राज्य-विरोधी नहीं है। वह राज्य का अन्त नहीं चाहता, केवल उसकी अपरिमित शक्ति को सीमित करना चाहता है।

जिन तथ्यों का बहुवादी हवाला देते हैं, वे यथार्थ और महत्वपूर्ण हैं। प्राचीन काल में, जब कि राज्य और समाज में कोई भेद नहीं किया जाता था, कुछ भी उचित रहा हो किन्तु आज हम राज्य को व्यक्ति के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को अपने में समाविष्ट करने नहीं दे सकते। धर्मसंस्था, पाठशाला, श्रम-सङ्घ तथा राजनीतिक दल आदि वैकल्पिक समुदाय हमारी ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं जिन्हें राज्य पूरा नहीं कर सकता। अतः वे हमारी भक्ति चाहते हैं। व्यावसायिक समुदायों को अधिक स्वशासन अवश्य मिलना चाहिये। राज्य को चाहिये कि वह उनके हितों के सम्बन्ध में विचाराधीन कानून के मसौदों पर उनके प्रतिनिधियों से परामर्श करें। यह सब स्वीकार कर लेने का मतलब यह नहीं है कि राज्य अन्य समुदायों से उच्चतम नहीं है अथवा उसे अन्य समुदायों के समकक्ष कर देना चाहिये। राज्य प्रभुत्व का परित्याग नहीं कर सकता और न अन्य समुदायों को उसमें भाग दिया जा सकता है। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि हम मध्य-कालीन अर्द्ध-अराजक स्थिति में पहुँच जायेंगे। विविध स्वशासित समुदायों की स्वीकृति का अर्थ यह नहीं है कि राज्य अपनी सत्ता का त्याग कर दे। यही नहीं, विविध संस्थाओं एवं समुदायों के बीच सङ्घर्ष या विवादों को दूर करने के लिये तथा समुदायों के सदस्यों को उनके अत्याचार से बचाने के लिये राज्य-सत्ता की पहले से भी अधिक आवश्यकता होगी। प्रोफेसर बार्कर ने इस बात को बड़े सुन्दर ढङ्ग से कहा है, 'हम यह देखते हैं कि राज्य को व्यापारिक सङ्घ, राष्ट्रीय सङ्घ या धर्म-सङ्घ की प्रगति के सामने पीछे हटने के लिये निमन्त्रण दिया जाता है। तथापि ये समुदाय चाहे जितने अधिकार प्राप्त कर लें, राज्य परस्पर सामञ्जस्य स्थापन करने वाली शक्ति बना रहेगा। यह भी सम्भव है कि यदि ऐसे

समुदायों को नये अधिकार मिलते हैं तो इससे राज्य को भी लाभ होगा; शायद उसे क्षति की अपेक्षा लाभ अधिक होगा क्योंकि उसे उस समय अधिक महत्वपूर्ण, गम्भीर तथा जटिल समस्याओं का समाधान करना पड़ेगा।'

सामाजिक न्याय की रक्षा, प्रतिद्वन्द्वी व्यक्तियों एवं समुदायों के विवादों का निर्णय करने तथा सामान्य हितों की अभिवृद्धि के लिये राज्य की सदा आवश्यकता रहेगी। इन कार्यों के सम्पादन के लिये जिस दमनकारी सत्ता की आवश्यकता है, वह एक प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य में ही सम्भव है। समुदाय चाहे जितने महत्वपूर्ण क्यों न हो उन्हें राज्य के अधीन रहना होगा। प्रभुत्वहीन राज्य की बहुवादी कल्पना समर्थनीय नहीं है। प्रभुत्व की कल्पना राज्य-विज्ञान से बहिष्कृत करने का उसका विचार भी अग्राह्य है। राज्य तथा नागरिकों के सम्बन्ध स्थापित करने के लिये प्रभुत्व की कानूनी कल्पना अत्यन्त आवश्यक है फिर भी प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों की ओर से जो अनुचित दावे किये गये हैं उनकी ओर बहुवादियों ने ध्यान आकर्षित करके महान् सेवा की है। यह स्मरण रखना उचित होगा कि राज्य की सत्ता पर नैतिक मर्यादा का बन्धन है। इससे परम्परागत सिद्धान्त भी इन्कार नहीं करता। वह नैतिक स्वच्छन्दता से भिन्न कानूनी स्वच्छन्दता का दावा करता है।

जिन तथ्यों की ओर लास्की ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है, वे अखण्डनीय हैं। यह देखा गया है कि कभी-कभी राज्य के समुदायों द्वारा प्रतिरोध के कारण शासन अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने में अशक्ति का अनुभव करता है; उसे सार्वजनिक दबाव के सामने झुकना पड़ता है। इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि राज्य अपनी नीतियों के लिये हमारा समर्थन उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वे नैतिक धारणा के विपरीत प्रतीत होती हों। किन्तु इन सब बातों का राज्य के प्रभुत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये आपत्तियाँ तो शासन के स्वेच्छाचार के विरुद्ध हैं। लास्की ने राज्य और शासन के भेद के सम्बन्ध में भ्रान्ति में पड़कर यह आपत्ति की है।

(ग) राज्य-प्रभुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता—राज्य-प्रभुत्व पर दूसरा आक्रमण अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के कारण किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास से राज्य के प्रभुत्व पर कई प्रतिबन्ध लग गये हैं। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के क्षेत्र में प्रभुत्व के सिद्धान्त ने अराजकता की स्थिति

पैदा कर दी है। राज्यों के बीच विवादों के शान्तिमय समाधान के मार्ग में यह सिद्धान्त बाधक रहा है। इसने राष्ट्रसंघ (League of Nations) का मानववादी तथा अन्य कार्यों के मार्ग में भयंकर बाधाएँ उपस्थित कीं। सर्वोच्चता की भावना, जिस पर यह सिद्धान्त आधारित है, राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध के क्षेत्र में बिलकुल लागू नहीं हो सकती। समस्त राष्ट्र समान हैं (उनके समान अधिकार हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के निर्णय में उनके मत समान नहीं हैं), कोई भी एक राज्य दूसरे राज्य से श्रेष्ठ नहीं है। अतः किसी भी राज्य को अपने मनमाने ढंग से कोई ऐसा कार्य करने नहीं दिया जा सकता जिसका अन्य राज्यों पर प्रभाव पड़ता है। उसे उनके हितों का भी ध्यान रखना पड़ता है और उनकी स्वाधीनता के लिये समुचित आदर-भाव रखना पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीयता के शक्तिशाली समर्थक हैरॉल्ड लॉस्की ने राज्य प्रभुत्व के विरुद्ध इस प्रकार अपना विचार प्रकट किया है—'अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्र प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का विचार मानवता के कल्याण के लिये घातक है। जिस ढंग से एक राज्य को दूसरे राज्य के साथ व्यवहार करना चाहिये वह ऐसा विषय नहीं है जिसके सम्बन्ध में राज्य को ही एकमात्र निर्णायक मान लिया जाय। राज्यों का सामान्य जीवन राज्यों के सामान्य समझौते का विषय है। इङ्गलैण्ड को यह निर्णय नहीं करना है कि वह किस प्रकार के शस्त्र बनायेगा और कितने प्रवासियों को अपने देश में आवास की अनुमति देगा। इन बातों का राष्ट्रों के सामान्य जीवन से सम्बन्ध है और इसलिये इसका मतलब यह है कि इसके सम्बन्ध के लिये कोई एक विश्व-संगठन हो।'*

एक ऐसे विश्व-संगठन का आदर्श, जिसमें पृथक्-पृथक् राज्य अपनी राष्ट्रीय प्रभुता का परित्याग कर दें, व्यवहार्य हो या नहीं परन्तु इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि प्रत्येक राज्य द्वारा अपने प्रभुत्व पर ज़ोर दिया जाना राज्यों के बीच सहयोग की भावना के विकास में बाधक रहा है और इसने युद्ध की भावना को प्रोत्साहन दिया है। हम उस समय तक संसार में न्याय की प्रतिष्ठा नहीं कर सकते और युद्ध बन्द नहीं कर सकते, जब तक कि प्रत्येक राज्य एक दूसरे के सम्बन्ध में अपने हितों का स्वयं अपने को निर्णायक मानता रहेगा और युद्ध के द्वारा अपने हितों की रक्षा करने की प्रणाली का आश्रय लेता रहेगा। मानवता के हितों की यह माँग

*Laski : A Grammar of Politics, P. 65-66

है कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की कल्पना को अन्तर्राष्ट्रीय विधान से बहिष्कृत कर दिया जाय।

राज्य की आन्तरिक प्रभुता को क़ायम रखते हुये बाह्य प्रभुता का अन्त कर देना असम्भव नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान से सम्बद्ध राज्य की सर्वोच्चता का किसी भी प्रकार से उस सर्वोच्च सत्ता से संघर्ष नहीं होता जिसका प्रयोग नागरिकों के सम्बन्ध में किया जाता है।

(घ) राज्य-प्रभुत्व और क़ानून—

राज्य-प्रभुत्व के सिद्धान्त की आलोचना करने वालों में प्रो० ड्यूग्वी का महत्वपूर्ण स्थान है। उसका यह कथन है कि प्रभुत्वसम्पन्न राज्य मर चुका है या मरणासन्न है। यह एक अन्य फ्रेंच लेखक चार्ल्स बेनॉइट के राज्य-प्रभुत्व के सम्बन्ध में इस विचार का समर्थन करते हुए कहता है कि 'प्रभुत्व का सिद्धान्त अपनी उत्पत्ति में मिथ्या है ; इतिहास ने भी उसे मिथ्या सिद्ध कर दिया है और सभी बातों का विचार करते हुए यह व्यर्थ एवं खतरनाक भी है।' क़ानून की प्रकृति के विषय में उसका अपना सिद्धान्त है जिसके आधार पर वह इस मत का निषेध करता है। वह ऑस्टिन के इस मत को उचित नहीं मानता कि कानून प्रभु का आदेश है जिसे बल का समर्थन प्राप्त है। वह इस विचार को भी स्वीकार नहीं करता कि राज्य ही वह सत्ता है जो वैध या अवैध वस्तु में भेद स्थापित करती है। राज्य कानून का निर्माण नहीं करता। प्रो० ड्यूग्वी के अनुसार कानून राजनीतिक संगठन से पूर्व का है, वह उससे श्रेष्ठ है और स्वतन्त्र भी है; वह वस्तुगत है, चेतनात्मक नहीं। कानून व्यवहार के नियम हैं, जिन्हें समाज द्वारा प्रदत्त हितों एवं लाभों की रक्षा के लिये व्यक्तियों को मानना चाहिये और उनका पालन करना चाहिये। वे सामाजिक जीवन के परिणाम हैं और सामाजिक एकता की आवश्यक शर्त हैं। जनता उनका पालन इसलिये नहीं करती कि उसकी रचना ऐसे अधिकारी द्वारा की गई है जिसके पास दमनकारी सत्ता है वरन् इसलिये कि उनका पालन करके ही सामाजिक जीवन की रक्षा की जा सकती है। इस प्रकार उनका बल मनोवैज्ञानिक है, राजनीतिक नहीं। मनुष्यों से कानून का पालन कराने में दण्ड-भय उतना काम नहीं करता जितना कि सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति। किसी व्यक्ति या राज्य द्वारा किया गया कोई भी कार्य जो सामाजिक एकता के नियम का उल्लंघन करता है, अवैध है। इस प्रकार कानून की मान्यता क़ानून के स्रोत या उत्पत्ति पर निर्भर नहीं है। उसका निर्णय तो उस उद्देश्य से होता है

जिसे वह पूरा करना चाहता है। इस प्रकार कानून राज्य को सीमित करता है, राज्य कानून की सीमा निर्धारित नहीं करता। क्रैब के भी ऐसे ही विचार हैं। वह भी क़ानून को राज्य से ऊपर और उससे स्वतन्त्र मानता है। इस प्रकार वह इस विचार का खण्डन करता है कि क़ानून राज्य द्वारा बनाया जाता है और प्रभु की इच्छा ही कानून है। इसका आधार समाज की न्याय भावना है, सार्वजनिक उपयोगिता नहीं।

क़ानून के इस सिद्धान्त में सत्यांश है। कानून राजा या व्यवस्थापक परिषद् के आदेश मात्र ही नहीं हैं। उन पर प्रचलित सामाजिक न्याय-भावना तथा मत का भी प्रभाव पड़ता है। राज्य की कोई एक संस्था क़ानूनों के सार (Content) का निर्धारण नहीं कर सकती। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि जनता का मत, उनकी सामाजिक न्याय-भावना, अथवा सार्वजनिक उपयोगिता का विचार ही क़ानून बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। जब तक कोई नियम समुचित अधिकारी द्वारा प्रचारित न किया जाय तब तक वह क़ानून नहीं हो सकता। क़ानून के लिये इन उपर्युक्त बातों से अधिक किसी वस्तु की आवश्यकता है। उक्त प्रभावों द्वारा हमें कानून का सार तो प्राप्त हो सकता है परन्तु उसके रूप (Form) के लिये हमें व्यवस्थापिका परिषद् का आश्रय लेना होगा। कानूनी प्रभुत्व का सिद्धान्त क़ानून के रूप पर अधिक ज़ोर देता है, उसके सार पर कम। ड्यूग्वी, क्रैब आदि बहुवादी लेखकों ने कानूनी प्रभुत्व के दोषों पर प्रकाश डालकर अच्छी सेवा की है। किन्तु हम पूर्ण रूप से उनके इस विचार का समर्थन नहीं कर सकते कि कानून राज्य से स्वतन्त्र है। वास्तविक रूप में राज्य ही कानून बनाता है; वही विभिन्न स्रोतों से क़ानून का सार ग्रहण कर उसे क़ानून का रूप देता है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि राज्य-प्रभुत्व का परम्परागत सिद्धान्त काफ़ी सही है। बहुवादियों का यह कथन कि इस युग में उसका खण्डन हो चुका है, अतिशयोक्ति है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने राज्य के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि समुदायों के सामाजिक जीवन में महत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित किया है। हम उनकी इस माँग का भी समर्थन करते हैं कि राज्य में इन समुदायों को कार्य करने के लिये पूर्ण सुयोग एवं स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि उनके कुछ अधिकार हैं जिनकी शासन द्वारा अतिक्रमण से रक्षा होनी चाहिये। किन्तु हम बहुवादियों के समान

इन संस्थाओं को राज्य के समकक्ष नहीं मान सकते। राज्य को सर्वोच्च स्थान मिलना चाहिये और वे सब आवश्यक सत्ताएँ भी होनी चाहिये जिससे वह जनता के नैतिक कल्याण की रक्षा और अभिवृद्धि कर सके। उसके प्रभुत्व पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, हाँ, उसे नैतिक मर्यादाओं का पालन अवश्य करना चाहिये। किन्तु राज्य-विज्ञान के लिये राज्य के प्रभुत्व का सिद्धान्त कितना ही आवश्यक क्यों न हो, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में से उसका बहिष्कार होना चाहिये। इस क्षेत्र में उसने बुराई और अव्यवस्था के अतिरिक्त और किसी वस्तु को जन्म नहीं दिया है। कानून का सार निश्चित करने में राज्य पर कई बातों का प्रभाव हो सकता है परन्तु समस्त नागरिकों पर लागू होने वाले कानून बनाने का एकमात्र अधिकार उसे ही होना चाहिये।

अध्याय २

क़ानून (विधि)

पिछले अध्याय में हमने कई स्थानों पर क़ानून की चर्चा की है। हमें अब इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार करना है। इस शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। प्राकृतिक जगत में इस शब्द से कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकट होता है और मालूम होता है कि घटनाएँ किस प्रकार होती हैं, उदाहरणार्थ, पानी ढाल के नीचे की ओर बहता है, यह प्राकृतिक क़ानून है। मनुष्य के सामाजिक जीवन का नियमन करने वाले नियम भी क़ानून कहलाते हैं। यदि उनका सम्बन्ध मनुष्य की इच्छा और इरादे से होता है तो वे नैतिक क़ानून कहलाते हैं और यदि उसके बाह्य कामों से तो उन्हें सामाजिक या राजनीतिक क़ानून कहते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि क़ानून कई प्रकार के होते हैं जिनका सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण हो सकता है—(१) प्राकृतिक, जिनके अनुसार प्राकृतिक जगत में घटनाएँ घटती हैं। इन नियमों का मनुष्य निर्माण नहीं करता वरन् प्राकृतिक जगत में होने वाली घटनाओं को देखकर उन्हें ढूँढ निकालता है। मनुष्य जीवन के सम्बन्ध में व नियम भी प्राकृतिक क़ानून कहलाते हैं जो मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था अर्थात् तथाकथित प्राक् सामाजिक अवस्था में काम में आते थे। (२) नैतिक क़ानून जिनका सम्बन्ध मनुष्य की इच्छा या इरादे से रहता है। इनसे उचितानुचित तथा अच्छे बुरे का भेद मालूम होता है। (३) मनुष्य के बाह्य आचरण-सम्बन्धी क़ानून जो दो प्रकार के होते हैं। (अ) केवल समाज द्वारा स्वीकृत क़ानून जिनमें रीति-रिवाज, प्राचीन रूढ़ियाँ आदि सामाजिक जीवन के वे प्रतिष्ठित नियम शामिल हैं जिनका पालन लोकमत के भय से होता है और जिनके उल्लंघन के लिए उपहास, निन्दा, सामाजिक बहिष्कार आदि के अतिरिक्त कोई

शारीरिक दण्ड नहीं मिलता। (आ) राजकीय कानून जो राज्य द्वारा स्वीकृत होते हैं और जिनके भंग होने पर राज्य दण्ड देता है। राज्य-विज्ञान का सम्बन्ध इसी प्रकार के कानून से है और यहाँ उस पर ही विचार किया जायगा।

राजकीय कानून—

राज्य-विज्ञान की अन्य भावनाओं के समान कानून की कल्पना भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न की है। विलोबी के अनुसार 'आचरण के वे नियम राजकीय कानून कहलाते हैं जिनके अनुसार न्यायालय न्याय करते हैं, जो उन अनेक नियमों से, जो समाज में न्यूनाधिक मात्रा में सामान्यतया माने जाते हैं, भिन्न होते हैं और जिनका पालन अन्ततोगत्वा राज्य की पूरी शक्ति के दबाव के कारण होता है।' हालैण्ड ने भी कहा है कि कानून बाहरी आचरण का 'वह सामान्य नियम है जिस पर प्रभुत्वसम्पन्न राजनैतिक सत्ता अमल करवाती है।' गेटेल के अनुसार 'कानून प्रतिष्ठित विचारों एवं आदतों के उस अंश का नाम है जिसको शासन की सत्ता और शक्ति का समर्थन प्राप्त सामान्य नियमों के रूप में स्पष्ट और नियमानुसार मान्यता प्राप्त हो चुकी है।' उसका कथन है कि केवल वही नियम जिनकी सृष्टि राज्य करता है या जिन्हें राज्य मानता है और जिन पर अमल करवाता है कानून बनते हैं। ऑस्टिन के मत में प्रभु का आदेश ही कानून है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में इतना तो मतैक्य है कि राजकीय कानून बाह्य आचरण के नियम हैं और राज्य उन पर अमल करवाता है। परन्तु उन नियमों का स्वरूप क्या है इस पर मतभेद है। ऑस्टिन का कथन है कि प्रभु का आदेश ही कानून है परन्तु गेटेल के अनुसार वे नियम भी कानून कहलाते हैं जो पहले से विद्यमान् हैं और जिन्हें राज्य ने मान लिया है। इसी प्रकार जनता कानून को क्यों मानती है इस पर भी मतभेद है। कानून का यथार्थ स्वरूप समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उन विभिन्न सिद्धान्तों की चर्चा करें जिनके अनुसार विभिन्न लेखकों ने कानून की कल्पना की है।

(१) विश्लेषणात्मक अथवा आदेशात्मक सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक बोदाँ, हाब्स, बेन्थम, ऑस्टिन आदि थे। वर्तमान काल में इङ्गलैंड में हॉलैंड और अमेरिका में विलोबी भी इसी सिद्धान्त के समर्थक हैं। यह लोग वर्तमान कानूनों का विश्लेषण करके

तथा उनकी अभिव्यक्ति के रूप, उनकी मान्यता तथा उन्हें व्यवहार में लाने के ढंग आदि के आधार पर उनका वर्गीकरण करके कानून के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करते हैं। ऑस्टिन के अनुसार कानून प्रभु का आदेश है। उसकी सृष्टि प्रभु द्वारा होती है और वह कानून इसलिये है कि वह उसका आदेश है। उसका पालन इस कारण होता है कि प्रभु की शक्ति उसके पीछे है। जिस नियम को इस शक्ति का समर्थन प्राप्त नहीं है वह कानून नहीं कहला सकता। हॉलैंड का कथन है कि कानून का सबसे स्पष्ट लक्षण यह है कि वह नियन्त्रणकारी है।

(२) ऐतिहासिक सिद्धान्त—

विश्लेषणात्मक सिद्धान्त का एक मुख्य दोष यह है कि उसके अनुसार कानून प्रगतिशील न होकर निश्चल वस्तु रह जाता है, उसका कानून के विकास की ओर ध्यान नहीं जाता। इस दृष्टि से ऐतिहासिक सिद्धान्त के समर्थकों ने उसकी बड़ी कड़ी आलोचना की है। उनका कथन है कि कानून प्रभु का आदेश नहीं वरन् प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक रीति रिवाजों का विकसित रूप है। मनुष्य आरम्भ से ही समाज में रहता आया है और तभी से आवश्यकतानुसार सामाजिक नियम बनते रहे हैं जिन्हें लोग मानते आये हैं। सभ्यता की उन्नति के साथ इन नियमों में आवश्यक हेर-फेर और वृद्धि होती रही। इन नियमों में से अनेक राज्य द्वारा स्वीकार कर लिये गये और उनका पालन कराने का भार राज्य ने अपने ऊपर ले लिया। शेष अब भी समाज में बिना राज्य के समर्थन के वैसे ही माने जा रहे हैं। आजकल भी जो नये कानून बनाये जाते हैं उसमें जनता के रीति-रिवाजों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में से मुख्य जर्मनी का सेविग्नी तथा इङ्गलैण्ड के सर हेनरी मेन, मेटलैण्ड तथा सर फ्रेडरिक पॉलक हुए हैं। मेन ने 'एन्शेण्ट लॉ' नामक पुस्तक में विश्लेषणवादियों की कड़ी आलोचना की है। इस पर हम प्रथम भाग में कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। उसका कथन है कि प्राचीन जातियों में कानून धर्म के अङ्ग थे, राजा स्वयं उनको मानता था, उनका निर्माण नहीं कर सकता था और न उनमें कोई परिवर्तन ही कर सकता था। उसने पंजाब के महाराजा रणजीतसिंह का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अत्यन्त शक्तिशाली और निरंकुश होते हुए भी उसे प्राचीन रीति-रिवाजों के अनुसार ही शासन करना पड़ता था, वह उन्हें हटाकर नये कानून बनाने का साहस नहीं कर सकता था। इस प्रकार इतिहास से प्रकट होता है कि यह

आवश्यक नहीं है कि कानून प्रभु का आदेश हो। इसके उत्तर में ऑस्टिन का कथन है कि प्रभु जिसके लिये अनुमति दे दे वह उसका आदेश ही है। किन्तु प्रभु अनुमति देने या न देने में स्वतन्त्र नहीं होता, जिन रीति-रिवाजों को जनता मानती है उनके लिये प्रभु को अनुमति देना ही पड़ती है। प्रतिष्ठित रीति रिवाजों में परिवर्तन करने का प्रभु साहस नहीं कर सकता, नहीं तो उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है।

(३) दार्शनिक सिद्धान्त—

रूसो, कॉण्ट आदि दार्शनिकों का मत है कि कानून जनता की असली इच्छा (Real will) को प्रगट करते हैं जिसके सामने क्षणिक, तात्कालिक इच्छा (Actual will) से भिन्न सदा नैतिक लक्ष्य ही रहता है। जब हम कानून मानते हैं तो हम अपनी ही अन्तरात्मा की सच्ची वाणी को मानते हैं। दार्शनिक दृष्टि से प्रजातन्त्र में तो यह मत ठीक हो सकता है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रजातन्त्र में जहाँ शासन दलबन्दी के आधार पर होता है इस मत को स्वीकार करना कठिन है। निरंकुश राज्यों में तो जनता की इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता।

(४) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त—

प्रख्यात फ्रेन्च समाजशास्त्री ड्युगी और डच लेखक क्रेब का मत हम ऊपर बहुवादी सिद्धान्त की चर्चा करते समय प्रकट कर आये हैं। उनके विचार में कानून सामाजिक जीवन के परिणाम हैं। समाज में ठीक तरह से रहने और सामाजिक जीवन से लाभ उठाने के लिये व्यक्तियों को कुछ नियम पालने पड़ते हैं। यही नियम कानून हैं। लोग उनका पालन इस कारण नहीं करते कि उनका प्रभु ने आदेश दिया है और उनको भंग करने पर दण्ड मिलेगा वरन् इस कारण उनका पालन करते हैं कि उनका पालन किये बिना सामाजिक जीवन ठहर नहीं सकता। प्रभु इन कानूनों का निर्माण नहीं करता, केवल ढूँढ निकालता है। कानून प्रभु को उसके कर्तव्यों का ज्ञान कराते हैं और इस कारण वे उससे भी बढ़कर हैं।

(५) नैतिक सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त कानून के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डालता, केवल यह बताता है कि हम उनका पालन क्यों करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार हम राज्य के कानूनों को इस कारण नहीं मानते कि वे प्रभु के आदेश हैं या प्राचीन रीति-रिवाज हैं वरन् इसलिये कि वे हमारे अधिकारों और

कर्तव्यों का निर्देश करते हैं और हम उन्हें उचित समझते हैं। इस प्रकार कानूनों के पालन का आधार हमारी नैतिक प्रकृति के अनुकूल होने के कारण उनका औचित्य है। यही कारण है कि जनता कुछ कानूनों को मानती है और कुछ का विरोध करती है। यदि ऐसा नहीं होता तो सभी कानूनों का समान रूप से पालन होता। इस सिद्धान्त के समर्थक लॉस्की,* रॉस्को पाउण्ड आदि हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्तों में से कोई भी ऐसा नहीं है जो कानून के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करा सके, यद्यपि प्रत्येक में कुछ सत्यांश अवश्य है। आदेशात्मक सिद्धान्त के अनुसार कानून प्रभु के आदेश होते हैं परन्तु सभी कानून आदेश नहीं होते। कुछ कानून तो आदेशात्मक होते हैं जैसे कर-सम्बन्धी कानून, जिनके द्वारा हमें नियमानुकूल कर देना पड़ता है और यदि न दें तो हम राज्य की ओर से दण्ड के भागी होते हैं। ऐसे कानूनों में निषेधात्मक कानून भी सम्मिलित हैं जिनके द्वारा कुछ प्रकार के कार्य करने की राज्य की ओर से मनाही की जाती है और जिनको भङ्ग करने पर दण्ड मिलता है। परन्तु कुछ कानून ऐसे होते हैं जो आदेशात्मक नहीं, अनुमतिसूचक होते हैं जैसे मतदान सम्बन्धी कानून। जिस व्यक्ति में मत-दाता की योग्यता हो वह मत दे सकता है परन्तु यदि वह अपना मत न दे तो उसे कोई दण्ड नहीं मिलता। यह भी सत्य है कि कानूनों का आधार बहुत बड़े अंश तक हमारे प्राचीन रीति-रिवाज हैं और कानून का धीरे-धीरे विकास होता है। परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि बदलती हुई परिस्थिति में राज्य को नितान्त नये कानून भी बनाने पड़ते हैं, जैसे कारखानों में आकस्मिक दुर्घटना के लिये श्रमिक को हर्जाना दिलाने की व्यवस्था करने वाले कानून, जिनका हमें प्राचीन रीति-रिवाज में चिन्ह भी नहीं मिलता। बहुत से कानून हमारी अन्तरात्मा के अनुकूल होते हैं परन्तु सभी नहीं। यह भी सत्य है कि कानून सामाजिक जीवन के परिणाम हैं और व्यक्ति उन्हें सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक मानते हैं किन्तु सामाजिक जीवन के आदर्श तथा न्याय की भावना सभी व्यक्तियों में समान नहीं होती और सभी व्यक्ति इस भावना से कानूनों का पालन नहीं करते। इस बात से भी हम इन्कार नहीं करते कि हम कानूनों को केवल इसीलिये नहीं मानते कि वे प्रभु के आदेश हैं प्रत्युत इसलिये भी मानते हैं कि वे हमारी नैतिक प्रकृति के अनुकूल होने के कारण उचित हैं। इस प्रकार

* Laski : Grammar of Politics, p. 288-89.

हम देखते हैं कि अपूर्ण होते हुए भी प्रत्येक सिद्धान्त में कुछ सत्य एवं ग्राह्य तत्व हैं। सभी सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं और इनके तत्वों का उचित समन्वय करके ही हम क़ानून का यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। कानून के स्रोत अनेक हैं जैसा हम अभी आगे देखेंगे; उन्हें हम मानते भी अनेक कारणों से हैं। परन्तु इतना तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि कानून के लिये राज्य की स्वीकृति आवश्यक है और उसके पक्ष में राज्य का बल होना चाहिये अन्यथा बहुत से लोग उचित होते हुए भी कानूनों को नहीं मानेंगे और व्यवस्था बिगड़ जायगी। इस दृष्टि से आदेशात्मक सिद्धान्त अपूर्ण होते हुए भी अधिक ग्राह्य है, उसकी त्रुटियों की पूर्ति अन्य सिद्धान्तों की सहायता से की जा सकती है। क़ानून में जिन-जिन बातों का समावेश होता है वे अनेक स्रोतों से प्राप्त होती हैं परन्तु उनको निश्चित और नियमित रूप देने वाली शक्ति प्रभु ही है जिसकी मान्यता प्राप्त किये बिना कोई नियम राज्य की समस्त जनता पर समान रूप से बन्धनकारी नहीं हो सकता और न उसका उपयोग ही न्यायालय न्याय करने में कर सकते हैं।

क़ानून के स्रोत—

हॉलैण्ड ने कानून के ६ स्रोत बताये हैं—

(१) रीति-रिवाज—

यह कानून का सबसे प्राचीन स्रोत है। प्राचीन काल में समाज में लिखित कानून नहीं होते थे। उस समय लोग अपने पारस्परिक व्यवहार में कुछ रीति-रिवाजों का पालन करते थे जो आदत, अनुभव, उपयोगिता, न्याय-भावना आदि के कारण अपने-आप धीरे-धीरे बन गये थे या जान-बूझकर बना लिये गये थे। उनके निर्माण में राज्य का कोई हाथ नहीं था। उनका विकास समाज की आवश्यकता के अनुसार होता रहा है और समय-समय पर उनमें परिवर्तन होते रहे हैं। बहुत से रीति-रिवाज प्राचीन काल से किसी न किसी रूप में आज तक चले आ रहे हैं। उनका कानून के समान आदर होता है और न्यायालयों में भी वे माने जाते हैं। कई रीति-रिवाजों को तो प्रभु कानून का ही रूप दे देता है और वे राज्य के लिखित कानूनों में सम्मिलित हो जाते हैं। इङ्गलैण्ड का कॉमन लॉ प्राचीन रीति रिवाजों का ही संग्रह है।

(२) धर्म—

धर्म का आरम्भ से ही मनुष्य-जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। प्राचीन काल में रीति-रिवाजों तथा धार्मिक नियमों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था और

उनमें कोई भेद नहीं समझा जाता था। अनेक रीति-रिवाज तो ऐसे थे जो धर्म के ही अङ्ग माने जाते थे। समाज में जितने नियम बनाये जाते थे उन पर धर्म की दृष्टि से विचार किया जाता था, उन नियमों का उल्लंघन पाप समझा जाता था और ऐसा विश्वास किया जाता था कि उनका उल्लंघन करने पर ईश्वर दण्ड देगा। इस प्रकार रीति-रिवाज अधिक पुष्ट हो जाते थे और लोग उनका अच्छी प्रकार पालन करते थे। विल्सन ने बतलाया है कि रोम के प्रारम्भिक कानून धार्मिक नियमों के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं थे। भारतवर्ष में तो व्यक्ति के समस्त जीवन पर धर्म का बड़ा नियंत्रण रहा है और हिन्दुओं के अधिकांश सामाजिक नियम उनके धर्म-ग्रन्थों के आधार पर स्थित हैं। आजकल भी हिन्दुओं के वैयक्तिक कानून (हिन्दू लॉ) का आधार धर्मशास्त्र है। इसी प्रकार मुसलमानों के वैयक्तिक कानून (मुस्लिम लॉ) कुरान तथा शरियत के आधार पर बने हुए हैं।

(३) न्यायालयों के निर्णय—

न्यायाधीश न्याय करते समय केवल कानूनों को लागू ही नहीं करते, वे बहुधा नये कानून का निर्माण कर देते हैं। कई बार उनके सामने ऐसे अभियोग आते हैं जिनके सम्बन्ध में कानून अस्पष्ट होता है। ऐसे अवसर पर उन्हें अपनी न्याय बुद्धि और नैतिकता के अनुसार कानून की सूक्ष्म व्याख्या करनी पड़ती है और उसे स्पष्ट करना पड़ता है तथा उस व्याख्या के अनुसार अपना निर्णय देना पड़ता है। इस तरह वे कानून का विस्तार करते हैं और एक प्रकार से नये कानून की सृष्टि करते हैं। बड़े-बड़े न्यायाधीशों के पेचीदा मामलों में दिये हुए निर्णय आगे के लिये प्रमाण बन जाते हैं और दूसरे न्यायाधीश निर्णय करने में उनका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार बने हुए कानून न्यायाधीश निर्मित कानून कहे जा सकते हैं।

(४) न्यायाधीश की न्याय-भावना (Equity)—

न्यायाधीश अस्पष्ट कानूनों को अपनी व्याख्या द्वारा स्पष्ट करने के अतिरिक्त एक काम और करते हैं। कभी-कभी उनके सामने ऐसे अभियोग भी आते हैं जिनके सम्बन्ध में कानून मौन होता है। ऐसे मौकों पर वे अपने विवेक तथा अपनी न्याय भावना के अनुसार अपना निर्णय देते हैं और नये कानून का निर्माण करते हैं। इस स्रोत को हम तीसरे में ही शामिल कर सकते हैं क्योंकि इस प्रकार बना हुआ कानून भी न्यायाधीश निर्मित ही है।

(५) वैज्ञानिक विवेचन—

उपर्युक्त रीति से जो काम न्यायाधीश करते हैं वही काम अन्य क़ानून विशारद भी करते हैं। प्रत्येक देश में प्रत्येक युग में बड़े-बड़े नीतिज्ञ, दार्शनिक और क़ानून-विशारद हुए हैं जिन्होंने बड़े परिश्रम से आचार-विचार के नियमों का संग्रह और विवेचन किया है। भारतवर्ष में मनु, याज्ञवल्क्य तथा विज्ञानेश्वर ; ग्रीस में सोलन, इङ्गलैण्ड में कोक और ब्लेकस्टोन, अमेरिका में स्टोरी और केण्ट इसी प्रकार के क़ानून-विशारद हुए हैं। आजकल भी बड़े-बड़े अधिकारी क़ानून-विशारद, क़ानून की व्याख्या और समालोचना करते हैं, जिसके द्वारा क़ानून स्पष्ट हो जाता है और उसका विस्तार होता है। वे कभी-कभी क़ानून की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाते हैं और उनको दूर करने के लिये सुझाव प्रस्तुत करते हैं। अधिकारी विशारदों के मत का न्यायाधीश आदर करते हैं और न्याय करते समय उसको क़ानून के समान प्रामाणिक मानकर उसका उपयोग करते हैं।

(६) विधान-मण्डल (धारा-सभा)—

क़ानून का यह स्रोत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जितने भी लिखित क़ानून हैं वे सब किसी अधिकारी व्यक्ति या संस्था द्वारा बनाये हुए होते हैं। निरंकुश राज्यों में क़ानून बनाने का अधिकार राजा को ही होता है परन्तु जनतन्त्रीय राज्यों में यह अधिकार जनता के प्रतिनिधि विधान-मण्डलों को होता है जो नये क़ानून बनाते हैं और पुराने क़ानूनों में संशोधन करते हैं या उन्हें अनावश्यक समझकर रद्द करते हैं। आजकल अधिकांश क़ानून इन्हीं संस्थाओं द्वारा बनाये जाते हैं। कहीं-कहीं जहाँ प्रत्यक्ष जनतन्त्र है वहाँ समस्त नागरिक भी मिलकर क़ानून निर्माण करते हैं। विधान-मण्डलों द्वारा निर्मित क़ानून जनता की अभिव्यक्त इच्छा ही है। क़ानून बनाने की इस परिपाटी के कारण अब क़ानून के अन्य स्रोतों का महत्त्व बहुत कम हो गया है। रीति-रिवाज का स्थान अब धारा-सभा द्वारा निर्मित सुनिश्चित क़ानूनों ने ले लिया है। क़ानून बनाते समय विधान-मण्डल द्वारा समुचित विचार होने तथा एक ही विषय से सम्बद्ध विभिन्न क़ानूनों का संग्रह करने के कारण अब न्यायाधीश-निर्मित क़ानूनों का क्षेत्र भी संकुचित हो गया है और शास्त्रीय व्याख्याएँ अब मुख्यतः विवाद में काम आती हैं। नये क़ानून के निर्माण में रीति-रिवाज, धार्मिक मत, विवेक-भावना आदि भी काम करते हैं परन्तु अब क़ानून के स्रोत के रूप

में उनका महत्व नहीं रहा, वे केवल प्रभाव डालने वाले तत्व के रूप में रह गये हैं।

राजकीय कानून के भेद—

राजकीय कानूनों के भेद अनेक प्रकार के बनाये जा सकते हैं। हॉलैण्ड ने राजकीय कानून दो प्रकार के बताये हैं—निजी (Private) और सार्वजनिक (Public)। जो कानून नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करते हैं जैसे सम्पत्ति, वसीयत, ऋण आदि के सम्बन्ध में, वे निजी कानून कहलाते हैं। ऐसे मामले व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में ही होते हैं। जो कानून व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं वे सार्वजनिक कानून होते हैं। जब कोई व्यक्ति राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करता है जैसे चोरी, डकैती अथवा हत्या करके, तो उसका मुकद्दमा सार्वजनिक कानून के अनुसार होता है। ऐसे अपराधों में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को हानि पहुँचाता है परन्तु ऐसे अपराध सार्वजनिक शान्ति एवं व्यवस्था में भी बाधक होते हैं। चूँकि सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था की रक्षा करना राज्य का काम है इसलिये इस प्रकार के अपराध राज्य के विरुद्ध समझे जाते हैं। सार्वजनिक कानूनों में वे कानून भी सम्मिलित होते हैं जिनका राज्य के सङ्गठन तथा शासन की शक्तियों के वितरण से सम्बन्ध होता है और जो वैधानिक भी कहलाते हैं।

राजकीय कानूनों में राष्ट्रीय (Municipal or National) और अन्तर्राष्ट्रीय (International) कहकर भी भेद किया जाता है। हॉलैण्ड द्वारा निर्दिष्ट निजी और सार्वजनिक कानून राष्ट्रीय कानून हैं क्योंकि उनके द्वारा राज्य के अन्दर व्यक्ति व्यक्ति और व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन होता है। विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का नियमन करने वाले कानून अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं।

राजकीय कानूनों का एक तीसरे प्रकार से भी वर्गीकरण किया जाता है—वैधानिक तथा साधारण। वैधानिक कानून की व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। राज्य के अन्दर शेष जितने कानून रह जाते हैं वे सब साधारण कानून कहलाते हैं। *साधारण कानून भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं।* कानून के स्रोतों का उल्लेख करते समय हम उनकी कुछ चर्चा कर आये हैं। जिस ढंग के अनुसार कानून का निर्माण होता है उसके अनुसार साधारण कानून निम्न प्रकार के हो सकते हैं।

(१) साधारण कानून या विधि (Statute law) जो राज्य के विधान-

मण्डल द्वारा बनाये जाते हैं। कई देशों में वैधानिक क़ानून का निर्माण भी विधान-मण्डल करते हैं परन्तु इन दोनों प्रकार के कानूनों में भेद है जिसका उल्लेख अभी हो चुका है।

(२) अध्यादेश (Ordinance)—असाधारण परिस्थिति में राज्य के मुख्य अधिकारी को अस्थायी कानून बनाने का अधिकार रहता है। जितने समय के लिये वे बनाये जाते हैं उसके बाद वे अपने आप ही रद्द हो जाते हैं। उनकी अवधि का विस्तार भी हो सकता है या निर्दिष्ट विधि के अनुसार अवधि के पहले भी वे रद्द हो जाते हैं या किये जा सकते हैं।

(३) न्यायाधीश निर्मित क़ानून जिसका स्पष्टीकरण ऊपर हो चुका है।

(४) रीति रिवाज तथा प्राचीन परम्पराओं पर आश्रित क़ानून। इसका वर्णन भी ऊपर किया जा चुका है।

(५) प्रशासनीय क़ानून (Administrative Law)—ऐसे कानून प्रत्येक देश में नहीं होते। इङ्गलैंड, अमेरिका तथा भारतवर्ष में इस प्रकार के क़ानून नहीं हैं। फ्रान्स तथा योरोप के कई अन्य देशों में प्रशासनीय कानून हैं जिनके द्वारा सरकारी कर्मचारियों की विशेष स्थिति और तत्सम्बन्धी उत्तरदायित्व स्थिर किये जाते हैं और उनके प्रति नागरिकों के अधिकारों का निर्देश किया जाता है। यदि कोई कर्मचारी सरकारी कर्मचारी की हैसियत से सरकारी कर्तव्य पालन करते समय कोई अपराध करता है तो उसका न्याय एक पृथक् न्यायालय—प्रशासनीय न्यायालय—में प्रशासनीय क़ानून के अनुसार होता है। उनका मामला साधारण न्यायालयों में नहीं जाता।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून—ये वे क़ानून हैं जिनके द्वारा विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन होता है। वे कानून विभिन्न राज्यों में आपस में की हुई संधियों, पारस्परिक समझौतों, प्रथाओं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के निर्णयों और उनके आधार पर निर्मित नियमों पर आश्रित रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून वहीं तक राजकीय क़ानून की कोटि में आते हैं जहाँ तक राज्य उन्हे अपना क़ानून मानकर देश में लागू करता है। जिन कानूनों को राज्य स्वीकार नहीं करता वे राजकीय क़ानून नहीं कहे जा सकते।

यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को स्वीकार करना या न करना

राज्य की इच्छा पर निर्भर है। स्वीकार कर लेने पर भी यदि कोई राज्य उनका उल्लघन करता है तो उस राज्य को दण्ड देने की कोई व्यवस्था नहीं है। इसी कारण बहुत से कानून विशारद जिनमें ऑस्टिन जैसे विश्लेषणवादी मुख्य हैं, उनको कानून की कोटि में रखने के लिये तैयार नहीं हैं। उनके मत के अनुसार कानून प्रभु का उसके अधीनस्थ जनता को आदेश होता है, उसका स्रोत सुनिश्चित होता है, जनता को उसका पालन करना पड़ता है और उल्लघन होने पर प्रभु द्वारा निर्दिष्ट ढंग से न्यायालय द्वारा दण्ड दिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इन बातों में से एक भी नहीं है। वह किसी प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता का आदेश नहीं है, उसका स्रोत भी सुनिश्चित नहीं है, राज्य उसे मानने या न मानने में स्वतन्त्र हैं और उनका उल्लघन करने वाले राज्य को दण्ड देने को युद्ध के अतिरिक्त कोई व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय कानून कानून नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार के नियम हैं जिनका पालन युद्ध या अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत के भय से होता है।

इस मत के विपरीत, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, मेन जैसे ऐतिहासिक कानूनज्ञों का कथन है कि कानून आवश्यक रूप के प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता का सुनिश्चित आदेश नहीं होता, उसमें कई प्राचीन रीति रिवाज भी शामिल होते हैं जिनको किसी प्रभु ने कभी जन्म नहीं दिया। कानून की वास्तविक कसौटी दण्डभय नहीं, जनता का नैतिक अनुमोदन और उसके फलस्वरूप उसकी सामान्य मान्यता है। राज्य में कई सुनिश्चित कानून होते हैं जिनका पालन नहीं होता और जनता के विरोध के भय से शासन उन पर अमल करवाने का प्रयत्न नहीं करता। इस दृष्टि से कानून वास्तव में उन नियमों के समूह का नाम है जिनको कानूनी रूप दे दिया गया है, जिनको सामान्यतया लोकमत का समर्थन प्राप्त है और जिनका पालन वे लोग करते हैं जिनके आचरण का नियमन करने के लिये वे बनाये गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को हम यदि इस कसौटी पर कसें तो वह ठीक उतरता है और कानून की कोटि में आ जाता है।

यह समस्त विवाद परिभाषा का है। यदि हम कानून के आदेशात्मक सिद्धान्त को स्वीकार करें तो 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून' पद में ही विरोधोक्ति है। आदेश देने वाला और उस पर अमल करवाने वाला कोई सुनिश्चित राजनीतिक प्रभु होना चाहिये। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून को वास्तविक कानून बनाने के लिये एक विश्व राज्य और विश्व प्रभु होना चाहिये

और यदि वह वास्तविक कानून है तो वह एक विश्व राज्य का राष्ट्रीय कानून हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के अनुसार आदेश प्रभु द्वारा अधीन लोगों को दिया जाता है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून तो समान राज्यो के पारस्परिक समझौते द्वारा बनाये हुए नियम हैं, किसी सर्वोपरि शक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून नैतिक नियमों का संग्रह मात्र रह जाता है। किन्तु यदि वास्तव मे देखा जाय तो यह कानून नैतिक नियमो का संग्रहमात्र ही नहीं है। उसके स्रोत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो को एक प्रकार की राजनैतिक सत्ता मे है, उनके द्वारा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धो का नियमन होता है और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे उनका प्रयोग भी होता है। उनके भङ्ग किये जाने पर आर्थिक बहिष्कार, कूटनीतिक बहिष्कार आदि दण्ड दिये जाते हैं और कभी-कभी भङ्ग करने वाले राज्य मे सशस्त्र हस्तक्षेप भी होता है, जिस प्रकार कुछ वर्ष पहले उत्तरी कोरिया मे हुआ था। ससार के अधिकांश राष्ट्र उन्हें मानते भी हैं और उनके अनुसार आचरण भी करते है। उनका आधार भी वही अनुमति और बल है जो राजकीय कानून और राजनीतिक प्रभु का होता है। इन्ही बातो को देखते हुए गेटेल का कथन है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपूर्ण रूप से संगठित राजनीतिक संसार मे एक अर्ध-विकसित और अपूर्ण कानून है तो भी उसके नियम कानून की सीमा पर जा पहुँचे हैं और केवल नैतिक नियमों का संग्रहमात्र न हो कर वह वास्तविक कानून है। उनमें जो त्रुटियाँ हैं वे वही हैं जो विकास की प्रारम्भिक अवस्था में सभी कानूनी व्यवस्थाओं में होती हैं। यदि हम क़ानून की परिभाषा को कुछ विशद कर दें ताकि उसमें किसी जनसमूह के बाह्य आचरण के वे सब नियम आ जायँ जिन पर उस जनसमूह को आन्तरिक विवेक बुद्धि नहीं वरन् सामान्य अनुमति से कोई बाह्य शक्ति अमल करवा सके तो अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के नियम वास्तविक क़ानून कहे जा सकते हैं।*

प्राकृतिक कानून और मानवीय कानून—

इस अध्याय के आरम्भ में हमने कानून शब्द के अनेक अर्थों का उल्लेख किया था और मोटी तोर पर क़ानून का त्रिविध वर्गीकरण किया था—प्राकृतिक, नैतिक तथा मानवीय (जिनका मनुष्य के बाह्य आचरण

*Gettell : Political Science. p. 455.

से सम्बन्ध होता है)। यहाँ इन विभिन्न प्रकार के क़ानूनों के भेदों पर कुछ विशेष प्रकाश डालना उचित होगा।

जिस प्रकार क़ानून शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उसी प्रकार प्राकृतिक क़ानून के भी अनेक अर्थ हैं। एक अर्थ में तो इससे प्रकृति (भौतिक) जगत की घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकट करने वाले नियमों का बोध होता है। इस अर्थ में यदि हम इन क़ानूनों को भौतिक क़ानून कहें तो अनुचित नहीं होगा। सामाजिक समझौते वालों ने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था में काम में आने वाले नियमों को प्राकृतिक क़ानून कहा है। नागरिकों की सर्वोच्च एवं सर्वतोमुखी उन्नति के लिये जो आदर्श क़ानून किसी भी राज्य में माने जाने चाहिये उन्हें भी ग्रीन जैसे लेखकों ने प्राकृतिक क़ानून कहा है।* इसी प्रकार प्राकृतिक क़ानून के अन्य अर्थ भी हैं।

भौतिक नियमों के अर्थ में प्राकृतिक क़ानून और मानवीय क़ानून में बड़ा अन्तर है। भौतिक नियमों से यह प्रकट होता है कि भौतिक जगत में घटनाएँ किस प्रकार घटती हैं परन्तु मानवीय क़ानून बतलाते हैं कि मनुष्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिये; वे मनुष्य के आचरण पर नियन्त्रण लगाते हैं। भौतिक नियमों की प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण द्वारा खोज की जाती है, वे बनाये नहीं जाते किन्तु मानवीय क़ानूनों का मनुष्य द्वारा निर्माण होता है। भौतिक नियम सर्वदा सत्य हैं और उनके अनुसार सदा काम होता रहता है, चाहे मनुष्य जाने या न जाने। किन्तु मनुष्यकृत मानवीय नियमों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती; कुछ लागू किये जा सकते हैं, कुछ नहीं और कुछ अनावश्यक प्रमाणित होने पर रद्द कर दिये जाते हैं। यदि कोई घटना भौतिक नियम के प्रतिकूल होती है तो वह घटना गलत नहीं होती वरन् यही समझा जाता है कि उस नियम में त्रुटि थी और उस त्रुटि को दूर कर सत्य नियम की खोज की जाती है। किन्तु यदि मनुष्य किसी मानवीय क़ानून के विपरीत आचरण करता है तो क़ानून गलत नहीं समझा जाता, उसका आचरण ही क़ानून विरुद्ध और दण्डनीय समझा जाता है। भौतिक नियम सर्वत्र और सदा स्थिर, निश्चित और एक से होते हैं; उनका भंग नहीं हो सकता और उनके विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु मानवीय क़ानून देशकाल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न होते हैं और बदलते रहते हैं। उनका विरोध हो सकता है और वे भङ्ग भी किये जा सकते हैं।

* Green : Lectures on the Principles of Political Obligation, p. 33.

मानवीय व्यवहार का नियमन करने वाले नियमों के रूप में प्राकृतिक कानून के अर्थ के सम्बन्ध में, जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, बड़ा मत-भेद है और उसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा देना सम्भव नहीं है। समय-समय पर इसके अलग-अलग अर्थ किये गये हैं। प्राकृतिक कानून की कल्पना सबसे पहले यूनानी दार्शनिकों ने की थी। उनका विश्वास था कि विश्व का सञ्चालन किसी आधारभूत सिद्धान्त द्वारा होता है। इस सिद्धान्त को उन्होंने प्रकृति का नाम दिया। उनके विचार के अनुसार भौतिक और नैतिक जगत की घटनाएँ कुछ सरल और सामान्य नियमों के अनुसार होती हैं जिन्हें प्राकृतिक नियम कह सकते हैं। यह कल्पना स्टॉइक (Stoic) दार्शनिकों के मस्तिष्क में विकसित हुई। उन्होंने बतलाया कि विश्व का सञ्चालन करने वाला सिद्धान्त ईश्वरीय विवेक है और प्राकृतिक नियम उसी ईश्वरीय विवेक की अभिव्यक्ति हैं। मनुष्य भी विश्व का अङ्ग है, इस कारण उसका भी नियमन यही विवेक करता है। इस प्रकार प्राकृतिक नियम विवेक के नियम के अतिरिक्त कुछ नहीं है और बुद्धि के द्वारा उनका पता लगाया जा सकता है। ईश्वरीय विवेक पर आधारित होने के कारण ये नियम नित्य और सर्वत्र सत्य हैं। समस्त राज्यों के कानून इन्हीं नियमों के अनुरूप होने चाहिये।

जब रोम ने ग्रीस पर विजय प्राप्त कर ली तो प्राकृतिक नियम का सिद्धान्त रोम की कानून व्यवस्था में प्रविष्ट हो गया। पहले रोम में केवल एक प्रकार का कानून था—'जस सिविल' (Jus Civile)—जो केवल रोमन लोगों पर लागू होता था परन्तु बाद में स्टॉइक दार्शनिकों के प्रभाव के और कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण एक दूसरे प्रकार का कानून 'जस जेन्टियम' (Jus Gentium) का निर्माण हुआ जो रोम के अधीन उन समस्त जातियों के लिये था जिन पर 'जस सिविल' लागू नहीं हो सकता था। धीरे-धीरे यह विश्वास बन गया कि 'जस जेन्टियम' वास्तव में प्राकृतिक कानून है जो समस्त जातियों पर लागू हो सकता है और 'जस जेन्टियम' का नाम भी 'जस नेचुरल' (Jus Naturale) हो गया। बाद में मध्य-युग के धार्मिक तथा दार्शनिक लेखकों ने भी इस कल्पना को अपनाया। इस प्रकार यह कल्पना कानून के क्षेत्र से धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जा पहुँची और प्राकृतिक कानून एक नैतिक आदर्श बन गया। कई लेखकों ने उसकी ईश्वरीय नियम से एक-रूपता बनाई और इस प्रकार यह आवश्यक हो गया कि राजा उसके

अनुसार शासन करे तथा प्रजा उनका पालन करे। यदि राजा प्राकृतिक नियमों अर्थात् ईश्वरीय नियम का उल्लंघन करे तो प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करने के कर्त्तव्य से मुक्त हो जाती है। इस विचार में हमें आधुनिक प्रजातन्त्रीय विचारों का पूर्वाभास मिलता है।

आधुनिक युग में हॉब्स, लॉक, स्पिनोजा, रूसो आदि ने अपने समझौते के सिद्धान्त की नींव प्राकृतिक अवस्था और उसमें काम में आने वाले प्राकृतिक कानून पर रखी परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, इन लोगों की प्राकृतिक कानून की कल्पना समान नहीं थी। आगे चलकर इस कल्पना का प्रयोग व्यक्तिवाद के समर्थन में हुआ। स्पेन्सर ने बतलाया कि प्राकृतिक कानून केवल एक है और वह है मनुष्यों की स्वतन्त्रता का समान अधिकार। इसके आधार पर उसने व्यक्तिवाद का समर्थन किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृतिक कानून के विषय में एकमत का बिलकुल अभाव है। प्राकृतिक कानून ही क्या, प्रकृति शब्द के ही अनेक अर्थ किये जाते हैं। ब्राइस ने बतलाया है कि रोमन कानूनज्ञ प्रकृति शब्द का प्रयोग ६ अर्थों में करते थे। ऐसी दशा में प्राकृतिक कानून की कल्पना का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं रह जाता। हाँ, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि उसे मानने वाले कई अधिकारी लेखकों का उद्देश्य कुछ ऐसे आदर्श नियमों को बताना रहा है जिन पर व्यावहारिक जीवन में आचरण हो सके। आज भी हम इस कल्पना को आदर्श कानून के अर्थ में ग्रहण करते हैं और उसके आधार पर राजकीय नियमों में सुधार होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त इस कल्पना का आधुनिक कानून पर कई प्रकार से प्रभाव पड़ा है। हमने ऊपर कानून के स्रोतों में विवेक की चर्चा की है जो स्टॉइक दार्शनिकों की कल्पना के अनुसार प्राकृतिक कानून का तत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार में भी प्राकृतिक कानून की कल्पना विद्यमान है। जूरी द्वारा जो न्याय होता है उसमें भी इस कानून की कल्पना काम करती है क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि कई मनुष्य मिलकर स्वाभाविक न्याय को अधिक अच्छी तरह प्रकट कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त आजकल प्रत्येक सभ्य राज्य में जीवन और सम्पत्ति के अधिकार सुरक्षित रहते हैं जो प्राकृतिक कानून की धारणा के अनुकूल है।

इस प्रकार यदि हम प्राकृतिक कानून को आदर्श कानून के अर्थ में ग्रहण करें तो भी हमें प्राकृतिक कानून और मानवीय कानून में बड़ा अन्तर

दिखाई देता है। प्राकृतिक कानून आदर्श हैं। उनका किसी ने निर्माण नहीं किया, विवेक और तर्क से उनकी केवल कल्पना की जा सकती है। इसके विपरीत मानवीय कानून मनुष्यकृत और सुनिश्चित होते हैं। आदर्श होने के कारण प्राकृतिक कानून सर्वत्र और सदा एक रहते हैं परन्तु मानवीय कानून देश काल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रारम्भिक क़ानून आदर्श होने के नाते परिपूर्ण और त्रुटिरहित होते हैं परन्तु मानवीय कानून पूर्णता मे उनको नही पाते, उनमें अनेक त्रुटियाँ रहती हैं जिनका समय-समय पर सशोधन द्वारा निराकरण किया जाता है। सर्वत्र मानवीय कानूनों को यथासम्भव पूर्ण और निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया जाता है और इस प्रकार आदर्श कानून तक पहुंचने की कोशिश की जाती है।

राजकीय क़ानून और नैतिक क़ानून—

दूसरे अध्याय मे हम राज्य-विज्ञान और नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन कर चुके हैं और उसके द्वारा राजकीय कानून और नैतिक कानून का पारस्परिक सम्बन्ध भी बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है। कानून और नैतिकता के सम्बन्ध का अध्ययन करते समय हमें नैतिकता के दो रूपों में भेद करना चाहिये। सिजविक ने आदर्श नैतिकता (Individual morality) और यथार्थ नैतिकता (Positive morality) मे भेद किया है। आदर्श नैतिकता से तात्पर्य व्यक्ति की नैतिक भावना, उसकी उचितानुचित, भले-बुरे की भावना का है। इस प्रकार वह वैयक्तिक नैतिकता है। यथार्थ नैतिकता से तात्पर्य सामाजिक नैतिकता का है। किसी भी समय समाज मे उचितानुचित तथा भले-बुरे की जो सामान्य भावना होती है उसे सिजविक ने यथार्थ नैतिकता कहा है। जब हम क़ानून और नैतिकता की तुलना करते हैं तो वह तुलना कानून और यथार्थ नैतिकता की होती है।

कानून और नैतिकता मे बहुत अन्तर है। नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र से होता है। उसका उद्देश्य व्यक्ति की सुप्रवृत्तियों को जागृत करना और दुष्प्रवृत्तियों को दबाकर उसके चरित्र की उन्नति करना है। वह उचितानुचित, अच्छे-बुरे का भेद बतलाकर व्यक्ति को आदर्श जीवन बिताने के लिये प्रेरित करती है। वह बतलाती है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इसके विपरीत कानून का आशय केवल व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करना है जिससे राज्य में

सुव्यवस्था बनी रहे और इस दृष्टि से वह बतलाता है कि व्यक्ति क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता। नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आचरणों से रहता है अर्थात् उसका सम्बन्ध मन, वचन, कर्म सभी से है जब कि कानून का सम्बन्ध व्यक्ति के केवल बाहरी आचरण से है। उदाहरणार्थ, कानून तो यही बताता है कि चोरी नहीं करनी चाहिये और चोरी करने पर वह दण्ड देता है। नैतिकता भी बतलाती है कि चोरी बुरी है परन्तु इसके साथ ही वह यह भी बताती है कि चोरी करने का विचार भी बुरा है। कानून तो उसी समय दण्ड देता है जब कोई काम कानून के विरुद्ध हो, केवल विचार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु नैतिकता बुरे विचार तथा बुरे काम दोनों को बुरा बतलाती है। इतना ही नहीं, क़ानून बहुत से ऐसे कामों की ओर जो नैतिक दृष्टि से बुरे हैं ध्यान नहीं देता, जैसे कृतघ्न और धोखेबाज मनुष्य को यह जानते हुए भी कि वह कृतघ्न और धोखे-बाज है वह तब तक दण्ड नहीं देता जब तक कि उसके इन दुर्गुणों के कारण किसी प्रकार सुव्यवस्था को हानि नहीं पहुँचती। इस प्रकार के नैतिक दोष क़ानून की दृष्टि में दोष नहीं हैं। इसके साथ ही यह ऐसे कामों के लिये दण्ड देता है जिनमें नैतिक दृष्टि से कोई दोष नहीं है जैसे सड़क पर दाहिनी ओर चलना या रात को साइकिल पर बिना रोशनी के चढ़ना। सारांश में, क़ानून का सम्बन्ध व्यक्ति के बाह्य आचरणों से भी उसी सीमा तक है जहाँ तक वे समाज की शान्ति एवं सुव्यवस्था पर प्रभाव डालते हैं, इससे आगे नहीं। कानून निश्चित होते हैं, उन्हें या तो राज्य बनाता है या मान्यता देता है और उनके पीछे राज्य का बल रहता है। उनका उल्लंघन होने पर राज्य दण्ड देता है। किन्तु नैतिक कानून सुनि-श्चित नहीं होते। उनके विषय में दो व्यक्तियों में मत-भेद हो सकता है और उनका स्रोत व्यक्ति की नैतिकता की भावना में रहता है। उनका पालन व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के आदेश से या लोकमत के भय से करता है।

किन्तु इतना अन्तर होते हुए भी दोनों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध भी है। मानवीय क़ानून और नैतिक कानून दोनों का सम्बन्ध मनुष्य के आच-रण से है और चूँकि मनुष्य वही है इस कारण इन दोनों में कुछ समा-नता होना स्वाभाविक है। दोनों की उत्पत्ति सामाजिक जीवन के प्रारम्भिक युग में मनुष्य की आदतों और उसके अनुभवों से हुई, जब कि नैतिक और

राजनैतिक विचारों में कोई भेद नहीं था। प्राचीन काल में दोनों एक ही थे। किन्तु जब राज्य ने एक स्पष्ट संस्था का रूप धारण कर लिया और राजकीय कानून नैतिक नियमों से पृथक् हो गये तो भी दोनों का सम्पर्क बना रहा। समाज में जिन नैतिक विचारों का प्राधान्य होता है उनका समावेश राज्य के क़ानूनों में धीरे-धीरे हो जाता है तथा जो कानून समाज की नैतिक भावना के प्रतिकूल होते हैं उन पर अमल नहीं हो पाता और उन्हें रद्द करना पड़ता है। जो कानून समाज पर ऐसे नैतिक विचार लादना चाहता है जिनके लिये वह तैयार नहीं, उन पर भी अमल नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में मद्य-निषेध का उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार नैतिकता सदा क़ानून पर प्रभाव डालती रहती है। इसके साथ ही किसी अंश तक कानून भी समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक देश में समाज का नैतिक आदर्श होता है और वह कानून की सहायता से उस आदर्श तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। किसी समाज का नैतिक आदर्श कैसा है यह उसके कानून को देखकर मालूम किया जा सकता है। क़ानून समाज की नैतिकता का दर्पण है।

क़ानून का उद्देश्य—

हम अभी क़ानून और नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए बतला आये हैं कि कानून समाज को अपने नैतिक आदर्श की ओर बढ़ाने में सहायक होते हैं। इससे हमें कानून के उद्देश्य का आभास मिलता है। यहाँ हम इस विषय पर विस्तार से विचार करेंगे। जैसा हम बतला चुके हैं कानून मनुष्य के बाह्य आचरण के नियम हैं। ये नियम अनेक प्रकार के हैं परन्तु जिन नियमों को राज्य स्वीकार कर लेता है या बनाता है वे क़ानून की कोटि में आते हैं। इस तरह एक प्रकार से, जैसा कि ऐतिहासिक क़ानून विशारदों ने कहा है, कानून राज्य से भी पहले की वस्तु है। वास्तव में नियम सामाजिक जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। जहाँ कई लोग मिलकर एक साथ रहते हैं वहाँ नियमों का होना अनिवार्य है। नियमों द्वारा मनुष्य की स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण लगता है। यदि नियम न हों तो प्रत्येक मनुष्य अपनी मनमानी करने लगेगा और ऐसी अवस्था में सामाजिक जीवन संकट में पड़ जायगा। जो शक्तिशाली होंगे वे अपने बल से निर्बलों का जीना हराम कर देंगे। इसीलिये जहाँ कई लोग मिलकर एक साथ रहते हैं वहाँ नियम अपने आप ही बन जाते हैं। प्रारम्भिक समाज में जब जीवन सरल था तब नियम थोड़े ही थे परन्तु

जब जीवन में जटिलता आने लगी तो नियमों की संख्या बढ़ने लगी और सामाजिक संगठन भी बढ़ने लगा। धीरे-धीरे राज्य का संगठन हुआ और जो नियम सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन के लिये बहुत ही आवश्यक थे उनका पालन कराने का भार राज्य ने ले लिया। इस प्रकार वे कानून बन गये। उनका प्राथमिक उद्देश्य था समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मनुष्य की अनियन्त्रित स्वतन्त्रता पर रुकावट डालकर वैयक्तिक शक्ति के प्रयोग के स्थान पर पारस्परिक सहयोग की भावना को प्रोत्साहन देना, लोगों के अधिकारों एवं कर्तव्यों की स्पष्ट व्याख्या करना और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करना आदि कामों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था कायम होती है और कानून का प्राथमिक उद्देश्य पूरा होता है। ग्रीन ने क़ानून की जो परिभाषा की है उसमें उसके उद्देश्य का स्पष्ट उल्लेख है। उसके अनुसार *अधिकारों और कर्तव्यों की जिस व्यवस्था पर राज्य अमल करवाता है उसी का नाम कानून है।* परन्तु कानून का काम इतने ही से पूर्ण नहीं हो जाता। हम ऊपर लिख चुके हैं कि कानून समाज को अपने नैतिक आदर्श की ओर अग्रसर होने में सहायता देता है। समाज का नैतिक आदर्श है व्यक्ति का अधिकतम नैतिक विकास और उसके द्वारा समाज की प्रगति। अधिकारों तथा कर्तव्यों की व्यवस्था से राज्य में सुव्यवस्था तो क़ायम हो सकती है परन्तु उससे व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायता भी मिलेगी इसकी गारण्टी नहीं दी जा सकती। अधिकारों और कर्तव्यों की व्यवस्था राज्य के उद्देश्य पर निर्भर रहती है। लास्की का कथन है कि कानून राज्य के उस लक्ष्य की पूर्ति करते हैं जो किसी भी समय राज्य में वर्तमान वर्ग-सम्बन्ध (Class-relations) द्वारा निर्धारित होता है। *इस तरह कानून का काम समाज के वर्तमान वर्ग-सम्बन्धों को क़ायम रखना होता है।* 'सामन्ती राज्य में राज्य का उद्देश्य वही होता है जो भूमिपतियों का होता है और कानून उसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। पूँजीवादी राज्य (जैसे इंगलैण्ड) में क़ानून के सार का निर्धारण पूँजीपतियों द्वारा होता है। समाजवादी राज्य (जैसे रूस) में, जहाँ उत्पादन के साधनों के सामान्य स्वाम्य (Common Ownership) के कारण एक वर्ग के हित समस्त समाज के हितों के अधीन हो गये हैं, क़ानून का सार इसी तथ्य के द्वारा निर्धारित होता है।'* यदि वर्तमान

* **Laski : A Grammar of Politics. p. IX-X.**

राज्यों के क़ानूनों पर दृष्टि डाली जाय तो लॉस्की के कथन की सत्यता प्रमाणित हो जायगी। किसी भी देश में राजनीतिक सत्ता उसी वर्ग के हाथ में होती है जिसके हाथ में आर्थिक सत्ता होती है। फलतः राज्य के कानून भी उसी के हित में होते हैं और ऐसे समाज मे व्यक्ति का पूर्ण विकास सम्भव नहीं होना। इसलिये व्यक्ति की उन्नति के मार्ग में बाधा डालनेवाली जितनी बुराइयाँ हैं (जैसे अज्ञान, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों मे असमानता आदि) उन्हे यथाशक्ति दूर करना और व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों को विकसित करने मे सहायता देने के लिये उसकी बाहरी आवश्यकताओं की पूर्ति करना क़ानून का दूसरा और अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्य हो जाता है। रॉस्को पाउण्ड ने क़ानून के चार प्रयोजन बतलाये हैं—(१) शान्ति-स्थापन, (२) सभी व्यक्तियों के लिये अवसर की समानता सुलभ करना, (३) व्यक्ति के विकास में उपस्थित बाधाओं का निराकरण और (४) व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति।* ये प्रयोजन वही है जिनका हमने अभी उल्लेख किया है।

अच्छे और बुरे क़ानून—

राज्य में सभी क़ानूनों का समान रूप से पालन नहीं होता। किन्हीं क़ानूनों का पालन लोग अपनी इच्छा से और सरलता से करते हैं, किन्हीं का पालन दण्ड के भय से होता है और कई क़ानून ऐसे होते हैं जिनका लोग दण्ड का भय होते हुए भी विरोध करते हैं। इस सम्बन्ध मे हम अच्छे और बुरे क़ानून के भेद पर कुछ प्रकाश डालेंगे। क़ानून-विशारद क़ानून के सम्बध मे अच्छे-बुरे के भेद को निरर्थक समझते हैं। उनका मत है कि अच्छा और बुरा यह नैतिक भेद है, क़ानून का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं, वे तो अपने स्वरूप में अनैतिक होते हैं। वे क़ानून इस कारण नहीं हैं कि उनका कोई नैतिक उद्देश्य है वरन् इस कारण हैं कि वे प्रभु के आदेश हैं जिनका पालन करना आवश्यक है। उन्हें क़ानून का स्वरूप इसी ज़रिये से मिलता है, न कि उनके उद्देश्य या आशय से। सभी क़ानून प्रभु के आदेश हैं, इस कारण सभी समान रूप से माननीय हैं। परन्तु यह मत मान्य नहीं हो सकता। क़ानून का केवल रूप (Form) ही नहीं होता, बिना आशय और उद्देश्य के क़ानून क़ानून

* R. Pound: An Introduction to the Philosophy of Law, p. 72-89. quoted in I. Ahmad: The First Principles of Pol., p. 192.

नहीं हो सकता। कानून बगैर उद्देश्य के नहीं हो सकते और वह उद्देश्य है सार्वजनिक कल्याण। कानून के अच्छे-बुरे की पहिचान इसी कसौटी पर होनी चाहिये। जो कानून इस उद्देश्य की पूर्ति करने में सहायक होता है वह अच्छा है और जो बाधक है वह बुरा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि क़ानून निष्पक्ष हो और समानता के सिद्धान्त का घातक न हो। ऐसा न हो कि किसी एक वर्ग को उसके उचित अधिकारों से भी अधिक प्राप्त हो सके और दूसरे वर्ग के न्यायोचित अधिकार भी छिन जायँ। उसे समाज की नैतिक भावना के अनुकूल होना चाहिये। बेन्थम ने अच्छे क़ानून के निम्नलिखित लक्षण बतलाये है : (१) स्थायित्व—क़ानून जल्दी-जल्दी नहीं बदलना चाहिये। इससे जनता को अड़चन होती है और उनका पालन करने का अभ्यास नहीं हो पाता। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होना चाहिये कि कानून आवश्यकता पड़ने पर भी न बदला जाय और स्थितिपालक बन जाय। यदि ऐसा हुआ तो वह प्रगति में बाधक हो जायगा। (२) व्यापकता—क़ानून निष्पक्ष रूप से समस्त जनता के लिये समान होना चाहिये। (३) सरलता—जिससे लोगों को उसे समझने में कठिनाई न हो। (४) पालने में सरलता—क़ानून ऐसा होना चाहिये जिसका लोग सरलता से पालन कर सकें। यदि उसका पालन करना कठिन होगा तो उसके भंग किये जाने की सम्भावना रहगी। बेन्थम ने अच्छे कानून के जो लक्षण बताये हैं वे ठीक हैं परन्तु उसने क़ानून की सच्ची कसौटी, उसके उद्देश्य—सार्वजनिक हित—की चर्चा नहीं की। किसी कानून में उसके बतलाये हुए सब लक्षण हो सकते हैं परन्तु यदि उससे सार्वजनिक हित की सिद्धि नहीं होती तो वह कानून अच्छा नहीं कहा जा सकता।

आजकल प्रायः सभी सभ्य देशों में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा क़ानून बनाने की व्यवस्था है जिससे अवांछित क़ानून बनने का डर नहीं रहता फिर भी ऐसे कानून बन जाने की संभावना रहती है जो हानिकर हों। ऐसे क़ानून का विरोध करना और उसे रद्द करवाना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। परन्तु इसके लिये प्रयत्न करने के पहले यह निश्चय करना आवश्यक है कि कानून वास्तव में बुरा है या नहीं। यदि वह क़ानून किसी की व्यक्तिगत हानि करता है तो वह बुरा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसकी कसौटी तो सार्वजनिक हित है। हाँ, यदि कोई क़ानून किसी पूरे वर्ग के विरुद्ध हो तो वह अवश्य बुरा है। किसी क़ानून को बुरा बतलाने

के पहले यह भी देख लेना चाहिये कि जनता में से अधिकांश समझदार व्यक्ति भी उसे बुरा समझते हैं या नहीं। जब यह निश्चय हो जाय कि कोई कानून वास्तव में बुरा है और समझदार व्यक्ति उसे बुरा समझते हैं तो उसे रद्द कराने के लिये नागरिक का कर्तव्य है कि जनता का ध्यान उसकी बुराइयों की ओर आकर्षित करे, अखबारों में लेख लिखे, सभाओं में भाषण दे, प्रदर्शन करे तथा सरकार के पास आवेदन-पत्र भेजे। इस आन्दोलन का परिणाम यह होगा कि सरकार को उस कानून के विरुद्ध जनमत का पता चल जायगा और वह उस पर पुनर्विचार करने को मजबूर होगी। यदि देश में जनता की प्रतिनिधि-संस्थाएँ हैं तो उनमें प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्ताव प्रस्तुत किये जायँ और चुनाव के समय उसी प्रश्न को सामने रखें। यदि देश में पूर्ण जनतन्त्र हो तो इस प्रकार के वैध आन्दोलन द्वारा उस क़ानून को रद्द करवाने में सफलता मिलेगी। परन्तु फिर भी यदि वह रद्द नहीं होता तो उस अन्यायपूर्ण कानून का विरोध आवश्यक हो जाता है। ग्रीन का मत है कि सभी वैध उपायों के असफल हो जाने पर विरोध उचित होगा, अनिवार्य नहीं क्योंकि सरकार का विरोध करने से राज्य को शान्ति और सुव्यवस्थाओं में बाधा पहुँचती है। सार्वजनिक शान्ति और सुव्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। एक या दो अन्यायपूर्ण बातों का मूल्य उसके सामने कुछ नहीं है। राज्य की अवहेलना करना सार्वजनिक शान्ति को खतरे में डालकर समस्त सामाजिक जीवन को अव्यवस्थित कर देना है और एक या दो आवश्यक अधिकारों की प्राप्ति के लिये अन्य समस्त अधिकारों की हानि का खतरा उठाना है।* लास्की का मत है कि यदि लोकमत मेरे पक्ष में न भी हो और मैं अन्याय से सहमत न हो सकूँ तो भी विरोध करना मेरा कर्तव्य है।† परन्तु विरोध करते समय उसके लिये एक अच्छे नागरिक की तरह दण्ड स्वीकार करने के लिये तैयार रहना चाहिये। दण्ड से दूर भागना कायरता ही नहीं, राज्य के प्रति, जिसने हमारे साथ इतनी भलाई की है, कृतघ्नता भी है। सुकरात ने सरकार का विरोध किया और सहर्ष मृत्यु-दण्ड स्वीकार किया। महात्मा गांधी का भी यही मत था। उन्होंने अहिंसात्मक असहयोग द्वारा जो उपाय अन्यायपूर्ण कानून के विरोध करने का बतलाया

---

* Green : Lectures on the Principles of Political Obligation, p, 115-120.

† Laski : A Grammar of Politics, p, 289-90.

वह अद्वितीय है। उससे सफलता मिलती है और साथ ही अव्यवस्था फैलने का डर नहीं रहता। परन्तु इस उपाय को बहुत सोच विचार कर और अनिवार्य होने पर ही काम में लाना चाहिये। क़ानून का विरोध करने का अधिकार साधारण नहीं है। यदि बारम्बार इस अधिकार का प्रयोग किया जाय तो जनता में क़ानून के लिये जो आदर-भावना होनी चाहिये वह शिथिल पड़ जायगी और उसके साथ राज्य की व्यवस्था में भी शिथिलता आ जायगी जो उसके अस्तित्व के लिये खतरनाक होगी।

अन्यायपूर्ण क़ानून का विरोध तो आवश्यक होता है परन्तु, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, अच्छे क़ानूनों पर अमल करना और दूसरों को उन पर अमल करने में सहयोग देना नागरिक का कर्तव्य है। राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिये स्वतन्त्रता देने के लिये क़ानूनों पर अमल करना आवश्यक होता है। इसी कारण जो लोग क़ानून तोड़ते हैं उन पर रुकावट लगाना आवश्यक होता है। प्रत्येक राज्य क़ानून का उल्लंघन करनेवालों को दण्ड देने की व्यवस्था करता है। सरकार का दण्ड देने का अधिकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता में उसी प्रकार बाधक नहीं होता जिस प्रकार क़ानून बाधक नहीं होते। वास्तव में अपराधी को दण्ड देकर ही राज्य नागरिकों को एक दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक होने से रोकता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और दण्डनीति पर हम आगे विचार करेंगे।

अध्याय ३

स्वतन्त्रता और समानता

प्रथम अध्याय में यह निर्देश किया गया था कि अनेक विचारकों का राज्य-प्रभुत्व के सिद्धान्त को अस्वीकार करने का एक कारण यह था कि यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रतिकूल है। यह प्रश्न किया जाता है कि यदि राज्य सर्वोपरि एवं सर्वशक्तिमान् हो तो व्यक्ति उसमें कैसे स्वतन्त्र रह सकता है। राज्य की सत्ता नागरिक की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण है। इन दोनों में सामंजस्य नहीं है। यदि राज्य स्वेच्छाचारी या निरंकुश हो तो व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकता और यदि व्यक्ति को स्वतन्त्रता हो तो राज्य की प्रभुता टिक नहीं सकती। राज्य-प्रभुत्व तथा नागरिक की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध पर इस प्रकार विचार करने का कारण है राज्य और उसके कार्यों के सम्बन्ध में गलत विचार। इसका विवेचन व्यक्तिवाद तथा अराजकता सम्बन्धी साहित्य में मिलता है। किन्तु यह सर्वथा गलत धारणा है। ये दोनों परस्पर सम्बन्धित विचार हैं। राज्य की प्रभुता के अभाव में व्यक्ति के लिये सच्ची स्वतन्त्रता सम्भव नहीं और राज्य के अस्तित्व का हेतु इस तथ्य में है कि यह प्रभुत्व-सत्ता के माध्यम द्वारा स्वतन्त्रता का वह वातावरण उत्पन्न करता है जिसमें व्यक्ति अपने जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है। इस अध्याय का उद्देश्य यह दिखलाना है कि स्वतन्त्रता राजनीतिक रूप में संगठित समाज में ही सम्भव है और प्रभु-सत्ता को माने बिना स्वतन्त्रता शब्द में कोई सार नहीं रहता। स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। अतः उन पर यहाँ विचार करना उचित होगा।

यथार्थ स्वतन्त्रता (Positive Liberty) तथा निषेधात्मक स्वतन्त्रता—

सबसे प्रथम यथार्थ तथा निषेधात्मक स्वतन्त्रता में भेद करना आवश्यक है। जब लोग यह कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये और उस पर आरोपित प्रत्येक प्रतिबन्ध अनुचित है अतः उसका अन्त कर दिया जाना चाहिये (जैसा कि अराजकतावादी मानते हैं), तो ऐसे

लोगों का तात्पर्य निषेधात्मक स्वतन्त्रता से होता है, जिसका अर्थ है स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्धमात्र का अभाव। इसे प्राकृतिक स्वतन्त्रता भी कहा जा सकता है। यह इस शब्द का अवैज्ञानिक प्रयोग है और लोग इसके अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं। साधारण रूप में इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी बाधा के अपनी इच्छानुसार कार्य करे। इसका अर्थ है व्यक्ति को अकेला छोड़ दिया जाय। जिन लोगों का ऐसा विश्वास है कि राजनीतिक समाज की स्थापना से पूर्व मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहते थे वे मानते हैं कि उस कल्पित अवस्था में लोग इसी प्रकार की स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे। नागरिक स्वतन्त्रता की स्थापना प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अतिक्रमण है। इसी प्रकार रूसो का विचार है कि सामाजिक समझौता (Social Contract) में मानव ने अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता तथा अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के असीमित अधिकार को खो दिया।

इस पर थोड़ा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो स्वतन्त्रता सब चाहते हैं और जो मानव-जीवन की सबसे आवश्यक और आधारभूत शर्त है वह इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं है। एक व्यक्ति की जैसा चाहे वैसा काम करने की स्वतन्त्रता एक समय में एक व्यक्ति के लिये ही हो सकती है। अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति ही ऐसी स्वतन्त्रता का भोग कर सकता है; दूसरे व्यक्तियों को उसका दास बनकर रहना पड़ेगा। इस प्रकार जो ऐसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता है वह अन्य व्यक्तियों की दासता होगी। यदि कुछ बलवान व्यक्ति हों, जो अपनी इच्छा को सन्तुष्ट करने की शक्ति रखते हों, तो उनमें लगातार संघर्ष होता रहेगा और इसका परिणाम यह होगा कि उनमें से कोई भी स्वतन्त्र नहीं होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक समय में समस्त व्यक्तियों की असीमित स्वतन्त्रता असम्भव है। यह अन्तर्विरोधी विचार है। एक व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता दूसरे व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतंत्रता का अतिक्रमण करेगी और इस प्रकार सबकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी। इस प्रकार प्राकृतिक स्वतन्त्रता कदापि सच्ची स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। यह स्वतन्त्रता का निषेध है। इस अर्थ में स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं की जा सकती।

नागरिक स्वतन्त्रता—

जिस वस्तु की आवश्यकता है और जो अभीष्ट है वह है यथार्थ स्वतन्त्रता (Positive Liberty)। इसका अर्थ है एक व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता परन्तु इस शर्त पर कि दूसरे व्यक्ति की

कार्य करने की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण न हो। यह प्रत्येक ऐसे कार्य करने की स्वतन्त्रता है, जिससे दूसरे को हानि नहीं होती। यही सर्वाधिक स्वतन्त्रता है, जिसकी एक व्यक्ति माँग कर सकता है अर्थात् व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार काम करने की उस समय तक स्वतन्त्रता हो जब तक वह इसी प्रकार की दूसरे की स्वतन्त्रता में कोई बाधा न डाले। इस प्रकार की स्वतन्त्रता सदैव सीमित होती है। इन प्रतिबन्धों का सब व्यक्तियों पर समान प्रभाव पड़ता है। यथार्थ स्वतन्त्रता का सब व्यक्ति समान शर्तों पर समान रूप से भोग करते हैं। इसके यथार्थात्मक और निषेधात्मक दोनों पहलू हैं। निषेधात्मक स्वतन्त्रता का अर्थ है दूसरों की ओर से स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप का अभाव। यथार्थात्मक पक्ष में उसका अर्थ है 'स्वतन्त्र कार्य करने का अधिकार,' आत्माभिव्यक्ति एवं आत्म-विस्तार की सुविधा। लास्की के शब्दों में स्वतन्त्रता अपना विस्तार करने की शक्ति है, बाहर से आरोपित किसी प्रतिबन्ध के बिना व्यक्ति द्वारा अपने जीवन का पथ पसन्द करने की स्वतंत्रता।

दूसरों के द्वारा स्वतंत्रता के उपभोग में हस्तक्षेप से मुक्ति प्राप्त करने के लिये किसी अधिकारी की आवश्यकता है। इस प्रकार की सत्ता बिना किसी समुचित केन्द्रीय संगठन के संभव नहीं। जो संगठन समस्त व्यक्तियों की प्राकृतिक स्वतंत्रता को सीमित करके समाज के समस्त व्यक्तियों के लिये दूसरों के हस्तक्षेप से मुक्त स्वतन्त्रता को प्राप्त करा सकता है वह राज्य ही है। अपनी प्रभुता के कारण और क़ानून की व्यवस्था द्वारा राज्य सब व्यक्तियों को समान स्वतन्त्रता की गारंटी देता है। यथार्थ स्वतन्त्रता राज्य में ही संभव है। वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के क्षेत्र को सीमित कर देने की राज्य की सत्ता द्वारा वास्तविक स्वतन्त्रता बनती है। इसे ही कभी-कभी नागरिक स्वतंत्रता (Civil Liberty) कहते हैं। राज्य की प्रभुता और निषेधात्मक या प्राकृतिक स्वतंत्रता में चाहे जो असंगति हो किन्तु राज्य-प्रभुत्व तथा नागरिक स्वतंत्रता में कोई विरोध या असंगति नहीं हो सकती। नागरिक स्वतन्त्रता से राज्य-सत्ता का विरोध तो तनिक भी नहीं है वरन् राज्य-सत्ता करने योग्य कामों को करने की स्वतन्त्रता के अस्तित्व के लिये आवश्यक है। राज्य-सत्ता के अभाव का अर्थ है नागरिक स्वतंत्रता का विनाश। रिची ने सत्य ही कहा है कि "आत्म-विकास के लिये सुयोग के अर्थ में स्वतन्त्रता क़ानून की सृष्टि है। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो राज्य के कार्य से स्वतन्त्र होकर रह सके। राज्य-सत्ता या क़ानून का पालन

स्वतन्त्रता की शर्त है, उसका निषेध नहीं।" लीकॉक के इन शब्दों में इसका सार मिलता है—"कोई भी स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्ति को छोड़, किसी के लिये पूर्ण एवं निरपेक्ष नहीं हो सकती। जो स्वतन्त्रता सबके उपभोग की है उसके लिये प्रत्येक व्यक्ति के कार्य पर अनिवार्य रूप से प्रतिबन्ध होता है। यह राज्य का कार्य है कि वह इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये और इस तरह स्वतन्त्रता को जन्म दे।"*

यह प्रमेय कि राज्य-सत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता परस्पर एक दूसरे से पृथक् नहीं होती वरन् राज्य-सत्ता स्वतन्त्रता के उपभोग के लिये अत्यन्त आवश्यक है, स्वतःसिद्ध सत्य मालूम होता है। लॉक के इस कथन को सरलता से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि जहाँ कोई क़ानून नहीं वहाँ कोई स्वतन्त्रता भी नहीं हो सकती। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि देश में अनेक क़ानून होते हैं किन्तु सभी क़ानून स्वतन्त्रता की गारंटी नहीं देते। परतंत्र राज्यों में विदेशी सत्ता प्रायः ऐसे क़ानून बनाती है जो राष्ट्रीय आकांक्षाओं का दमन करते हैं। ऐसे दमनकारी क़ानून स्वतंत्रता की शर्त नहीं कहे जा सकते। केवल वे ही क़ानून स्वतंत्रता की शर्त कहे जा सकते हैं जो न्यायपूर्ण तथा बुद्धिसंगत हैं और जो सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वतंत्रता स्वयं आरोपित क़ानून का पालन करने में है; उस क़ानून का पालन करने में नहीं जो हमारे आत्म विकास की प्रकृति को विफल कर देता है। मनुष्य उस समय स्वतंत्र नहीं होता जब कि उसे ऐसे क़ानूनों को मानना पड़ता है जिसे उसकी विवेक-बुद्धि अवाञ्छनीय ठहराकर अस्वीकार कर देती है और जिसका वह विरोध करता है। ऐसी परिस्थितियों में सत्ता तथा स्वतन्त्रता के बीच विरोध अवश्य है किन्तु जब तक राज्य स्वयं अपने प्रति सच्चा हो और वह अपने उच्च नैतिक ध्येय की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील रहता हो तब तक क़ानून नागरिकों को स्वतंत्रता की प्राप्ति में सहायता अवश्य देता है।

नागरिक स्वतन्त्रता का सार—

चूँकि यथार्थ स्वतन्त्रता, जिसका अर्थ है बिना किसी बाहरी बाधा के विस्तार तथा विकास करने की सत्ता, व्यक्ति के लिये राजनीतिक रूप से संगठित समाज द्वारा सम्भव है इसलिये उसका नाम नागरिक स्वतन्त्रता *अधिक उपयुक्त है। नागरिक स्वतन्त्रता राज्य द्वारा निर्मित एवं रक्षित*

*Leacock op. cit., p. 70.

अधिकारों तथा विमुक्तियों का नाम है जैसे शरीर की स्वतन्त्रता, जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा, कानून के समक्ष समता, अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता, भाषण तथा विचार एव कार्य की स्वतन्त्रता, जीविका की स्वतन्त्रता आदि। सक्षेप मे नागरिक की स्वतन्त्रता उन समस्त नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों से बनती है जिनकी राज्य द्वारा नागरिकों को गारण्टी दी जाती है। भिन्न-भिन्न युगों तथा राज्यों में ये अधिकार भिन्न-भिन्न रहे हैं। आज भी समस्त सभ्य राष्ट्र अपने नागरिकों को समान अधिकार नहीं देते। नागरिक स्वतन्त्रता की वह मात्रा जिसका हमारे देश-बन्धु ब्रिटिश राज्य मे उपभोग करते रहे हैं, उससे कहीं कम थी जिसका अँग्रेज़ अथवा फ्रेञ्च अपने देश में उपभोग करते हैं। इसका कारण यह है कि भारत में ब्रिटेन तथा फ्रास की भाँति लोकप्रिय शासन नहीं था। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि किसी राज्य मे नागरिक स्वतन्त्रता के विस्तार से इस बात का पता चल सकता है कि उस देश मे लोकप्रिय शासन कहाँ तक है। सोवियत रूस के संविधान द्वारा उसके नागरिकों को ऐसे अधिकार प्रदान किये गये हैं जो अँग्रेजों को भी प्राप्त नहीं हैं; जैसे वेतन के साथ काम करने का अधिकार, वृद्धावस्था तथा रोगावस्था में भौतिक सुरक्षा का अधिकार आदि।

जहाँ तक नागरिक स्वतन्त्रता का यह अर्थ है कि राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकारों के उपभोग में दूसरों द्वारा हस्तक्षेप से मुक्ति हो वहाँ तक उसकी रक्षा करना सदैव राज्य का मुख्य कर्तव्य माना गया है किन्तु यह मान्यता कि शासन द्वारा नागरिक स्वतन्त्रता पर होनेवाले अतिक्रमण से उसकी रक्षा की जाय, नवीन है। ऐसे भी संविधान हैं जो नागरिकों को ऐसे अधिकार प्रदान करते हैं जिनसे सरकार भी उन्हें वंचित नहीं कर सकती। यह बात अमेरिका के संयुक्त राज्य के संविधान के सम्बन्ध मे सत्य है। वह संविधान शासन को व्यक्ति के धर्म मे हस्तक्षेप करने, निर्यात पर कर लगाने तथा किसी नागरिक को पदवी प्रदान करने का निषेध करता है। ऐसे अधिकार तथा विमुक्तियाँ भी नागरिक स्वतन्त्रता में सम्मिलित हैं। ब्रिटेन में ऐसे अधिकार नागरिकों को प्राप्त नहीं हैं क्योंकि वहाँ वैधानिक क़ानून तथा साधारण क़ानून में कोई भेद नहीं है। कुछ लेखक ऐसी विमुक्तियों को संवैधानिक स्वतन्त्रता भी कहते हैं। किन्तु यह शब्दावली अधिक लोकप्रिय नहीं है। जहाँ इस प्रकार की स्वतन्त्रता है, वहाँ वह नागरिक स्वतन्त्रता का ही अंग मानी जा सकती है। कुछ अमेरिकनों के समान केवल संवि-

धान परिषद् द्वारा प्रदत्त अधिकारों को ही नागरिक स्वतन्त्रता मानना उचित नहीं मालूम होता। यही अच्छा है कि राज्य जितने भी अधिकार और विमुक्तियाँ प्रदान करता है वे सभी नागरिक स्वतन्त्रता में समाविष्ट समझी जायँ।

राजनीतिक स्वतन्त्रता—

प्रारम्भ में नागरिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत राजनैतिक अधिकारों का समावेश नहीं था। स्वेच्छाचारी शासकों अथवा कुलीन-तन्त्र के विरुद्ध जो लोग अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़े थे उनका नागरिक स्वतन्त्रता से केवल यही मतलब था कि उनके नागरिक अधिकार स्वीकृत हों और स्वेच्छाचारी सत्ता के प्रयोग से उन्हें सुरक्षा मिले। रोमनों तथा यूनानियों ने इसका यही अर्थ ग्रहण किया था और जिन ब्रिटिश रईसों एवं पादरियों ने राजा से मेगनाकार्टा नामक अधिकार-पत्र प्राप्त किया था, उनका भी यही विचार था। किन्तु यह शीघ्र ही विदित हो गया कि नागरिक अधिकारों की स्वीकृतिमात्र से ही स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश सत्ता से उनकी रक्षा नहीं हो सकती। इसके लिये जनता के हाथ में ऐसी सत्ता होनी चाहिये कि वह शासन को इन नागरिक अधिकारों का आदर करने के लिये बाध्य कर सके। यह कार्य राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political freedom) की प्राप्ति से ही हो सकता था। इसका अर्थ यह है कि नागरिकों को राज्य-कार्यों में सक्रिय भाग लेने का, विधान-परिषद् में अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजने तथा पद-ग्रहण करने का अधिकार होना चाहिये। जहाँ प्रजातन्त्र है, वहाँ राजनीतिक स्वतन्त्रता है। यह लोकप्रिय शासन या स्वशासन का दूसरा नाम है। यह नागरिक स्वतन्त्रता की पूरक है। राजनीतिक सत्ता के अभाव में संविधान अथवा देश के कानून द्वारा प्रदत्त अधिकारों का कुछ भी मूल्य नहीं। अब तक हमारे यहाँ देशी रियासतों में जनता को कोई नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे क्योंकि उन्हें कोई राजनीतिक अधिकार नहीं थे।

आर्थिक स्वतन्त्रता—

जिस प्रकार प्राचीन काल में रोमनों तथा यूनानियों और अँग्रेज़ों को यह प्रकट हुआ कि राजनीतिक सत्ता के बिना नागरिक अधिकारों का कोई अधिक मूल्य नहीं, उसी प्रकार जिस ढंग से आज के पूँजीवादी प्रजातान्त्रिक देशों में शासन प्रबन्ध होता है, उससे मज़दूरों को यह भली-भाँति प्रकट हो गया है कि केवल मतदान के अधिकार तथा प्रतिनिधि

का पद पा लेने मात्र से शासकों द्वारा उनके आर्थिक शोषण से रक्षा नहीं हो सकती। वर्तमान औद्योगिक युग में राजनीतिक सत्ता आर्थिक सत्ता की दासी बनी हुई है। जो राष्ट्र में आर्थिक जीवन का नियन्त्रण करते हैं, वे ही राजनीतिक सत्ता का भी प्रयोग करते हैं। मज़दूरों को राजनीतिक तथा नागरिक अधिकारों के मिल जाने पर भी वे आज अपने पूर्वजों से अधिक स्वतन्त्र नहीं हैं जिन्हें ये अधिकार प्राप्त नहीं थे। वे अपने जीवन-स्तर को उच्च नहीं बना सकते। इसमें पद-पद पर उन्हें नैराश्य एवं विफलता का सामना करना पड़ता है। अतः सर्वत्र यही माँग सुनाई पड़ती है कि जनता को सच्ची स्वतन्त्रता देने तथा उसे अपने आत्मविकास के लिये सुयोग देने के लिये उसे आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र बनाना चाहिये; औद्योगिक जीवन का संगठन इस प्रकार से होना चाहिये कि मज़दूर पूँजीपति के बन्धन से मुक्त हो जायँ और उन्हें अपने श्रम का समुचित फल मिले। दूसरे शब्दों में, समाज की सबसे महान् आवश्यकता जनता के लिये आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता की प्राप्ति करना है। समाजवादी लेखक स्वतन्त्रता के इस अर्थ पर अधिक ज़ोर देते हैं।

उपर्युक्त दलीलों का सार इस प्रकार दिया जा सकता है। एक व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त हो इसके लिये कई बातों की आवश्यकता है। प्रथम, जिस समुदाय से उसका सम्बन्ध है उसे स्वतन्त्र होना चाहिये। इसे हम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता कह सकते हैं। द्वितीय, प्रजातन्त्र की स्थापना होनी चाहिये। जब राज्य की नीतियों का निर्धारण एक निरंकुश शासक अथवा कुछ लोगों के हाथ में ही होता है तो व्यक्ति को जो कुछ वह अच्छा समझता है उसे करने की कोई वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। तृतीय, निजी पूँजी का अन्त होना चाहिये। जब तक पूँजीपति वर्ग का शासन में प्राधान्य है और वह मज़दूरों की अवस्थाएँ निर्धारित करता है तब तक समाज के एक बहुत बड़े भाग को कोई सच्ची स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। इस कारण जिस वस्तु की आवश्यकता है वह है राजनीतिक, आर्थिक अथवा औद्योगिक स्वतन्त्रता की स्थापना या यों कहिये एकतन्त्र, अल्प-जनतन्त्र और पूँजीवाद का नाश। इस प्रकार 'स्वतन्त्रता की समस्या व्यक्ति को खोज निकालने की तथा उसे उन अनेक सामाजिक परतों से मुक्त करने की समस्या है जो उसका दम घोंटते रहते हैं और उसके कार्य में बाधक बने रहते हैं।'*

* Wilde, op. cit., p. 194.

नैतिक स्वतन्त्रता—

यह सम्भव है कि नागरिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी व्यक्ति का इनसे कोई लाभ न पहुँचे, यदि उसे नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त न हो। नैतिक स्वतन्त्रता सबसे महान् स्वतन्त्रता है; यही वास्तव में अन्य प्रकार की स्वतंत्रताओं को वास्तविक मूल्य या महत्व प्रदान करती है। नैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि हम सत्य का पालन कर सकें और जो वास्तव में उचित है, उसी को हम कर सकें, इसलिये कि वह उचित है, हम विवेक द्वारा काम कर सकें और अपनी इन्द्रियों को विवेक के वश में रख सकें। महाकवि मिल्टन ने कहा है—'यह समझ लो कि स्वतंत्र होना सदाचारी होने, बुद्धिमान् होने, संयमी, न्यायकारी, मितव्ययी, सन्तोषी, उदार तथा वीर होने के समान है।' जो व्यक्ति अपनी विवेक-बुद्धि के विरुद्ध इच्छा करता है और कार्य करता है, वह सबसे बड़ा गुलाम है और उसका जीवन सबसे दुःखी है। वह अपने नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग अपने सुधार के लिये नहीं वरन् पतन के लिये करेगा। किन्तु नैतिक स्वतन्त्रता कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, राज्य उसे व्यक्तियों के लिये प्राप्त नहीं कर सकता। उसे तो नागरिकों को स्वयं प्राप्त करना है। राज्य उसे प्राप्त करने में सहायता करता है। नैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति समाज या राज्य में ही सम्भव है क्योंकि उसके द्वारा ही व्यक्ति अपनी प्रच्छन्न शक्तियों को जान पाता है और उनके विकास के साधन प्राप्त करता है। इस प्रकार राज्य मनुष्य के नैतिक जीवन का आधार है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता—

लास्की जैसे बहुवादी और मिल जैसे व्यक्तिवादी नैतिक स्वतन्त्रता के स्थान पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता की चर्चा करते हैं। इससे उनका आशय यह है कि व्यक्ति को विचार, भाषण और सभा-सम्बन्धी स्वतन्त्रता पर कोई अनुचित प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। व्यक्ति को अपने जीवन का निर्माण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। जिन सामाजिक अवस्थाओं पर उसका वैयक्तिक सुख निर्भर है उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। जिन वस्तुओं से उसका प्राथमिक सम्बन्ध है जैसे उसका भोजन, उसके धार्मिक रीति रिवाज, संस्कार, व्यवसाय, धन्धा तथा काम के घण्टे, रहन-सहन आदि उनके सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध तब तक नहीं होना चाहिये जब तक कि वे नैतिक व्यवस्था के प्रतिकूल न हों। दूसरे शब्दों में वैयक्तिक

स्वतन्त्रता उस वातावरण को बनाये रखना है जिसमें व्यक्तियों को अपनी सर्वोत्तम उन्नति करने के लिये सर्वोत्तम अवसर मिल सकें।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—

अब तक जिन स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में विचार किया गया है, उनका सम्बन्ध व्यक्ति-व्यक्ति तथा व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों से है। कभी-कभी स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग राष्ट्र के सम्बन्ध में भी किया जाता है जैसे भारतवर्ष की स्वतन्त्रता अथवा इङ्गलैण्ड की स्वतन्त्रता। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि राजनीतिक रूप में सङ्गठित एक जनता दूसरे राज्यों के हस्तक्षेप के बिना अपना शासन का रूप निर्धारित करने में स्वतन्त्र हो। इसे केवल 'स्वतन्त्रता' कह सकते हैं। यह बाह्य प्रभुत्व है। इसका तार्किक परिणाम आत्म-निर्णय का सिद्धान्त है।

राजनीतिक धारणा के रूप में स्वतन्त्रता—

हमने ऊपर जिन स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में विचार किया है, उनमें से नागरिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता राज्य-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, नागरिक स्वतन्त्रता के यथार्थ तथा निषेधात्मक दोनों पक्ष होते हैं। निषेधात्मक रूप में स्वतन्त्रता का यह अर्थ है कि किसी व्यक्ति की कार्य करने की स्वतन्त्रता पर कोई अनुचित बन्धन न हो। हम कह सकते हैं कि मनुष्य उस समय स्वतन्त्र है अथवा स्वतन्त्रता का उपभोग करता है जब कि उन सामाजिक स्थितियों पर कोई मर्यादा नहीं होती जो मानव के सुख तथा आनन्द के लिये आवश्यक हैं। वह परतन्त्र उस समय कहा जाता है जब कि उसे ऐसी अवस्था में रहना पड़ता है जिसमें उसे ऐसा आचरण करना पड़ता है, जिसे उसकी विवेक-बुद्धि पसन्द नहीं करती जैसे जब वह विदेशी या निरंकुश शासन के अधीन रहता है। यथार्थ रूप से विचार करने पर नागरिक स्वतन्त्रता का अर्थ है आत्म-विकास के सुयोग जिससे व्यक्ति अपना विकास सर्वश्रेष्ठ ढङ्ग से कर सके। यह सक्रिय आत्म-निर्णय है। इसका सार उन अनेक अधिकारों में है, जिनका उल्लेख किया जा चुका है और जिनमें से विचार, भाषण, कार्य तथा सभा की स्वतन्त्रता मुख्य है। प्रत्येक व्यक्ति शासन से यह आग्रह कर सकता है कि वह इन अधिकारों का संरक्षण करे।

इस प्रकार जिस स्वतन्त्रता की व्याख्या की गई है, उसके लिये अनेक खतरे हैं। ऐसी स्वतन्त्रता के लिये अन्य नागरिकों तथा राज्य दोनों की

ओर से खतरे रहते हैं। इन दोनों से उसकी रक्षा करने की आवश्यकता है। देश का कानून उसकी पहले खतरे से रक्षा करता है और संविधान में "मौलिक नागरिकों" को स्थान देने से दूसरे खतरे से रक्षा होती है।

उपर्युक्त दोनों बातें होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि राज्य में सबके लिये स्वतंत्रता सुनिश्चित होगी। लास्की का कथन है कि बहु संख्यक जनता स्वतंत्रता का उपभोग कर सके इसके लिये तीन बातों की आवश्यकता है।

(१) समाज में विशेष अधिकारों की व्यवस्था नहीं होनी चाहिये क्योंकि यदि कोई व्यक्ति सत्ता एव प्रतिष्ठा के पद से वंचित रहता है तो उसके जीवन में नैराश्य की छाया रहती है, उसे अपनी वर्तमान् स्थिति को ही जीवन की स्थायी स्थिति मानकर सन्तोष करना पड़ता है। इस प्रकार वह समाज में अपनी योग्यतानुसार पद प्राप्त नहीं कर सकता यह स्वतंत्रता का निषेध है।

(२) समाज में ऐसी व्यवस्था नहीं होनी चाहिये जिसमें कुछ लोगों के अधिकार दूसरों की प्रसन्नता पर निर्भर हों। कानून की दृष्टि से सब लोगों के समान अधिकार होते हुए भी यह प्रायः देखा जाता है कि एक नौकर की जीविका मालिक की दया पर निर्भर होती है। मालिक कानून की परिधि के अन्दर रहते हुए भी मज़दूर की स्थिति को कष्टमय बना सकता है। ऐसी अवस्था में राज्य के नियंत्रण की आवश्यकता होती है।

(३) राज्य का नियंत्रण निष्पक्ष होना चाहिये। राज्य के काम सर्वथा निष्पक्ष होंगे इसकी कभी गारण्टी नहीं की जा सकती। अधिक से अधिक ऐसी व्यवस्था की जा सकती है जिससे पक्षपात कम से कम हो सके। नागरिक के मौलिक अधिकारों की गारण्टी का इसी कारण बड़ा महत्व है।*

किन्तु मौलिक अधिकारों की केवल गारण्टी से ही काम नहीं चल सकता। नागरिकों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिये सदा तत्पर और जागरूक रहने की आवश्यकता है। लास्की ने ठीक ही कहा है कि 'सतत सतर्कता स्वतंत्रता का मूल्य है' (Eternal vigilance is the price of liberty)। यदि नागरिक जागरूक होकर शासन के कार्यों को न देखते रहें और अपने अधिकारों की रक्षा के लिये तत्पर न रहें तो उनकी स्वतंत्रता अनिश्चित रहेगी और उसके छिन जाने का सदा भय बना रहेगा।

* Laski : A Grammar of Politics, pp. 149-152.

समानता—

नागरिक अपनी स्वतंत्रता का उपभोग कर सकें और उसकी रक्षा के लिये सदा तत्पर रह सकें इसके लिये समानता की आवश्यकता है। स्वतंत्रता उस समय तक वास्तविक नहीं हो सकती और न वह अपने ध्येय को प्राप्त ही कर सकती है जब तक उसके साथ समानता न हो। समानता के अभाव में स्वतंत्रता एक स्वप्नमात्र रह जाती है। समानता स्वतंत्रता का पूरक है।

समानता पर विचार करने के पहले यह आवश्यक है कि हम उसका यथार्थ आशय समझ लें। इस शब्द के अनेक अर्थ किये जाते हैं। लास्की का कथन है कि राज्य-विज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र में समानता की कल्पना से अधिक कठिन अन्य कोई कल्पना नहीं है।* लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि प्रजातंत्रीय प्रक्रियाओं में जो भूलें हुई हैं उनमें से आधी समानता शब्द को गलत समझने ही के कारण हुई हैं।†

समानता का जो अर्थ सामान्यतया किया जाता है वह है सब मनुष्यों की समानता। कहा जाता है कि जन्म के समय सब मनुष्य समान होते हैं; वे समान इन्द्रियों और समान शक्तियों को लेकर उत्पन्न होते हैं। अमेरिका की स्वातंत्र्य-घोषणा में उल्लेख है—'सब मनुष्य स्वतंत्र और समान उत्पन्न हुए हैं।' ईसा के शिष्य संत पॉल ने कहा था कि 'ईसा में न कोई यहूदी है, न यूनानी; न बर्बर है न सीथियन, न स्वतंत्र है न बन्धन युक्त है।' यह प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक समानता का सिद्धान्त है। इसके अनुसार प्रकृति से समान होते हुए भी मनुष्यों में जो भेद पाये जाते हैं वे दूषित सामाजिक व्यवस्था के परिणाम हैं। सभी समान उत्पन्न होते हैं परन्तु उन्नति एवं विकास करने के समान अवसर न मिलने के कारण कुछ लोग दुर्बल, अशिक्षित एवं गरीब रह जाते हैं और कुछ लोग सबल, शिक्षित एवं धनी हो जाते हैं। ये भेद अस्वाभाविक हैं।

यह सत्य है कि समाज में इस प्रकार के जो अनेक भेद दिखाई देते हैं वे अधिकांश में दूषित सामाजिक व्यवस्था के परिणाम हैं, परन्तु इसके साथ ही यह बात भी उतनी ही सत्य है कि प्रकृति से सब मनुष्य समान नहीं होते। जन्म के समय ऊपर से देखने में समान होते हुए भी मनुष्यों में भिन्न भिन्न प्रकार की शक्तियाँ, क्षमताएँ और संभावनाएँ होती हैं।

* Ibid., p. 152.
† Bryce : Modern Democracies, Vol. I., p. 60.

कुछ लोग बढ़ने पर शक्तिशाली, मेधावी, परिश्रमशील और साहसी होते हैं और कुछ लोग निर्बल, बुद्धिहीन, आलसी और कायर निकलते हैं। इन भेदों का कारण केवल यही नहीं होता कि उन लोगों को अपनी शक्तियों के विकास के लिये समान अवसर नहीं मिले। हम देखते हैं कि एक ही परिवार के बालकों में सबको समान अवसर प्राप्त होने हुए भी, इस प्रकार के भेद देखे जा सकते हैं। इस प्रकार मनुष्य की असमानता भी उतनी ही प्राकृतिक है जितनी समानता।

किन्तु इस बात को स्वीकार करने का तात्पर्य यह नहीं है कि वर्तमान् समाज में जो असमानताएँ दिखाई देती हैं वे सब प्राकृतिक हैं। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि वर्तमान् समाज की अनेक विषमताएँ दूषित सामाजिक व्यवस्था के कारण हैं। ग़रीबों के बच्चे प्रायः बचपन में हृष्ट-पुष्ट होते हैं परन्तु उन्हें समुचित पौष्टिक भोजन प्राप्त न होने से वे दुर्बल हो जाते हैं और अपनी शारीरिक शक्ति का ठीक-ठीक विकास नहीं कर पाते। उनमें बुद्धि एवं प्रतिभा होती है परन्तु शिक्षा की सुविधा न होने से उनकी बुद्धि तथा प्रतिभा का विकास नहीं हो पाता और वे जीवन में उन्नति नहीं कर पाते। इसके विपरीत धनियों के निर्बल बालक भी पुष्टिकारक भोजन प्राप्त करके हृष्ट-पुष्ट हो जाते हैं और उनके मूर्ख बालक भी शिक्षा की सुविधाएँ प्राप्त करके उन्नति कर जाते हैं। यदि ग़रीबों के बालक कठिनाइयाँ उठाकर और घोर परिश्रम करके शिक्षा भी प्राप्त करलें तो उन्हें अपनी योग्यता के अनुकूल पद एवं प्रतिष्ठा की प्राप्ति नहीं होती। साधारण नौकरी या साधारण धन्धा करके ही ग़रीबी की दशा में ही उन्हें सन्तोष करना पड़ता है, जबकि धनियों के साधारण बालक भी अपनी सम्पत्ति के प्रभाव से उच्च पद और प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते हैं तथा विलासमय जीवन व्यतीत करते हैं। यह सब इसी कारण होता है कि समाज की व्यवस्था ऐसी है जिसमें ग़रीबों को उन्नति के अवसर प्राप्त नहीं होते। समाज का बहुत बड़ा वर्ग ग़रीब और दुःखी इसलिये नहीं है कि उसमें बुद्धि अथवा क्षमता की कमी है वरन् इसलिये है कि उसे अन्य वर्गों के समान अपनी स्वाभाविक शक्तियों का विकास कर अपनी उन्नति करने की सुविधाएँ नहीं मिलतीं, अर्थात् समाज में समानता का अभाव है। समाज के सभी लोग उन्नति कर सकें और समाज की उन्नति में योग दे सकें इसके लिये आवश्यक है कि समाज में समानता की व्यवस्था हो।

अब प्रश्न यह उठता है, कि हम जिस समानता की मांग करते हैं

उसका क्या अर्थ है जब प्रकृति में ही असमानता है तो समानता की मांग का आधार क्या है?

समानता की कल्पना का नैतिक आधार यह है कि शारीरिक शक्ति, बुद्धि, प्रतिभा, सामर्थ्य आदि में असमान होते हुए भी सब मनुष्य इस बात में समान हैं कि उनमें बुद्धि है, सदसत् विवेक है, और अपने व्यक्तित्व के विकास की क्षमता है।

इसका अर्थ यह नहीं होता कि चूंकि सब मनुष्य इस दृष्टि से समान हैं तो सबके ऊपर एक यान्त्रिक समानता लाद दी जाय। इसका अर्थ यह नहीं है कि सब मनुष्यों के साथ एकसा व्यवहार हो, सबको एक ही काम दिया जाय या सबको एक ही वेतन अथवा पारिश्रमिक मिले। यह असंभव है। मनुष्य, जैसा हम अभी देख चुके हैं, अपनी शक्ति, स्वभाव, रुचि, आकांक्षा, प्रतिभा आदि में भिन्न हैं और इनके अनुसार समाज में उनके भिन्न-भिन्न कार्य होंगे। कोई शासक होंगे, कोई उद्योगपति होंगे, कोई वैज्ञानिक बनेंगे, कोई शिक्षक बनेंगे, कोई व्यापारी बनेंगे, कोई कृषक होंगे और कोई मज़दूरी करेंगे, कोई कला के क्षेत्र में कार्य करेंगे, कोई साहित्यिक होंगे, कोई सैनिक बनेंगे। ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता वाले व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार नहीं हो सकता, न उन्हें एकसा काम ही दिया जा सकता है और न उन्हें समान पारिश्रमिक ही दिया जा सकता है। समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विभिन्न प्रकार के कार्य होते हैं जिनके लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यताएँ आपेक्षित होती हैं और वे कार्य अपेक्षित योग्यता वाले व्यक्तियों को ही सौंपे जा सकते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य के अनुसार वेतन दिया जाना चाहिये। एक मंत्री और एक लेखक के कार्य भिन्न भिन्न हैं, इसी प्रकार एक इंजिनीयर और एक मज़दूर के कार्य भिन्न हैं। अतः उनके वेतन में भी अन्तर होगा। असमान काम के लिये समान वेतन देना समानता नहीं, असमानता स्थापित करना है जो अन्याय है। इसके साथ ही उससे समाज की भी हानि है, क्योंकि यदि एक इंजिनीयर को एक मज़दूर के समान ही वेतन मिले तो उस काम को करने के लिये योग्य व्यक्ति सामने नहीं आयेंगे।

ऐसी दशा में समानता का वास्तविक अर्थ निष्पक्षता और आनुपातिकता है अर्थात समान व्यक्तियों के बीच समानता और असमान व्यक्तियों के बीच असमानता। असमानता स्वाभाविक है और वह समाज में सर्वदा रहेगी परन्तु इस असमानता का आधार योग्यता और समाजसेवा को

सामर्थ्य का भेद ही होना चाहिये। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति में अपने व्यक्तित्व के विकास द्वारा अपनी सामर्थ्य के अनुसार सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि की सामर्थ्य है इसलिये मूल सिद्धान्त यह होना चाहिये कि अन्य सब बातों के समान होने पर किसी भी व्यक्ति के हित को उतना ही मूल्यवान् या महत्वपूर्ण समझना चाहिये जितना किसी अन्य व्यक्ति के हित को। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब कि समाज में किसी भी व्यक्ति या वर्ग के लिये विशिष्ट अधिकार या सुविधाएँ न हों, अधिकारों के दुरुपयोग के विरुद्ध सबको कानून का संरक्षण समान रूप से प्राप्त हो, सत्ता का उपयोग व्यक्तिगत या वर्गगत स्वार्थों की पूर्ति के लिये न होकर सार्वजनिक हित के लिये ही हो और सबसे महत्वपूर्ण बात यह हो कि सब को अपने विकास करने के लिये पर्याप्त अवसर प्राप्त हों। सब लोगों को उन्नति करने के लिये समान अवसर देना न तो सम्भव है और न वाञ्छित ही है क्योंकि एक मूर्ख बालक को एक बुद्धिमान् बालक के समान उन्नति की सुविधाएँ प्रदान करना व्यर्थ है; वह उनसे लाभ नहीं उठा सकता। उसको उतने ही अवसर दिये जा सकते हैं जिनका वह उपयोग कर सके। वह जितनी उन्नति कर सके उसके लिये उसे पर्याप्त अवसर प्राप्त होने चाहिये। यह शर्त अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि हम देखते हैं कि आजकल अवसर के अभाव में न जाने कितनी प्रतिभा और क्षमता नष्ट हो रही है। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अवसर मिलना चाहिये कि वह अपनी योग्यता और प्रतिभा का अधिकाधिक विकास कर सके। फिर भी समाज में विषमताएँ बनी रहेंगी परन्तु ऐसी विषमताएँ तभी तक स्वीकार की जा सकती हैं जब तक प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध हों। सबके एक न्यूनतम स्तर तक समान होने के बाद ही असमानताएँ उचित ठहराई जा सकती हैं।*

समानता के विविध प्रकार—

हमने अभी इस बात की आवश्यकता बतलाई है कि सामाजिक जीवन में किसी व्यक्ति या वर्ग को विशिष्ट अधिकार या सुविधाएँ प्राप्त नहीं होनी चाहिये। व्यक्ति के जीवन के अनेक पहलू हैं—नागरिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक। समानता का सम्बन्ध इन सब क्षेत्रों से है। लॉर्ड ब्राइस ने समानता पाँच प्रकार की बतलाई है—प्राकृतिक, नागरिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक।†

* Laski : A Grammar of Politics, p. 159.

† *Bryce, Modern Democracies, Vol. I, pp, 60-69.*

प्राकृतिक समानता—इसके विषय में हम ऊपर विचार कर चुके हैं और देख चुके हैं कि सामान्यतया प्राकृतिक समानता का जो अर्थ समझा जाता है वह ठीक नहीं है। प्रकृति सबको बराबर नहीं बनाती। प्राकृतिक समानता को हम नैतिक समानता के अर्थ में ही ग्रहण कर सकते हैं जिसके अनुसार केवल इस अर्थ में सब समान हैं कि सब नैतिक प्राणी हैं और सब में अपने विकास द्वारा सामाजिक हित में योग देने की क्षमता है। यह नैतिक समानता ही मनुष्य की स्वतन्त्रता एवं उसके अधिकारों तथा जनतन्त्र का आधार है।

नागरिक समानता—इसका तात्पर्य यह है कि क़ानून की दृष्टि से सब व्यक्ति समान हैं। धनी, निर्धन, छोटे, बड़े, स्त्री, पुरुष सब लोगों के लिये क़ानून समान होना चाहिये। संक्षेप में नागरिक समानता का आशय यह है कि राज्य के क़ानूनों का समस्त नागरिकों पर समान रूप से नियंत्रण होना चाहिये और सबको समान रूप से उनका संरक्षण प्राप्त होना चाहिये। इसके अन्तर्गत 'क़ानून के शासन' (Rule of Law) की भावना का समावेश है जिसके अनुसार साधारण नागरिक तथा सरकारी कर्मचारियों के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता और दोनों का न्याय एक ही क़ानून के अनुसार होता है। दो शताब्दी पहले इस प्रकार की समानता शायद ही कहीं थी परन्तु आजकल प्रायः सभी सभ्य देशों में कुछ नगण्य अपवादों को छोड़ यह समानता नागरिकों को प्राप्त है। भारत के संविधान में उल्लेख है कि कानून के समक्ष सब व्यक्ति बराबर हैं; जाति, लिंग, धर्म आदि के कारण किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जावेगा।

राजनैतिक समानता—इस समानता का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य को शासन कार्य में भाग लेने का समान अधिकार होना चाहिये अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को समस्त राजनैतिक अधिकार समान रूप से प्राप्त होने चाहिये। राजनीतिक अधिकारों के विषय में हम आगे विस्तार से लिखेंगे। यहाँ अभी इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि निर्वाचन में मत (वोट) देने, निर्वाचन के लिये उम्मेदवार बनकर खड़े होने तथा सरकारी पद प्राप्त करने के अधिकार मुख्य राजनीतिक अधिकार हैं। इसका अर्थ यह नहीं होता कि बिना किसी योग्यता की शर्त के कोई भी व्यक्ति इन अधिकारों का उपभोग कर सकता है। सर्वप्रथम शर्त तो यह है कि इन अधिकारों का दावा एक वयस्क पुरुष ही कर सकता है। मत देने का अधिकार वयस्क स्त्री और पुरुष को ही मिल सकता है क्योंकि अवयस्क लोग समझ-

दारी के साथ इस अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकते। निर्वाचित सभाओं का सदस्य निर्वाचित होने के लिये उम्मेदवार से कुछ योग्यता अपेक्षित होती है ताकि वह अपना कार्य समुचित रूप से कर सके। सरकारी पदों को प्राप्त करने के लिये भी आवश्यक योग्यता होनी चाहिये। इस प्रकार इस समानता का तात्पर्य यही है कि यदि कोई व्यक्ति वयस्क है और उसमें अन्य प्रकार की कोई अयोग्यता नहीं है तो उसे बिना किसी भेदभाव के मत देने का अधिकार होना चाहिये। यदि किसी व्यक्ति में किसी सरकारी पद के लिये अपेक्षित योग्यता हो तो उस पद को प्राप्त करने के लिये उसके मार्ग में लिंग, जाति, धर्म, वर्ग आदि के भेद की बाधा नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार की समानता अभी सब देशों में नहीं है।

कुछ राज्यों में, जैसे फ्रांस और स्विट्ज़रलैंड में स्त्रियों को मताधिकार नहीं है। दक्षिण अफ्रीका में मूल निवासियों तथा भारतवासियों को समान रूप से मताधिकार प्राप्त नहीं हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्य में भी नीग्रो लोगों के साथ भिन्न भिन्न प्रकार से भेदभाव किया जाता है। कई राज्यों में विधान-मण्डल के द्वितीय भवन के सदस्यों के लिये अधिक आयु की शर्त रहती है। इंगलैंड में लॉर्ड भवन के सदस्य केवल रईस लोग ही हो सकते हैं या वे लोग जिन्हें राजा लॉर्ड पदवी प्रदान कर देता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले भारतवर्ष में भी राजनैतिक समानता नहीं थी परन्तु अब विधान के द्वारा प्रायः पूर्ण राजनीतिक समानता प्राप्त हो गई है। ये असमानताएँ तो भिन्न भिन्न देशों में कानून द्वारा स्वीकृत हैं परन्तु धन के प्रभाव के कारण प्रायः प्रत्येक देश में राजनीतिक असमानता दिखाई देती है। धनी लोग शासन पर नाना प्रकार से अपना प्रभाव रखते हैं और कानूनी दृष्टि से समान राजनीतिक अधिकार रखते हुए भी ग़रीब लोग शासन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते।

सामाजिक समानता—सामाजिक समानता का अर्थ यह है कि सामाजिक जीवन में लोगों के विभिन्न वर्गों में कानून या रीतिरिवाज के कारण कोई भेदभाव न हो और सब लोग समान हों। हमारे भारतवर्ष में सामाजिक क्षेत्र में बड़ी असमानता रही आई है और अब भी बनी हुई है। हमारे यहाँ अब भी लोग जन्म से ऊँचे और नीचे माने जाते हैं और देश की जनता का एक विशाल भाग तो अछूत ही समझा जाता है, हालाँकि विधान के द्वारा अस्पृश्यता का निषेध कर दिया गया है। हमारी वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा सामाजिक समानता की विरोधी है। इसी

प्रकार अफ्रीका में प्रजाति-भेद भी सामाजिक समानता का शत्रु है। संक्षेप में, सामाजिक समानता का आशय यह है कि समाज मे सब सामाजिक दृष्टि से समान होने चाहिये और जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज जितनी सुविधाएँ प्रस्तुत करता है उनका उपभोग सब लोग जाति, कुल, वर्ण, धर्म आदि के भेदभाव के बिना समानरूप से कर सकें और कोई इन भेदों के आधार पर उनसे वंचित न किया जा सके। सामाजिक समानता अभी तक ससार के समस्त देशों मे स्थापित नहीं हो पाई है। कई देशों मे अनेक रूपो मे सामाजिक विषमता विद्यमान् है।

आर्थिक समानता—प्रायः लोग आर्थिक समानता का यह अर्थ समझते हैं कि सम्पत्ति मे सब लोग बराबर हो। वास्तव मे जो लोग आर्थिक समानता की माग करते हैं उनका यह आशय नहीं होता और न यह बात संभव ही है कि धनियों और गरीबों का अन्तर मिट जाय तथा सब सम्पत्ति मे बराबर हो जॉय। यदि किसी प्रकार यह भेद मिटाया जा सके और समाज की सारी सम्पत्ति एकत्र करके सब लोगों में बराबर बॉटी जा सके तो भी इस प्रकार की समानता अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती। बुद्धिमान एवं अध्यवसायी लोग सरलता से अपनी सम्पत्ति की वृद्धि कर लेंगे और मूर्ख, फ़ुज़ूलखर्च लोग अपनी सम्पत्ति को उड़ाकर फिर ग़रीब बन जॉयगे।

इसी प्रकार, जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, आर्थिक समानता का यह अर्थ भी नहीं होता कि विभिन्न प्रकार के कामों के लिये सब को समान पारिश्रमिक मिले। इसका अर्थ केवल इतना है कि भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये जो पारिश्रमिक दिये जॉय उनमें इतनी असमानता न हो कि उसके कारण कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के जीवन पर अपना अधिकार स्थापित कर सकें। भिन्न-भिन्न प्रकार के कामों के लिये पारिश्रमिक में अन्तर तो सदा रहेगा और रहना भी चाहिये परन्तु यह आवश्यक है कि किसी भी व्यक्ति को दिये जाने वाले पारिश्रमिक का एक न्यूनतम स्तर हो। प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम इतना पारिश्रमिक मिले जिसमें वह अपने तथा अपने परिवार वालों के लिये निवास के लिये घर तथा पर्याप्त भोजन एवं वस्त्रादि प्राप्त कर सके और रोगादि के समय औषधि आदि की व्यवस्था कर सके। इस न्यूनतम पारिश्रमिक के बाद ही कार्य के अनुसार पारिश्रमिक मे भेद होना चाहिये। इसके साथ ही इन भेदों का सम्बन्ध सामाजिक कल्याण से होना चाहिये। सबको न्यूनतम आर्थिक सुविधाएँ

प्राप्त होने के बाद जो व्यक्ति सामाजिक कल्याण के सम्पादन में जितना अधिक योग दे उतना ही अधिक पुरस्कार उसको मिलना चाहिये। लास्की का कथन है कि पहले सबके लिये आवश्यक वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होनी चाहियें, उसके बाद ही किसी के लिये विलास की वस्तुओं की व्यवस्था हो सकती है। दूसरे शब्दों में, आर्थिक समानता से तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना विकास करने के लिये पर्याप्त अवसर प्राप्त हों—उसे काम मिले, उसके लिये पर्याप्त पारिश्रमिक प्राप्त हो, उसके काम की अवस्थाएँ तथा काम के घण्टे उचित हों और आमोद-प्रमोद के लिये भी उसे अवकाश हो। यह सब तभी हो सकता है जबकि समाज में कोई वर्ग दूसरे वर्गों का आर्थिक शोषण न कर सके। इसके लिये यह आवश्यक है कि उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वाम्य अथवा नियंत्रण हो और उद्योग-धन्धों में स्वशासन हो।

जितनी प्रकार की समानताओं की चर्चा हमने ऊपर की है उनमें *आर्थिक समानता का महत्त्व सबसे अधिक है।* वास्तव में इस समानता के बिना अन्य समानताएँ व्यर्थ हैं। आर्थिक समानता के बिना व्यक्ति अन्य प्रकार की समानताओं से भी वंचित रह जाते हैं। कानून के समक्ष सब लोगों के समान होते हुए भी यह स्पष्ट है कि देश के कानूनों एवं न्यायालयों से धनी लोग ही लाभ उठाते हैं। वे अपने धन के द्वारा अपनी सहायता के लिये बड़े-बड़े वकील नियुक्त कर सकते हैं जब कि बेचारे ग़रीब व्यक्ति को एक साधारण सा वकील भी दुर्लभ होता है। फलतः न्यायालयों के निर्णय भी धनी व्यक्तियों के अनुकूल होते हैं और तथा-कथित नागरिक समानता निरर्थक हो जाती है। इसी प्रकार निर्वाचन करने और निर्वाचित होने का अधिकार धनी तथा ग़रीब सबको समान रूप से होते हुए भी ग़रीब लोग इन अधिकारों का उपयोग नहीं कर पाते। धनवान लोग रिश्वतें देकर ग़रीबों के मत ख़रीद लेते हैं और हज़ारों रुपया प्रचार आदि में ख़र्च करके निर्वाचित हो जाते हैं। ग़रीब व्यक्ति के पास इतना धन कहाँ कि निर्वाचन के लिये खड़ा हो और अपने लिये प्रचार कर सके। इसी प्रकार यद्यपि राज्य में शिक्षा प्राप्त करने का सबको अधिकार है परन्तु धनाभाव के कारण ग़रीबों के होनहार बालक भी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते जबकि धनवान लोगों के साधारण बालक भी उच्च शिक्षा प्राप्त करके उच्च पदों पर पहुँच जाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि राज्य में उच्च अधिकारयुक्त पदों पर धनवान् लोग ही पहुँचते हैं।

राजनीतिक शक्ति सदा आर्थिक शक्ति की दासी होती है। लास्की का कथन है कि आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता असंभव है; आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग भी आर्थिक शक्ति ही करेगी। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जिस समाज में सम्पत्ति की बड़ी असमानताएँ होती हैं वहाँ राजनीतिक शक्ति भी धनी वर्ग के हाथों में होती है और उन्हीं के हित में काम करती है।

आर्थिक समानता का तो अभी संसार में प्रायः सर्वत्र अभाव है परन्तु अब लोग इसकी आवश्यकता मानने लगे हैं और प्रायः सर्वत्र राज्य प्रगतिशील कर-पद्धति के द्वारा तथा समाजिक कल्याण के अनेकानेक काम करके आर्थिक विषमताओं को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

स्वतंत्रता तथा समानता—

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि बिना समानता के स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं होता। वास्तविक स्वतंत्रता का अर्थ है उन्नति के अवसरों की उपलब्धि और अधिकारों का उपभोग। हम अभी देख चुके हैं कि विभिन्न प्रकार की समानताओं के अभाव में अधिकार निरर्थक होते हैं और स्वतंत्रता स्वप्नमात्र रह जाती है। आर० एच० टानी के अनुसार समानता स्वतंत्रता के लिये शत्रु होने की जगह परमावश्यक है।

परन्तु लॉर्ड एक्टन जैसे कुछ बड़े विद्वान् भी हैं जो स्वतंत्रता और समानता को परस्पर विरोधी मानते है। उसे खेद है कि समानता की तीव्र इच्छा ने स्वतंत्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया है। किन्तु यह भ्रम है। जो लोग स्वतंत्रता और समानता को परस्पर विरोधी मानते हैं वे स्वतंत्रता को अनियंत्रित स्वतंत्रता अथवा स्वच्छंदता और समानता को निरपेक्ष समानता समझते हैं। यह निस्सन्देह सत्य है कि यदि स्वतंत्रता का अर्थ यही हो कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति एवं सत्ता की भूख को मिटाने के लिये जो चाहे करे तो ऐसी अवस्था में समानता असंभव हो जायगी। यदि व्यक्तियों की स्वेच्छाचारिता पर कोई रुकावट नहीं होगी तो समाज के कुछ थोड़े से चालाक और योग्य व्यक्ति समस्त धन एवं शक्ति अपने हाथों में समेट लेंगे, अधिकांश जनता दुःखी हो जायगी और समाज में घोर विषमता उत्पन्न हो जायगी। यह सर्वविदित सत्य है कि आर्थिक क्षेत्र में अपनी इच्छानुसार काम करने की स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप समाज में भीषण आर्थिक और राजनीतिक 'असमानताएँ' विद्यमान् हैं। ऐसी दशा में समानता तो लुप्त हो ही जाती है, स्वतंत्रता भी नहीं टिक सकती क्योंकि

वह थोड़े से व्यक्तियों की ही स्वतंत्रता होती है। यदि समाज में सब निरपेक्ष रूप से समान हों तो उसमें किसी को अपनी इच्छानुसार काम करने की स्वतन्त्रता नहीं होगी। इस प्रकार निरपेक्ष अर्थ में स्वतंत्रता और समानता परस्पर विरोधी होती हैं।

किन्तु, जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, यथार्थ स्वतन्त्रता नियंत्रित स्वतंत्रता होती है जो सबके लिये सुलभ होती है और वास्तविक समानता का अर्थ है सबके लिये उन्नति करने के पर्याप्त अवसरों की उपलब्धि। इन अर्थों में दोनों एक दूसरे के विरुद्ध होने की जगह एक दूसरे के पूरक हैं। समानता के बिना स्वतन्त्रता सम्भव नहीं और स्वतन्त्रता के बिना समानता संभव नहीं। लास्की ने कहा है कि 'यदि स्वतन्त्रता का अर्थ है मानव की आत्मा के निरन्तर विकास की शक्ति तो वह समान व्यक्तियों के समाज को छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती। जहाँ धनी और गरीब हैं, शिक्षित और अशिक्षित हैं, वहाँ हमें सदा स्वामी और सेवक ही मिलेंगे।' ऊपर हम विस्तारपूर्वक समझा आये हैं कि समानता के बिना स्वतन्त्रता कैसे असंभव है। इसी प्रकार स्वतंत्रता के बिना समानता भी असंभव है। स्वतंत्रता की प्राप्ति के पहले हमारे देश में अनेक प्रकार की असमानताएँ विद्यमान थीं परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हम उन असमानताओं को दूर करने का प्रयत्न करने योग्य हो सके हैं और इसके लिये प्रयत्न कर रहे हैं।

अध्याय ४

अधिकार

पिछले अध्याय मे हमने कई बार अधिकार शब्द का प्रयोग किया है। अधिकार राज्य-विज्ञान की एक महत्वपूर्ण धारणा है और मनुष्य की उन्नति तथा मानव-समाज का विकास बहुत बड़ी मात्रा में समुचित अधिकार-व्यवस्था पर ही निर्भर रहता है। अतः इ स महत्वपूर्ण धारणा पर विचार करना आवश्यक है।

अधिकार का वास्तविक स्वरूप समझने के लिये पहले यह उचित होगा कि समय-समय पर विभिन्न विचारकों ने इस सम्बन्ध में जिन विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उन पर हम विचार करें और उनकी समीक्षा करके उसके सच्चे स्वरूप को समझने का प्रयत्न करें। इन सिद्धान्तों में से निम्नलिखित ध्यान देने योग्य हैं।

(१) प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त—

अधिकारों के सम्बन्ध में यह सबसे प्राचीन सिद्धान्त है परन्तु सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के लेखकों ने प्राकृतिक अधिकारों को विशेष महत्व दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार मनुष्य को प्रकृति से ही प्राप्त हैं। अधिकार मनुष्य की प्रकृति में ही निहित है; वह उनके साथ ही जन्म लेता है। वे उसकी प्रकृति के वैसे ही अंग हैं जैसे उसकी चमड़ी का रंग। हॉब्स का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपने प्राणों की रक्षा के लिये अपनी शक्ति का अपनी इच्छानुसार प्रयोग करने की स्वतन्त्रता है, यह उसका प्राकृतिक अधिकार है। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अपने निर्णय तथा अपनी बुद्धि के अनुसार किसी भी काम को करने की उसे स्वतन्त्रता है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक वस्तु पर, यहाँ तक कि एक दूसरे के शरीर पर भी, अधिकार है। जॉन लॉक का मत था कि सब व्यक्ति स्वतन्त्र और समान उत्पन्न हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति ने कुछ अधिकार दिये हैं जैसे जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार

जिनका उपभोग मनुष्य उस प्राकृतिक अवस्था में भी करता था जबकि समाज एव राज्य की स्थापना नहीं हुई थी। इन लेखकों के अनुसार ये अधिकार स्वयसिद्ध हैं, उन्हें उचित सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। समाज मनुष्यों को इन अधिकारों से वंचित नहीं कर सकता जो प्रकृति ने उसे प्रदान किये हैं। उनके लिये राज्य तथा समाज की स्वीकृति आवश्यक नहीं है, उनका प्रयोग कहीं भी और सर्वत्र दृढतापूर्वक किया जा सकता है।

यही प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त है। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के हॉब्स, लॉक, रूसो जैसे समर्थकों के अतिरिक्त अन्य कई विचारकों, जैसे मिल्टन, वोल्तेयर, टॉमस पेन, ब्लैकस्टोन आदि ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस सिद्धान्त ने मानवता के विकास में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया है। लॉक ने सर्वप्रथम सरकार की निरंकुशता को रोकने के लिये इस सिद्धान्त का प्रयोग किया। अठारहवीं शताब्दी में उदारवादी विचारकों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये इसका आश्रय लिया। व्यावहारिक राजनीति में भी इस सिद्धान्त का बड़ा प्रभाव पड़ा है। अमेरिका तथा फ्रांस की राज्य क्रान्तियों पर इसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अमेरिका के संयुक्त राज्य की स्वातन्त्र्य-घोषणा (४ जुलाई १७७३) में यह घोषित किया गया है कि 'सब मनुष्य समान बनाये गये हैं, विधाता ने सबको कुछ अविच्छेद्य अधिकार दिये हैं, जिनमें जीवन, स्वतंत्रता तथा सुख की खोज के अधिकार सम्मिलित हैं।' फ्रांस की राज्यक्रान्ति के दौरान में भी प्राकृतिक अधिकारों की घोषणा की गई। १७९३ की घोषणा में स्वतन्त्रता, समानता, सुरक्षा और सम्पत्ति के अधिकारों की गणना मनुष्य के महत्वपूर्ण प्राकृतिक तथा अदेय अधिकारों में की गई है। आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी में प्रख्यात अंग्रेज़ लेखक हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी इस सिद्धान्त को अपनाया और 'समान स्वतन्त्रता' को सब मनुष्यों का आधारभूत अधिकार बतलाया। आज भी यह सिद्धान्त लुप्त नहीं हुआ है और जिस दृढता के साथ भोजन, वस्त्र, निवास-स्थान, आजीविका आदि के अधिकारों की माग की जाती है उसमें प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता निहित रहती है।

आलोचना—

बड़े-बड़े विचारकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है और इसकी परम्परा बड़ी प्राचीन है किन्तु जिस अर्थ में प्राकृतिक अधिकारों का इस

सिद्धान्त में प्रतिपादन किया जाता है उसमें वह स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त में अनेक दोष हैं।

इस सिद्धान्त में सबसे बडी त्रुटि तो यह है कि 'प्रकृति' और 'प्राकृतिक' शब्दों की कोई ऐसी एक व्याख्या नहीं है जो सर्वसम्मत हो और जिस अर्थ में इन शब्दों का प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध मे प्रयोग किया जा सके। डी० जी० रिची ने अपने 'Natural Rights' नामक ग्रन्थ में उन अनेक अर्थों को बतलाया है जिनमें प्रकृति शब्द का प्रयोग किया गया है। कभी प्रकृति का अर्थ समस्त विश्व समझा जाता है, कभी उससे विश्व के उस भाग का अर्थ लिया जाता है जिसमे मनुष्य नहीं है, कभी उसका अर्थ किया जाता है आदर्श, कभी प्रारम्भिक, कभी अपूर्ण, कभी पूर्ण विकसित रुप और कभी सामान्य या औसत। इन विभिन्न अर्थों के कारण यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि हम प्राकृतिक अधिकार का क्या अर्थ करें।

जब प्राकृतिक क्या है इस विषय में ही लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं तो यह स्वाभाविक है कि प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन करने वालों में भी मतभेद हो। प्राकृतिक अधिकारों की ऐसी कोई सूची नहीं है जो प्रामाणिक अथवा सर्वमान्य हो। कुछ लोग व्यक्तिगत सम्पत्ति को एक प्राकृतिक अधिकार मानते हैं, दूसरे उसको अप्राकृतिक बतलाते हैं; कुछ लोग दास-प्रथा को प्राकृतिक बतलाते हैं, दूसरे लोग उसे कृत्रिम एवं अप्राकृतिक कहते हैं; कुछ लोग स्त्री और पुरुष को प्रकृति से समान समझते हैं, दूसरे लोग प्रकृति से स्त्री को हीन मानते हैं।

इतना ही नहीं, जो अधिकार प्राकृतिक बतलाये जाते हैं उनमें भी परस्पर विरोध है। फ्रांस की राजक्रान्ति के समय नेशनल एसेम्बली ने स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व को मनुष्य के प्राकृतिक, अविच्छेद्य एवं निरपेक्ष अधिकार बतलाया था और वे स्वतःसिद्ध घोषित किये गये थे। परन्तु व्यवहार की दृष्टि से इस सम्बन्ध में कठिनाई उपस्थित होती है। जैसा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं समाज में निरपेक्ष स्वतंत्रता और निरपेक्ष समानता साथ-साथ नहीं रह सकती। यदि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार काम करने की अनियंत्रित स्वतंत्रता हो तो समानता नहीं रहती और यदि निरपेक्ष समानता स्थापित की जाती है तो अनियंत्रित स्वतंत्रता नहीं रहती। हमने पीछे स्वतंत्रता और समानता का अविरोध सिद्ध किया है परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि यह अविरोध वास्तविक स्वतंत्रता (अर्थात् नियंत्रित स्वतंत्रता) और वास्तविक समानता

(अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को विकास के लिये पर्याप्त अवसरों की प्राप्ति) में है। प्राकृतिक अधिकार के समर्थकों के विचार से स्वतंत्रता और समानता निरपेक्ष हैं और इस कारण उनमें विरोध स्वाभाविक है।

इस सिद्धान्त में एक बड़ा दोष यह भी है कि इसके अनुसार राज्य और समाज कृत्रिम अथवा अप्राकृतिक हो जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, जैसा सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से प्रकट होता है, आरंभ में मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहता था और अपने प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता था। उस समय समाज या राज्य नहीं था। मनुष्य ने बाद में समझौते से समाज और राज्य का निर्माण किया। इस प्रकार ये कृत्रिम हैं। इसका यह भी तात्पर्य है कि समाज और राज्य ने मनुष्य के उन जन्मसिद्ध अधिकारों को छीन लिया है जो उसे प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त थे। यह विचार गलत है। हम देख चुके हैं कि मनुष्य सदा से समाज में रहता आया है, वह प्रकृति से ही सामाजिक है। इतिहास से मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का कोई प्रमाण नहीं मिलता। समाज और राज्य दोनों प्राकृतिक हैं।

इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की ये मान्यताएँ कि (१) अधिकार राज्य से स्वतंत्र रूप में और राजनीतिक समाज से पूर्व भी विद्यमान् थे और (२) राज्य मनुष्य को प्रकृति-दत्त अधिकारों से वंचित कर देता है, गलत हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि अधिकार केवल 'नागरिक समाज' (Civil Society) में ही हो सकते हैं; राजनीतिक दृष्टि से सङ्गठित समाज के सदस्य के रूप में ही व्यक्ति उनका उपभोग कर सकता है। समाज की सदस्यता इनका आधार है और इनके उपभोग के लिये परम आवश्यक है।

निष्कर्ष—

प्रकृति से मनुष्य जो कुछ प्राप्त करता है वह सत्ता (Power) है जैसे देखने, सुनने, खाने पीने आदि की शक्तियाँ। ये शक्तियाँ अधिकार नहीं हैं किन्तु ये अधिकारों के आधार हो सकती हैं। प्रकृतिदत्त कुछ शक्तियाँ तो जन्म के समय परिपक्व होती हैं, अन्य शक्तियों के विकास के लिये समय तथा वातावरण की अपेक्षा होती है। मानव शिशु में अनेक शक्तियों का भण्डार होता है किन्तु शैशव में वह कई काम नहीं कर सकता। उसमें खड़े होने, भाषण करने तथा विचार करने की शक्ति है किन्तु आरम्भ में वह इन कार्यों को तुरन्त नहीं कर सकता। उनका विकास शनैः शनैः होता

है। वह गणित के प्रश्नों को हल नहीं कर सकता और न निबन्ध लिख सकता है, यद्यपि उसमें प्रतिभा और बुद्धि होती है। इन शक्तियों के विकास की आवश्यकता होती है। इनका विकास समाज में और समाज द्वारा ही सम्भव है। समाज में ही व्यक्ति को अपनी समस्त शक्तियों के विकास के लिए उपयुक्त माध्यम और प्रेरणा तथा प्रोत्साहन मिलते हैं। जीवन की वे समस्त सामाजिक अवस्थाएँ ही, जो उसके विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, मानव के अधिकार हैं। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह उनकी व्यवस्था करे। इस प्रकार अधिकारों की यह परिभाषा की जा सकती है कि वे मानव-विकास के लिये आवश्यक बाहरी अवस्थाएँ हैं। वाइल्ड के अनुसार कुछ कार्यों के सम्पादन की स्वतन्त्रता का उचित दावा ही अधिकार है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि अधिकारों की प्रकृति सामाजिक है। वे व्यक्तियों के अधिकार समाज का सदस्य होने के कारण ही हैं। वे सामाजिक जीवन के पहलू हैं। एक योगिराज जो हिमाचल की कन्दरा में योगसाधना करता है या जो किसी वनप्रदेश में एकान्त जीवन व्यतीत करता है तथा जिसका मानवों से कोई सम्पर्क नहीं, उसके कोई अधिकार नहीं हो सकते।

इस प्रकार प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास करना गलत है, यदि उनका प्रयोजन उन अधिकारों से है जिनका मनुष्य समाज तथा राज्य की उत्पत्ति से पूर्व प्राकृतिक अवस्था में उपभोग करते थे और जिनको प्रकृति की देन कहा जाता है। परन्तु यदि उनसे हमारा प्रयोजन उन अधिकारों या अवस्थाओं से है जो मानव की प्रकृति के विकास के लिये आवश्यक हैं, चाहे वे राज्य द्वारा स्वीकृत हों या न हों और उनकी राज्य ने व्यवस्था की हो या न की हो, तो राज्य-विज्ञान में एक आवश्यक धारणा के रूप में इनका स्थान बना रहना चाहिये। 'प्राकृतिक अधिकारों' से हमें उन अधिकारों का मतलब लेना चाहिये जो प्रत्येक नागरिक को दिये जाने चाहिये जिससे व्यक्तियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके। उदाहरणार्थ हम 'काम के अधिकार' को इस अर्थ में प्राकृतिक अधिकार कह सकते हैं। 'इन्हें आदर्श' अधिकार कहा जा सकता है। इनके द्वारा हम समाज में स्वीकृत तथा प्रचलित वास्तविक और कानूनी अधिकारों की परीक्षा कर सकते हैं। राज्य द्वारा संरक्षित अधिकार इन आदर्श अधिकारों से जितने दूर होंगे, राज्य उतना ही पिछड़ा हुआ होगा। इससे यह स्पष्ट है कि समस्त प्राकृतिक अधिकारों के लिये समाज द्वारा स्वीकृति

आवश्यक नहीं है। वे समाज की नैतिक बुद्धि द्वारा अवश्य स्वीकृत होने चाहिये। यदि जनता किसी अधिकार की निरन्तर माँग करेगी तो नैतिक स्वीकृति के फलस्वरूप उसे क़ानूनी स्वीकृति कभी न कभी अवश्य मिल जायगी।

अधिकारों का कानूनी अथवा वैधानिक सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकार-सिद्धान्त का विरोधी है। इस सिद्धान्त के समर्थक कहते हैं कि अधिकार प्रकृति दत्त नहीं, राज्य से प्राप्त होते हैं। अधिकार जन्मजात नहीं होते और न वे निरपेक्ष ही होते हैं। राज्य उनकी सृष्टि करता है और वे राज्य विधान सापेक्ष होते हैं अर्थात् राज्य के विधान पर निर्भर होते हैं। जो अधिकार राज्य हमें देता है वही हमारे अधिकार हैं और जो अधिकार राज्य हमें नहीं देता वे हमारे अधिकार नहीं हो सकते। बेन्थम के मत में 'जिन अधिकारों को उचित दृष्टि से अधिकार कह सकते हैं वे उचित रूप से कानून कहे जाने वाले कानूनों की सृष्टि हैं।'* राज्य कानून के द्वारा हमें अधिकार देता है। हमारे जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति आदि के अधिकारों का निर्णय राज्य के क़ानूनों द्वारा ही होता है। कानून उन स्थितियों का निर्धारण करता है जिनमें हम स्वतंत्रता, सम्पत्ति आदि के अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं, यहाँ तक कि जीवन तक का अधिकार राज्य द्वारा निर्धारित होता है क्योंकि वही यह निर्णय करता है कि किन परिस्थितियों में हम से हमारा जीवन छीना जा सकता है। राज्य कभी भी हमारे किसी भी अधिकार का अपहरण कर सकता है। इस प्रकार वास्तविक अधिकार वे ही हैं जो हमें राज्य से क़ानून द्वारा प्राप्त होते हैं। उनसे भिन्न कोई अधिकार नहीं हो सकते। प्राकृतिक अधिकार निरर्थक हैं। वे प्राकृतिक कानून के अनुकूल समझे जाते हैं परन्तु जिनको हम प्राकृतिक कानून कहते हैं वे या तो राज्य के क़ानून से मेल खाते हैं या उनके विपरीत होते हैं। पहली दशा में वे अनावश्यक हो जाते हैं और दूसरी दशा में वे व्यर्थ होते हैं क्योंकि उनके अनुसार आचरण सम्भव नहीं। ऐसी दशा में प्राकृतिक अधिकार की बात करना व्यर्थ है। इस सिद्धान्त के समर्थक हॉब्स, बेन्थम, ऑस्टिन, हॉलैण्ड आदि हैं।

वर्तमान काल में समाज शास्त्र के अध्ययन की प्रगति के साथ अधिकारों के क़ानूनी सिद्धान्त को एक दूसरा रूप दिया गया है जिसे हम समाज शास्त्री अथवा यथार्थवादी सिद्धान्त कह सकते हैं। सुप्रसिद्ध समाज-

*Quoted in Barker : Political Thought in England, p. 26.

शास्त्री गमप्लाविज़ (Gumplowicz), जो आधुनिक समाज को शक्ति का परिणाम मानता है, अधिकारों की चर्चा करते हुए कहता है कि अधिकार सामाजिक जीवन में काम आने वाले वे नियम हैं जिन्हें समाज स्वीकार करके क़ानून के द्वारा कार्यान्वित करता है। इस प्रकार अधिकार कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो किसी नैतिक मानदण्ड के अनुसार होनी चाहिये वरन् यह वस्तु है जो यथार्थ में है, जिसका अस्तित्व है। उसका कथन है कि मनुष्य के अविच्छेद्य अधिकारों को मानना मनुष्य को देवता समझने और मानव जीवन का अत्यधिक मूल्य मान लेने का तथा राज्य के अस्तित्व के एक मात्र सम्भव आधार को ग़लत समझने का परिणाम है। अधिकार न्याय पर आधारित नहीं हैं, बल्कि इसके विपरीत न्याय की सृष्टि केवल उन वास्तविक अधिकारों से होती है जो राज्य में विद्यमान् हैं। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यही है कि राज्य, उसके क़ानून और अधिकार सब का आधार शक्ति है। उनका नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आलोचना—

इस सिद्धान्त में सर्वप्रथम दोष तो यह है कि इसमें अधिकार के क़ानूनी तत्व पर ही ध्यान दिया जाता है और उसके नैतिक तत्व की उपेक्षा की जाती है। जैसा बोसान्क्वे का कथन है, प्रत्येक अधिकार में क़ानूनी तथा नैतिक तत्व होते हैं। इसके समर्थक यह बात भूल जाते हैं कि जो अधिकार हमें क़ानून द्वारा मिलते हैं वे केवल इसी कारण अधिकार नहीं है कि उन्हें क़ानून की स्वीकृति प्राप्त है, बल्कि इसलिये भी हैं कि वे नैतिक दृष्टि से उचित हैं। कोई भी वस्तु केवल राज्य के आदेश से उचित या अनुचित नहीं बन जाती। राज्य चोरी या व्यभिचार को उचित नहीं ठहरा सकता। वाइल्ड का कथन है कि 'राज्य हमारे अधिकारों को उत्पन्न नहीं करता, वह केवल उन्हें मान्यता देता है और उनकी रक्षा करता है। अधिकारों का अस्तित्व स्वयं अपने आप रहता है, उन्हें क़ानून का रूप चाहे मिले या न मिले। क़ानून द्वारा उन्हें लागू इसलिये किया जाता है कि वे अधिकार हैं, क़ानून द्वारा कार्यान्वित किये जाने के कारण ये अधिकार नहीं बनते।' लास्की ने भी अधिकारों की केवल क़ानूनी दृष्टिकोण से विवेचना करना ग़लत बतलाया है। उसका कहना है कि यह सिद्धान्त 'हमें यह बता सकता है कि यथार्थ में राज्य कैसा है, परन्तु उससे यह मालूम नहीं होता कि राज्य में जिन अधिकारों को मान्यता दी गई है वे वास्तव

में ऐसे अधिकार हैं जिन्हें मान्यता दी जानी चाहिये।'* वास्तव में सही रूप में अधिकार वह है जो कानून द्वारा मान्य होने के साथ ही नैतिक दृष्टि से भी उचित हो।

इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त को स्वीकार करना राज्य को निरंकुश बना देना है क्योंकि इसके अनुसार जब राज्य ही अधिकारों की सृष्टि करता है तो वह किसी भी वस्तु को उचित या अनुचित ठहरा सकता है। यह स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। यह तो सत्य है कि वैधानिक दृष्टिकोण से राज्य में प्रभुता होती है परन्तु वास्तव में उसकी सत्ता बिलकुल अमर्यादित नहीं होती। उस पर रीति-रिवाजों, परम्पराओं, नैतिकता आदि का बन्धन रहता है जिसे वह तोड़ नहीं सकता। लास्की का कथन है कि 'अधिकारों की प्रतिष्ठा और रक्षा का सम्बन्ध लिखित विधान की अपेक्षा अभ्यास और परम्पराओं से अधिक है। अधिकांश में समाज के रीति-रिवाज ही क़ानून का निर्धारण करते हैं।'† अधिकतर रीति रिवाज ही क़ानून का रूप धारण कर लेते हैं और बहुत से मामलों में न्याय समाज के रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं का अनुकरण करता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि सभी अधिकार क़ानून के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। क़ानून ही अधिकारों का अन्तिम स्रष्टा नहीं है। यह बात इससे भी स्पष्ट होती है कि कानून समय-समय पर समाज की औचित्य भावना के अनुकूल बदलते रहते हैं। जो बात एक परिस्थिति में उचित होती है वह दूसरी परिस्थिति में अनुचित हो जा सकती है। इस परिवर्तित परिस्थिति में क़ानून बदलते पड़ते हैं। क़ानून के साथ अधिकारों में भी परिवर्तन हो जाता है। व्यक्ति को क़ानून से असीमित निजी सम्पत्ति का अधिकार हो सकता है परन्तु समाज की भावना बदलने पर और असीमित निजी सम्पत्ति अनुचित समझे जाने पर राज्य को क़ानून बदलकर इस अधिकार को नष्ट करना पड़ेगा, जैसा रूस में हुआ है। आवश्यकता पड़ने पर व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार भी है, हालाँकि इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं हो सकता। लास्की के अनुसार व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध उसी प्रकार अधिकार हो सकते हैं जैसे राज्य को व्यक्ति के प्रति होते हैं क्योंकि वास्तव में व्यक्ति का जो कर्त्तव्य राज्य के

* Laski: A Grammar of Politics, p 91.

† Ibid, p. 103.

प्ति है वह वास्तव में उस आदर्श के प्रति है जिसकी सिद्धि का प्रयत्न राज्य को करना चाहिये।*

नैतिकता के तत्व की उपेक्षा से उत्पन्न होने वाली कठिनाई से बचने के लिये इस सिद्धान्त के समर्थक कहते हैं कि राज्य केवल क़ानूनी अधिकारों का स्रष्टा है अर्थात् क़ानून केवल कानूनी अधिकारों का निर्माण करता है। यह तो केवल पुनरुक्ति हुई। इस कथन से इस प्रश्न का समाधान नहीं होता कि कानून अनुचित को उचित कैसे ठहरा सकता है। वास्तव में यह सिद्धान्त अपूर्ण है। इसमें अधिकार के वास्तविक आधार—नैतिकता—के लिये कोई गुंजायश नहीं है। अधिकार चाहे इतिहास से उत्पन्न हुए हों, या परम्परा से या क़ानून से; प्रत्येक दशा में उनके लिये एक नैतिक आधार की आवश्यकता होती है।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त तर्कों से अधिकार का कानूनी सिद्धान्त असन्तोषप्रद सिद्ध होता है परन्तु असन्तोषप्रद होते हुए भी वह नितान्त ग़लत नहीं है। उसमें कुछ सत्याश है। राज्य से अलग अधिकारों की स्थिति संभव नहीं है। प्राकृतिक (अर्थात् आदर्श) अधिकार हमारे नैतिक अधिकार हैं। उन्हें कार्यान्वित कराने वाली कोई शक्ति नहीं है। ऊपर हम बोसांक्वे का मत बतला चुके हैं कि अधिकार के क़ानूनी और नैतिक दो पक्ष होते हैं। उसका कथन है कि 'अधिकार एक दावा है जिसे कानून द्वारा कार्यान्वित किया जा सकता है परन्तु किसी भी नैतिक आदेश को कानून द्वारा अमल में नहीं ला सकते। किन्तु यह भी स्वीकार किया जाता है कि अधिकार ऐसा दावा है जिसे क़ानून द्वारा लागू किये जाने योग्य होना चाहिये और इस तरह उसका यह नैतिक पक्ष है। एक लाक्षणिक अधिकार में ये दोनों पक्ष मिले होते हैं। वह क़ानून द्वारा अमल में लाने योग्य होता है और उसे ऐसा होना भी चाहिये।'‡ इस प्रकार केवल नैतिक आधार पर स्थित दावे संभवनीय अधिकार मात्र हो सकते हैं। वे हमारे अधिकारों के आधार हो सकते हैं परन्तु उन्हें पूर्ण अधिकार नहीं कह सकते। पूर्ण अधिकार बनने के लिये नैतिक मान्यता के साथ उनके लिये कानूनी स्वीकृति आवश्यक है जिससे सब लोग उनका उपभोग कर सकें। और उनका अतिक्रमण करने वालों को दण्ड दिया जा सके। संक्षेप में, अधिकार का वास्तविक आधार

* Ibid, p. 96.

‡ Bosanquet: *The Philosophical Theory of the State*, p. 187.

नैतिक है परन्तु कोई भी दावा नैतिक होते हुए भी अधिकार का रूप उसी समय धारण करता है जब उसे राज्य स्वीकार करके कानूनी रूप दे देता है।

ऐतिहासिक सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त अधिकारों के कानूनी सिद्धान्त का विरोधी है। इसके समर्थकों का कथन है कि अधिकारों की सृष्टि इतिहास से होती है। बहुत दिनों से चले आने वाले रीतिरिवाज धीरे धीरे कुछ समय बाद अधिकार का रूप धारण कर लेते हैं। सम्पत्ति का अधिकार इसी प्रकार उत्पन्न हुआ। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के पहले वहाँ के रईस कृषकों की अपनी सम्पत्ति समझते थे और शिकार के समय उनके खेतों को उनमें अपने घोड़े दौड़ा कर नष्ट कर दिया करते थे। यह उनका अधिकार माना जाता था जिसे राज्यक्रान्ति ने समाप्त किया। सभी देशों में आत्महत्या अपराध माना जाता है परन्तु जापान में हराकिरी का अधिकार बड़ा गौरवपूर्ण माना जाता है जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति कर्तव्यच्युत होने पर स्वयं अपने प्राणों का अन्त कर देने में गौरव का अनुभव करता है। रिची का कथन है कि 'जिन अधिकारों के विषय में लोग सोचते हैं कि वे उन्हें मिलने ही चाहिये वे ऐसे ही अधिकार होते हैं जिनके वे अभ्यस्त होते हैं या जिनके विषय में गलत या सही एक परम्परा होती है कि वे उन्हें कभी प्राप्त थे।'* इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों का जन्म रीतिरिवाजों एवं परम्पराओं से होता है। अधिकार रीतिरिवाजों का ठोस रूप है।

आलोचना—

यह सत्य है कि हमारे बहुत से अधिकारों का स्रोत हमारे रीतिरिवाजों तथा हमारी परम्पराओं में है परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि हमारे सभी अधिकार पुराने रीतिरिवाज हैं या अधिकारों का जन्म केवल रीतिरिवाजों से ही होता है। यदि रीतिरिवाजों से ही अधिकार बनते तो प्राचीनकाल की दास-प्रथा अब भी चलनी चाहिये और दास रखना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार होना चाहिये। यदि यह मान भी लिया जाय कि जिस समय में दास-प्रथा थी उस समय यह एक अधिकार था परन्तु जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं अधिकार में औचित्य की भावना का समावेश आवश्यक है और दास-प्रथा कभी भी उचित नहीं समझी जा

* Ritchie : Natural Rights. pp. 78-79.

सकती। इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि दास-प्रथा एक सापेक्ष अधिकार था। एक समय था जब लोग उसे उचित समझते थे परन्तु अब समाज की नैतिक भावना उसे उचित नही समझती अतः वह अब अधिकार नही बन सकती। परन्तु क्या स्वयं दास लोग उसे उचित समझते थे?

यदि हम अधिकारो की उत्पत्ति केवल रीतिरिवाजों और परम्पराओं से ही मान ले तो सुधार असम्भवहो जायगा। बहुत से प्राचीन रीतिरिवाज हानिकार सिद्ध होने पर छोड दिये जाते हैं। भारतवर्ष मे सतीप्रथा तोड दी गई। इसी प्रकार अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया। आवश्यकता पड़ने पर हम नये अधिकारों की सृष्टि करते हैं जो पहले कभी रीतिरिवाज के रूप मे नहीं थे। प्राचीन काल मे शिक्षा एवं काम के अधिकार नहीं थे परन्तु अब सभ्य देश इसकी आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। रूस में तो ये अधिकार लोगों को प्राप्त भी हैं।

इस प्रकार यह सिद्धान्त अधिकार का स्वरूप ठीक ठीक नहीं समझाता। इसमे इतना तो सत्य है कि हमारे बहुत से अधिकार रीतिरिवाज पर आधारित है परन्तु हम उसके इस दावे को स्वीकार नही कर सकते कि रीतिरिवाज अर्थात् इतिहास ही अधिकारो का एकमात्र स्रोत है।

अधिकारों का सामाजिक कल्याण या उपयोगिता का सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त के समर्थक बेन्थम, मिल जैसे उपयोगितावादी विचारक हैं। उनका कथन है कि क्या होना चाहिये इसका निश्चय करने के लिये एक ही कसौटी है और वह है 'उपयोगिता' अर्थात् 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख'। उनका मत है कि राज्य तथा व्यक्ति सबके कामों का निर्धारण इसी सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिये। जिन कामों से समाज मे अधिक से अधिक व्यक्तियों को अधिक से अधिक सुख प्राप्त हो, वे ही उचित हैं। इस प्रकार अधिकारो का आधार उपयोगिता अर्थात् सामाजिक उपयोगिता है।

अमेरिका के विधानशास्त्री डीन रॉस्को पाउण्ड तथा प्रोफेसर चेफी का भी मत है कि अधिकार सामाजिक कल्याण की शर्त हैं। समाज उनकी सृष्टि करता है। कानून, रीतिरिवाज, प्राकृतिक अधिकार आदि सब वस्तुओं को जो समाज के लिये उपयोगी अथवा वाञ्छनीय है उसके सामने झुकना चाहिये। कोई भी अधिकार निरपेक्ष या असमर्यादित नहीं होता। उसका निर्धारण सामाजिक उपयोगिता के विचार से होता है। व्यक्ति को वे ही अधिकार मिल सकते हैं जो सामाजिक कल्याण के अनुकूल हैं।

लास्की ने भी कुछ परिवर्तन के साथ इस सिद्धान्त को अपनाया है और इस परिवर्तन के साथ वह करीब-करीब आदर्शवादी सिद्धान्त के निकट पहुंच गया है जिसके विषय में हम आगे पढ़ेंगे। वह भी उपयोगिता को अधिकारों की कसौटी मानता है किन्तु उपयोगिता से उसका तात्पर्य है राज्य के सभी लोगों के लिये उसका मूल्य।* उसके अनुसार अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना कोई व्यक्ति साधारणतया अपने सर्वोत्तम रूप को प्राप्त करने का प्रयास नहीं कर सकता। परन्तु उसका कथन है कि हमारे अधिकार समाज से स्वतंत्र नहीं हैं। हमारे पास अधिकार हैं क्योंकि हम समाज के सदस्य हैं। हमारे अधिकार समाज से स्वतन्त्र नहीं वरन् उसमें निहित हैं। हमारे पास अधिकार समाज की तथा अपनी दोनों की रक्षा के लिये हैं।† हमें अधिकार इसलिये हैं कि हम समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकें। इस प्रकार अधिकार का सम्बन्ध कर्त्तव्य से है। हमें समाज के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार नहीं है। जो कुछ हम प्राप्त करते हैं कम से कम उसकी कीमत चुकाने का प्रयत्न किये बिना उसे ग्रहण करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। मेरे कामों का सामाजिक कल्याण से जो सम्बन्ध है उसी के आधार पर मेरे अधिकारों का निर्माण होता है। मैं जो दावा करता हूँ वह भी ऐसा होना चाहिये जो मेरे कर्तव्य के समुचित पालन के लिये आवश्यक हो। सामाजिक कल्याण के विरुद्ध मेरा कोई अधिकार नहीं हो सकता क्योंकि उस कल्याण में स्वयं मेरा कल्याण भी घनिष्ठ तथा अविच्छेद्य रूप से जुड़ा हुआ है। चूँकि अधिकारों का आधार सामाजिक कल्याण है, इसलिये लास्की प्रत्येक नागरिक को, यदि राज्य सार्वजनिक कल्याण को छोड़ किसी वर्गविशेष के हित में काम करता हो, उसका विरोध करने का अधिकार देता है क्योंकि राज्य के प्रति भक्ति का केवल यही आधार है कि राज्य सार्वजनिक कल्याण का सम्पादन करने के लिये और नागरिकों को अपने विकास के लिये पूरी सुविधाएँ देने के लिये है।

इस प्रकार अधिकारों का कर्त्तव्य से सम्बन्ध स्थापित करके लास्की अधिकार की कल्पना का और भी विस्तार करता है। जहाँ कर्त्तव्य है, वहाँ अधिकार आवश्यक रूप से हैं। व्यक्ति के कर्त्तव्य केवल राज्य के प्रति ही नहीं है। समाज में अनेक समुदाय होते हैं जिनसे मनुष्य का सम्बन्ध होता

* Laski: A Grammar of Politics, p. 92.

† Ibid, p. 94.

है और जो उसकी अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उनके प्रति भी व्यक्ति के कर्त्तव्य हैं। और चूँकि समुदाय व्यक्तियों के प्रति अनेक कर्त्तव्य करते हैं इसलिये उनके भी अधिकार होने चाहिये। अन्त में समाज एवं राज्य भी कर्त्तव्य करते हैं, अतः उनके भी अधिकार हैं। इस प्रकार अधिकार की कल्पना बड़ी विशद है और किसी भी समुचित अधिकार-व्यवस्था में सामाजिक जीवन के इन तीनों पक्षों—व्यक्ति, समुदाय तथा समाज—में सामञ्जस्य स्थापित होना चाहिये। उसमें व्यक्तियों, समुदायों तथा समाज के हितों का विचार रखते हुये उन सबके अधिकारों की व्यवस्था होनी चाहिये।* दार्शनिक दृष्टि से सबका एक सामान्य हित होते हुए भी व्यावहारिक जगत में इन विभिन्न पक्षों के हितों में संघर्ष होने की सदा संभावना रहती है। हमारा प्रयत्न उन हितों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये होना चाहिये जिससे अधिक से अधिक लोगों का कल्याण हो सके।

आलोचना—

हमने अभी तक जितने अधिकार-सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन किया है उनमें यह सब से अधिक सन्तोषप्रद है। सामाजिक कल्याण अधिकारों की अच्छी कसौटी है। परन्तु इसमें आरंभ में ही एक कठिनाई उपस्थित होती है। हम सामाजिक कल्याण का क्या अर्थ समझें? समाज के प्रत्येक सदस्य का हित, या अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख, या समाज के बहुसंख्यक भाग का हित? यदि इनमें से कोई एक अर्थ भी हम ग्रहण करलें तो भी कठिनाई का अन्त नहीं होता। ऐसा कोई भी काम नहीं हो सकता जिससे समाज के प्रत्येक व्यक्ति का हित हो सके। अधिक से अधिक लोगों के सुख का यदि अर्थ लें तो जो लोग बचे रहते हैं उनके सुख की उपेक्षा होती है। फिर, सुख से क्या तात्पर्य है? क्या प्रत्येक व्यक्ति का सुख एक ही प्रकार का होता है? सुख की माप कैसे होगी? बहुसंख्यक लोगों के हित का सम्पादन करने में अल्पसंख्यक लोगों के हित की हानि होती है।

इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त में एक त्रुटि और है। सामान्यतया यह बात सत्य है कि सार्वजनिक कल्याण से व्यक्ति का कल्याण घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और अधिकतर मामलों में व्यक्तिगत हित सामाजिक हित के अनुरूप ही होता है। परन्तु इन दोनों में संघर्ष संभव है और ऐसी दशा में सामाजिक हित की वेदी पर व्यक्तिगत हित का बलिदान किये जाने का

* Laski : A Grammar of Politics, p. 141.

डर है। लास्की व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार देता है परन्तु इस अधिकार को व्यवहार में लाना कठिन है क्योंकि राज्य अपने विरुद्ध किये जाने वाले प्रत्येक कार्य को सामाजिक हित के विरुद्ध बतलाने का प्रयत्न करेगा।

आदर्शवादी अथवा व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार व्यक्ति के आन्तरिक विकास के लिये आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ हैं। ये वे शक्तियाँ हैं जो व्यक्ति के नैतिक विकास के लिये आवश्यक हैं। इन्हीं के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। आदर्शवादी विचारक मनुष्य को एक नैतिक प्राणी मान कर चलते हैं जिसका उद्देश्य अपने नैतिक व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास करना है। मनुष्य अनेक गुणों के साथ जन्म लेता है और वह उन गुणों (सद्‌गुणों) का उपयोग करके अपने व्यक्तित्व का उच्चतम विकास करना तथा इस प्रकार अपनी आदर्श दशा को प्राप्त करना चाहता है। यह ध्येय ऐच्छिक नहीं, अनिवार्य है क्योंकि नैतिक होने के नाते मनुष्य इस ध्येय की प्राप्ति के लिये बाध्य है। प्राकृतिक शक्तियों एवं गुणों का विकास तथा इस ध्येय की प्राप्ति समाज में और समाज के द्वारा ही सम्भव है क्योंकि उनके विकास के लिये उपयुक्त माध्यम, प्रेरणा तथा प्रोत्साहन समाज में ही प्राप्त हो सकते हैं। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये मनुष्य को अनुकूल परिस्थितियाँ तथा सुविधाएँ चाहिये। वह समाज से इन परिस्थितियों एवं सुविधाओं की माँग करता है। समाज इस माँग को स्वीकार करता है क्योंकि समाज के सभी सदस्य नैतिक व्यक्ति हैं और सब का ध्येय वही है—अपने नैतिक व्यक्तित्व का विकास अर्थात् अपनी आदर्श दशा की प्राप्ति। चूँकि यह ध्येय सब का ध्येय है इस कारण यह ध्येय सामान्य ध्येय है। इस प्रकार चूँकि सब का ध्येय एक ही है इसलिये व्यक्ति के हित और सामान्य हित में कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं और जब व्यक्ति अपने हित अथवा ध्येय की प्राप्ति का प्रयत्न करता है तो वह सामान्य हित की प्राप्ति का भी साथ ही साथ प्रयत्न करता है। इस कारण जब व्यक्ति अपने विकास के लिये आवश्यक सुविधाओं का समाज में दावा करता है तो वह दावा केवल स्वयं उसी के लिये नहीं होता, वह मानता है कि इसी प्रकार की सुविधाएं अन्य सब लोगों को भी प्राप्त होनी चाहिये। समाज भी इन दावों को स्वीकार कर लेता है क्योंकि वे व्यक्तिगत हित में न होकर सामाजिक हित में होते हैं। समाज की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर ये दावे अधिकार बन

जाते हैं। अपने व्यक्तित्व का विकास करना प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोच्च एवं निरपेक्ष अधिकार है; उसके लिये किसी शर्त की आवश्यकता नहीं है। अन्य सब अधिकार इसी आधारभूत अधिकार की पूर्ति के लिये हैं अर्थात् व्यक्तित्व के विकास के साधन रूप हैं और इस प्रकार सापेक्ष हैं। मैं उन्हीं अधिकारों को प्राप्त कर सकता हूँ जो व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि अधिकार की आदर्शवादी कल्पना में कई बातें निहित हैं।

(१) अधिकार व्यक्ति की माग है जिसका उद्देश्य आत्मोन्नति अर्थात् नैतिक व्यक्तित्व का विकास है।

(२) यह माग समाज की स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर अधिकार बनती है।

(३) समाज इस माग को स्वीकृति इस कारण देता है कि वह मांग केवल व्यक्ति के हित में नहीं, बल्कि समाज के हित में भी है क्योंकि व्यक्ति के कल्याण और समाज के कल्याण में अभेद है।

(४) व्यक्ति की प्रत्येक मांग अधिकार नहीं बन सकती, केवल वही मांग अधिकार का रूप धारण कर सकता है जो नैतिक है अर्थात् व्यक्तित्व के विकास के लिये है। कोई व्यक्ति आत्महत्या अथवा किसी दूसरे की हत्या कर सकने के अधिकार की मांग नहीं कर सकता।

(५) अधिकार व्यक्ति में निहित हैं परन्तु एकाकी रहनेवाले व्यक्ति में नहीं बल्कि ऐसे व्यक्ति में जो समाज का सदस्य है जिसकी स्वीकृति से उसका दावा अधिकार बनता है। जंगल में एकान्तवास करने वाले व्यक्ति के अधिकार नहीं हो सकते। इस प्रकार अधिकार सामाजिक होते हैं।

(६) अधिकार एक नैतिक प्राणी के ही हो सकते हैं जिसमें अपने नैतिक विकास की क्षमता होती है। एक सिंह का अधिकार नहीं हो सकता क्योंकि वह नैतिक प्राणी नहीं है। एक मनुष्य के भी, जब वह कोई घृणित अपराध करता है और नैतिकता से च्युत हो जाता है, अधिकार नहीं रहते। ऐसे व्यक्ति को राज्य जब कारावास का दण्ड देता है तो उसके अधिकार स्थगित हो जाते हैं।

(७) अधिकार आवश्यक रूप से सार्वलौकिक और निष्पन्न होते हैं। यदि अधिकार व्यक्ति के आत्मविकास के लिये आवश्यक हैं तो वे सबके लिये आवश्यक हैं और सबको समान रूप से प्राप्य होना चाहिये।

(८) अधिकारों के साथ कर्तव्य अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध हैं। अधिकारों का अस्तित्व कर्तव्य-जगत में ही हो सकता है। एक व्यक्ति के अधिकार दूसरे व्यक्तियों के कर्तव्य हैं। मेरे सम्पत्ति के अधिकार का अर्थ है कि अन्य सब लोग मेरे इस अधिकार का आदर करें और मेरी अनुमति के बिना उसमें हस्तक्षेप न करें। जीवन सम्बन्धी मेरे अधिकार का यह अर्थ है कि दूसरे व्यक्ति मेरे जीवन को किसी प्रकार भी क्षति नहीं पहुँचायेंगे। मेरे अधिकारों का मुझे उपभोग करने देना दूसरों का कर्तव्य है और दूसरों को उनके अधिकारों का उपभोग करने देना मेरा कर्तव्य है। सिजविक का कथन है कि जरासा भी विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि हम किसी एक व्यक्ति के अधिकारों की उनके द्वारा दूसरों पर आरोपित कर्तव्यों के बिना कल्पना नहीं कर सकते।'* इस प्रकार अधिकारों के साथ कर्तव्य जुड़े हुए हैं।

एक दूसरे अर्थ में भी अधिकारों के साथ कर्तव्य जुड़े हुए हैं। अधिकार केवल आत्मविकास की ही शर्त नहीं है, वह सार्वजनिक हित की वृद्धि का भी साधन है। समाज व्यक्ति को अधिकार की गारण्टी इसलिये देता है कि वह अपने नैतिक व्यक्तित्व का विकास कर सके और साथ ही सामाजिक हित साधन में योग दे सके। इस प्रकार एक व्यक्ति का अधिकार स्वयं उस पर उसका प्रयोग सामाजिक कल्याण के लिये करने का कर्तव्य आरोपित करता है। इस प्रकार अधिकार (अर्थात उसका सदुपयोग) स्वयं एक कर्तव्य है। जिस समय व्यक्ति अपने अधिकार का प्रयोग ऐसे ढंग से करने लगता है जो समाज के लिये हानिकर होता है, उस समय वह उसका अधिकारी नहीं रहता। यही कारण है कि राज्य ऐसे व्यक्तियों को बन्दी बना देता है जो समाज के लिये खतरा बन जाते हैं। हॉब्हाउस का कथन है कि 'अधिकार तथा कर्तव्य सामाजिक कल्याण की, सामंजस्य-पूर्ण जीवन की, शर्तें हैं'''समाज के प्रत्येक सदस्य का इस कल्याण से द्विविध सम्बन्ध है। उसका उसमें एक भाग है, वह उसके अधिकार हैं। उसे उस कल्याण के निर्माण में योग देना है। वह उसके कर्तव्य हैं।'‡

यह ध्यान रखना चाहिये कि आदर्शवादी विचारक जिन अधिकारों की चर्चा करते हैं वे आदर्श अधिकार हैं, क़ानूनी नहीं। वे नैतिक हैं। उनका नैतिकता से सम्बन्ध है क़ानून से नहीं। जिस सामाजिक स्वीकृति

* Sidgwick : Elements of Politics, p. 39.

‡ Hobhouse : The Elements of Social Justice; p. 39.

की वे आवश्यकता बतलाते हैं वह भी समाज की नैतिक चेतना की स्वीकृति है, राज्य की विधान-सभा की नहीं। अधिकारों का नैतिकता से सम्बन्ध इस अर्थ में है कि वे नैतिक ध्येय की प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं और उनके लिये समाज की नैतिक चेतना की स्वीकृति की आवश्यकता है। परन्तु उनका क़ानून से भी सम्बन्ध है क्योंकि उनका उपभोग सब लोगों के लिये क़ानून की सहायता से ही संभव हो सकता है। कई अधिकार ऐसे हो सकते हैं जो राज्य द्वारा स्वीकृत न हो परन्तु जिन अधिकारों को समाज की नैतिक स्वीकृति प्राप्त है और जिनकी मांग जनता दृढतापूर्वक करती है उसे कभी न कभी क़ानूनी स्वीकृति मिल जायगी और वह क़ानूनी अधिकार बन जायगा।

आलोचना—

अधिकार के स्वरूप-सम्बन्धी सिद्धान्तों में यह सिद्धान्त सबसे सन्तोषजनक मालूम पडता है। इसमें सबसे बडी विशेषता यह है कि इसका आधार एक नित्य और असंदिग्ध आधार है—मनुष्य का नैतिक व्यक्तित्व जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त में कोई आन्तरिक विरोध नही है क्योंकि वह एक अधिकार को—व्यक्तित्व के विकास के अधिकार को—निरपेक्ष और आधारभूत मानता है; अन्य सब अधिकार इस एक अधिकार की पूर्ति के लिये होते हैं और इस प्रकार सापेक्ष होते हैं। यह समस्त अधिकारों की कसौटी है जो सदा काम दे सकती है। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त में कई निरपेक्ष अधिकार हैं—स्वतन्त्रता, समानता, सम्पत्ति आदि जिनके पारस्परिक विरोध पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। क़ानूनी ऐतिहासिक तथा सामाजिक कल्याण के सिद्धान्तों में एक भी निरपेक्ष अधिकार नहीं है और इस कारण उनमें अधिकारों की परीक्षा के लिये कोई कसौटी नहीं मिलती। सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त में अवश्य सामाजिक कल्याण की कसौटी है परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, वह बडी अस्पष्ट कसौटी है।

इस सिद्धान्त के विषय में भी यही आपत्ति की जा सकती है कि इसकी कसौटी—व्यक्तित्व का विकास—भी उतनी ही अस्पष्ट है। व्यक्ति परस्पर भिन्न होते हैं और उनका व्यक्तित्व भी भिन्न होता है। व्यक्तित्व की कल्पना भी चेतना-सम्बन्धी सूक्ष्म कल्पना है। उसे व्यावहारिक रूप देना बडा कठिन है। राज्य उन परिस्थितियों का कैसे निश्चय करेगा जो उसके समस्त नागरिकों के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक हैं। कोई व्यक्ति कितनी

उन्नति कर सकता है यह कोई नहीं कह सकता। ये कठिनाइयाँ बड़ी गंभीर हैं परन्तु आदर्शवादी लोग यह कहते हैं कि राज्य व्यक्ति के लिये उन समस्त सुविधाओं एवं परिस्थितियों को प्रस्तुत करने का दावा नहीं करता जो उसके विकास के लिये आवश्यक हैं। वह तो यह मानकर चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णतम उन्नति करना चाहता है और इसके लिये वह कुछ न्यूनतम अधिकार समस्त व्यक्तियों के लिये समान रूप में सुलभ कर देता है। यह व्यक्ति के ऊपर निर्भर है कि वह कितने अधिकारों का उपभोग करता है। अधिकार भी किसी समाज के विकास के स्तर पर निर्भर रहते हैं। ज्यों-ज्यों समाज अधिकाधिक सभ्य एवं सुसंस्कृत होता जायगा त्यों त्यों उसे अधिकाधिक अधिकारों की आवश्यकता होती जायगी और राज्य समाज की नैतिक चेतना के अनुसार उन्हें स्वीकार करता जायगा। इस प्रकार इस सिद्धान्त में अधिकारों की कोई अचल कल्पना नहीं, प्रगतिशील कल्पना है। इतिहास से प्रकट होता है कि धीरे धीरे अधिकार का कलेवर बढ़ता जा रहा है। आज हमें वे अधिकार प्राप्त हैं जिनकी प्राचीन, माध्यमिक, यहाँ तक कि आधुनिक युग के आरंभ में भी कोई कल्पना ही नहीं कर सकता था। प्राचीन समाजों में तो मनुष्य को जीवन का अधिकार तक प्राप्त नहीं था।

ऊपर हमने सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में बतलाया था कि यह सिद्धान्त आदर्शवादी सिद्धान्त के समान ही है क्योंकि दोनों में सामाजिक कल्याण पर ज़ोर दिया जाता है तथा दोनों में व्यक्ति का कल्याण और सामाजिक कल्याण घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध माने जाते हैं। परन्तु दोनों में एक महत्वपूर्ण भेद है। सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति और समाज के हितों में विरोध होने पर व्यक्ति का बलिदान निश्चय है परन्तु आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्ति को दूसरे की उद्देश्य-पूर्ति का साधन नहीं बनाता। वह यह कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि दूसरों के हित साधन के लिये किसी व्यक्ति का बलिदान किया जाय। समाज को पूर्ण महत्व देते हुए भी वह व्यक्ति के महत्व को कम नहीं करता और उसे स्वयं साध्य मानता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि जिस आदर्शवाद का वर्णन हम कर रहे हैं वह मर्यादित आदर्शवाद है जिसका प्रमुख प्रतिपादक ग्रीन है।

अधिकार की परिभाषा—

ऊपर हमने अधिकार का स्वरूप बतलाने वाले विभिन्न सिद्धान्तों का

विवेचन किया है जिनमें आदर्शवादी सिद्धान्त सब से अधिक सन्तोषप्रद बतलाया गया है। विभिन्न सिद्धान्तों के प्रतिपादकों ने अपने अपने मत के अनुसार अधिकार की परिभाषा की है। हॉलैण्ड के अनुसार अधिकार मनुष्य की वह क्षमता है जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों के कार्यों को अपनी शक्ति से नहीं बल्कि समाज की शक्ति के बल पर प्रभावित कर सकता है। ऑस्टिन के अनुसार एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्तियों से सहनशीलता के काम करा लेने की अर्थात् कुछ प्रकार के कामों से उनको रोकने की क्षमता का नाम अधिकार है। लास्की के मत में अधिकार जीवन की वे अवस्थाएँ हैं जिनके बिना कोई मनुष्य सामान्यतया अपने सर्वोत्तम रूप को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं कर सकता। मेकन (Maccunn) के शब्दों में *अधिकार सामाजिक कल्याण की कुछ लाभदायक अवस्थाएँ हैं जो नागरिक के सच्चे विकास के लिये अनिवार्य हैं।* ग्रीन के अनुसार अधिकार व्यक्ति के *आन्तरिक विकास के लिये आवश्यक बाहरी अवस्थाएँ हैं।* लॉर्ड के मत के अनुसार अधिकार वे अवस्थाएँ हैं जिनके लिये व्यक्ति न्यायपूर्वक दावा कर सकता है कि प्राकृतिक (आदर्श) अधिकारों की प्राप्ति तथा व्यक्तित्व के विकास के लिये राज्य को उन्हें प्रस्तुत करना चाहिये।

हॉलैण्ड और ऑस्टिन द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ कानूनी सिद्धान्त के अनुसार हैं जिसे हम असन्तोषजनक बतला चुके हैं। मेकन, ग्रीन, लॉर्ड आदर्शवादी हैं। लास्की ने जो अधिकार की परिभाषा की है वह भी आदर्शवादी परिभाषा जैसी ही है। हम अधिकार के समस्त सिद्धान्तों में आदर्शवाद को ही सन्तोषप्रद ठहरा चुके हैं और इस कारण अधिकार की आदर्शवादी परिभाषा ही सन्तोषप्रद हो सकती है। आदर्शवादी भावना के अनुकूल हम कह सकते हैं कि अपने आदर्श उद्देश्य को प्राप्त करने की अनुमति के लिये आत्मचेतनायुक्त व्यक्ति द्वारा किया हुआ तथा समाज द्वारा स्वीकृत दावा अधिकार है।

अधिकारों का वर्गीकरण—

अधिकारों को हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) प्राकृतिक या आदर्श, (२) कानूनी और (३) नैतिक।

प्राकृतिक या आदर्श अधिकार—प्राकृतिक अधिकार का विवेचन ऊपर हो चुका है और हम देख चुके हैं कि इसका जो अर्थ सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को माननेवाले तथा उन्हीं के समान अन्य लोग लगाते हैं उस को ग्रहण करना संभव नहीं है परन्तु आदर्श अधिकार

के रूप में उन्हें ग्रहण किया जा सकता है। आदर्श अधिकार वे अधिकार हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक हैं। उन्हें हम प्राकृतिक इस कारण कह सकते हैं कि व्यक्तित्व के विकास की जो प्राकृतिक आवश्यकता है उसकी पूर्ति के लिये वे आवश्यक हैं। इस अर्थ में सभी अवस्थाएँ जो व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक हैं प्राकृतिक अधिकार हैं, चाहे उन्हें राज्य ने स्वीकार किया हो या न किया हो।

क़ानूनी अधिकार—जिन प्राकृतिक अधिकारों को राज्य स्वीकार कर लेता है और जिन पर आघात करने के लिये कानून दण्ड देता है वे कानूनी अधिकार होते हैं। क़ानूनी अधिकारों की संख्या प्राकृतिक अधिकारों की संख्या से सदा कम होती है। जैसे-जैसे सामाजिक जीवन अधिक विकसित होता जाता है और लोकमत उन्नत होता जाता है वैसे ही वैसे अधिकाधिक प्राकृतिक अधिकार राज्य की स्वीकृति प्राप्त करके कानूनी अधिकार बनते जाते हैं। उदाहरणार्थ, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार है। समाज इसे समझता है परन्तु जब तक लोकमत इसके पक्ष में ज़ोरदार नहीं होता तब तक आवश्यक होते हुए भी वह प्राकृतिक अधिकार ही बना रहेगा; राज्य की स्वीकृति प्राप्त होने पर ही वह कानूनी अधिकार हो सकेगा। यह अधिकार और इसी प्रकार काम का अधिकार रूस को छोड़ शायद सभी राज्यों में अभी प्राकृतिक अधिकार बना हुआ है; रूस में अब यह क़ानूनी अधिकार बन गया है। जिस राज्य में जितने अधिक प्राकृतिक अधिकार कानूनी अधिकारों की कोटि में होंगे वह राज्य और समाज उतना ही उन्नत समझा जायगा।

नैतिक अधिकार—कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जिन्हें समाज की नैतिक चेतना महत्वपूर्ण और आवश्यक समझती है परन्तु जो कानूनी नहीं बन सकते क्योंकि उन पर किये जाने वाले आघात के लिये कानून दण्ड नहीं दे सकता; उदाहरणार्थ, डूबते हुए को बचाये जाने का अधिकार, वृद्धावस्था में माता पिता का पुत्र से सेवा लेने का अधिकार आदि। इस प्रकार के कर्तव्य का पालन राज्य-दण्ड के भय से नहीं बल्कि लोकमत तथा समाज के भय और स्वयं व्यक्ति की नैतिक चेतना एवं कर्त्तव्य बुद्धि से हो सकता है। ऐसे अधिकार नैतिक कहे जाते हैं। वे वास्तव में प्राकृतिक अधिकार हैं परन्तु उनमें एक विशेषता यह है कि वे कभी क़ानूनी अधिकार नहीं बन सकते। इसी कारण हम इनको प्राकृतिक अधिकारों से भिन्न कोटि में रखते हैं।

विशिष्ट अधिकार—

अधिकार के स्वरूप को समझने के पश्चात् यह देखना आवश्यक है कि सभ्य समाज में व्यक्ति को कौन-कौन से अधिकार प्राप्त होने चाहिये। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि, जैसा हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, अधिकार की कल्पना स्थिर नहीं है, वह प्रगतिशील है। अधिकार स्थिर नहीं रहते, उनका विस्तार और विकास होता रहता है। सभ्यता के आरंभ में, जब मनुष्य की बुद्धि अविकसित ही थी, लोगों को अधिकार का भान ही नहीं था। प्राचीन समाज में अन्य अधिकारों की बात तो दूर रही, मनुष्य को मनुष्य होने के नाते जीवित रहने का भी अधिकार नहीं था। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि का विकास होता गया और सभ्यता की उन्नति होने लगी वैसे ही वैसे मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ने लगीं और अधिकारों का उदय होने लगा। जिन अनेक अधिकारों का हम वर्णन करेंगे उनमें से अधिकांश आधुनिक युग के आरंभ में नहीं थे और कई का जन्म ही इस युग के आरंभ में हुआ। स्वतन्त्रता और समानता के जैसे महत्वपूर्ण अधिकारों का वास्तविक अर्थ में जन्म अठारहवीं शताब्दी में हुआ, हालांकि धर्म के क्षेत्र में स्वतन्त्रता की मांग मध्य-काल के अन्त में होने वाले चर्च और राज्य के झगड़ों में उत्पन्न हो चुकी थी। प्राचीन काल में जो बातें उचित और इसी कारण अधिकार समझी जाती थीं, जैसे दास-प्रथा, वे अब अनुचित समझी जाती हैं और उनका अधिकार अब नहीं रहा। जो किसी समय एक वर्गविशेष के विशेषाधिकार थे वे अब सबके समान अधिकार बन गये हैं। सामाजिक जीवन की जटिलता और उससे उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के कारण नये अधिकारों की सृष्टि होती जा रही है जैसे शिक्षा, काम, संगठन, हड़ताल आदि के अधिकार। ऐसी दशा में अधिकारों की कोई ऐसी सूची नहीं बनाई जा सकती जो पूरी हो और प्रत्येक दशा में सन्तोषजनक हो सके। हम केवल उन मुख्य-मुख्य अधिकारों का उल्लेख कर सकते हैं जिनकी राज्य गारण्टी देता है या जिन्हें समाज सामाजिक कल्याण के लिये आवश्यक समझता है।

अधिकार प्रायः दो कोटियों में विभक्त किये जाते हैं—(१) राजनैतिक और (२) सामाजिक। राजनैतिक अधिकार वे अधिकार हैं जिनके द्वारा जनता अपने देश के शासन-कार्य में भाग ले सकती है—जैसे मताधिकार, व्यवस्थापिका सभाओं के लिये निर्वाचित होने का अधिकार, प्रशासकीय पद प्राप्त करने का अधिकार आदि। इन अधिकारों को प्राप्त करके

ही मनुष्य राज्य में नागरिक का पद प्राप्त करता है। जिन लोगों को ये अधिकार प्राप्त नहीं होते वे देश के निवासी होते हुए भी पारिभाषिक अर्थ में नागरिक नहीं कहे जा सकते। दूसरे प्रकार के अधिकार वे अधिकार हैं जो देश में रहने वाले सब व्यक्तियों को, चाहे वे नागरिक हों या न हों, बिना किसी भेदभाव के प्राप्त होते हैं और जो सामान्य सामाजिक जीवन का सुचारु रूप से निर्वाह करने के लिये आवश्यक हैं। वे सब मनुष्यों को मनुष्य होने के नाते प्राप्त होते हैं। किसी देश में अस्थायी रूप में रहनेवाले विदेशियों को भी ये अधिकार प्राप्त होते हैं। ऐसे अधिकार जीवन, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, क़ानून के समक्ष समानता, स्वतन्त्र भाषण, संगठन, सम्पत्ति आदि के अधिकार हैं। यह ध्यान रहे कि ये दोनों प्रकार के अधिकार बिलकुल पृथक् नहीं हैं और बहुत से अधिकार उनके प्रयोग के अनुसार दोनों कोटियों में आते हैं। यदि स्वतन्त्र भाषण का अधिकार सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा धार्मिक क्षेत्र में प्रयुक्त हो रहा हो तो यह सामाजिक अधिकार होगा और यदि उसका प्रयोग राजनीतिक प्रयोजन के लिये हो, जैसे शासन की नीति की आलोचना करने के लिये, तो वह राजनीतिक अधिकार होगा। इसके साथ ही दोनों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीतिक अधिकारों के बिना सामाजिक अधिकार सुरक्षित नहीं रह सकते और सामाजिक अधिकारों के बिना राजनीतिक अधिकारों का उचित उपभोग नहीं हो सकता।

आजकल सभी सभ्य राज्यों में जनता को अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं। यह देखने के लिये कि कौन-कौन से अधिकार मनुष्य को प्राप्त होने चाहिये, हमें अधिकार का स्वरूप सदा ध्यान में रखना चाहिये। हम देख चुके हैं कि अधिकार व्यक्ति के नैतिक विकास तथा सामाजिक कल्याण के सम्पादन के लिये होते हैं। अपने व्यक्तित्व का विकास करना यह व्यक्ति का निरपेक्ष आधारभूत अधिकार है। अन्य सब अधिकार केवल इस अधिकार की पूर्ति के लिये हैं। उन सबकी कसौटी यही है। हम उन्हीं अधिकारों का दावा कर सकते हैं जो हमें अपने व्यक्तित्व के विकास में सहायक हों और जिनसे सामाजिक कल्याण के सम्पादन में सहायता प्राप्त होती हो। उनसे भिन्न किसी भी अधिकार का दावा नहीं हो सकता।

जीवन का अधिकार—

सबसे महत्वपूर्ण अधिकार जीवन का अधिकार है जिसका अर्थ है कि मेरा जीवन सब प्रकार से सुरक्षित रहे और उसे किसी प्रकार भी कोई

क्षति नहीं पहुँचे। यह अन्य समस्त अधिकारों का आधार है। मनुष्य के अन्य सब व्यापार तभी हो सकते हैं और वह अपना विकास तभी कर सकता है जब वह जीवित रहे। यदि जीवन न रहे तो सब व्यर्थ है। यदि किसी मनुष्य को सदा मृत्यु का भय लगा रहे तो वह कुछ नहीं कर सकता; उसके लिये अन्य अधिकार व्यर्थ हैं। परन्तु जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य को जीवित रहने का अधिकार है तो इसका यह आशय नहीं है कि यह अधिकार निरुपाधिक अर्थात् बिना किसी शर्त के है। हम पहले बतला चुके हैं कि केवल व्यक्तित्व के विकास के अधिकार को छोड़ अन्य कोई अधिकार निरपेक्ष एवं निरुपाधिक नहीं होता। जीवन का अधिकार भी निरुपाधिक नहीं है। यह भी व्यक्ति के आत्मविकास तथा सामाजिक कल्याण में सहायक होने के लिये है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो व्यक्ति अपने आत्मविकास के लिये प्रयत्न नहीं कर रहा हो और जो समाज के कल्याण सम्पादन में योग नहीं दे रहा हो, जैसे एक भिक्षुक, उसे जीवन का अधिकार नहीं रहता। समाज या राज्य जब अधिकार प्रदान करता है तो वह यह आशा नहीं करता कि प्रत्येक व्यक्ति उन अधिकारों का उपभोग उनके उद्देश्य की पूर्ति के लिये अवश्य करेगा। वह अधिकार इस विचार से प्रदान करता है कि ये व्यक्तित्व के विकास तथा सामाजिक कल्याण के लिये आवश्यक हैं और इसीलिये ये प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ होने चाहिये। वैसे तो एक भिक्षुक भी दया, सहानुभूति आदि सद्गुणों को प्रोत्साहित करके अन्य लोगों के नैतिक उत्थान में योग देता ही है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि प्रत्येक अधिकार के साथ द्विविध कर्तव्य लगा रहता है। यदि मुझे जीवित रहने का अधिकार है तो इसके साथ ही मेरे दो कर्तव्य हैं—प्रथम, मैं जीवित रहूँ और द्वितीय, मैं अन्य लोगों के जीवन-अधिकार का आदर करूँ तथा उनके जीवन को किसी प्रकार भी क्षति नहीं पहुँचाऊँ।

(१) व्यक्ति अपने जीवन का स्वामी नहीं है। उसे जीवन-अधिकार अपने आत्मविकास के साथ-साथ सामाजिक कल्याण के लिये भी है। स्वयं अपने और समाज दोनों के विचार से व्यक्ति को अपने जीवन का अन्त कर देना उचित नहीं है। यही कारण है कि आत्महत्या को प्रायः सभी समाज निन्दनीय समझते हैं और प्रायः सभी राज्य इसके प्रयत्न के लिये दण्ड देते हैं। प्रायः व्यक्ति संसार की चपेटों से निरुत्साह होकर घोर निराशा की अवस्था में आत्महत्या कर लेते हैं परन्तु यह काम कायरता

के कारण ही होता है। इस प्रकार आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति अपनी भावी उन्नति की सम्भावना का तो अन्त कर ही देता है, वह समाज को भी अपनी सेवा से वंचित कर देता है और इस तरह समाज की हानि करता है। असाध्य रोगों को छोड़ किसी अवस्था में भी आत्महत्या करना क्षम्य नहीं है। परन्तु वह क्षम्य हो है, उसका समर्थन नहीं किया जा सकता।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। क्या व्यक्ति समाज के हित में आत्महत्या कर सकता है ? हरिजनों को सवर्ण हिन्दुओं से अलग करने के ब्रिटिश सरकार के प्रयत्न को देखकर महात्मा गांधी ने उसके विरोध में सितम्बर १९३२ में 'आमरण अनशन व्रत' लिया था और उसकी आवश्यकता एवं उसके औचित्य को सिद्ध करते हुए उन्होंने भारतमंत्री तथा ब्रिटिश प्रधान मंत्री को जो पत्र लिखे थे उनमें उन्होंने बतलाया था कि मैं अनशन द्वारा अपने प्राणों का बलिदान हिन्दू समाज तथा समस्त मानव समाज के हित में अर्थात् सत्य, न्याय, बन्धुत्व, स्वतन्त्रता, स्वजनप्रेम आदि मानवता के सर्वोच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिये कर रहा हूँ। अस्पृश्यता हिन्दू समाज का एक महान पाप है जो वह शताब्दियों से अछूत कहे जाने वाले मनुष्यों के प्रति करता आरहा है। इस पाप के लिये प्रायश्चित करना अत्यन्त आवश्यक है और मैं स्वयं अपने प्राणों की बलि देकर इस प्रायश्चित को करने जारहा हूँ। मेरा अनशन सवर्ण हिन्दुओं की अन्तरात्मा को अछूतों के साथ न्याय करने के लिये जगाने के निमित है। मैं अपने अनशन द्वारा न्याय के पलड़े को भारी कर देना चाहता हूँ और यदि उससे हिन्दू लोगों में कर्तव्य की भावना जाग जाय तो अनशन का प्रयोजन सिद्ध हो जायगा। यह मेरा एक विशेषाधिकार है और साथ ही एक कर्तव्य भी है।

इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार करने के लिये यहाँ स्थान नहीं है। केवल दो तीन बातें कही जा सकती हैं। सर्वप्रथम बात तो यह है कि इसमें घोर नैराश्य की भावना और पराजय की स्वीकृति निहित है। द्वितीय, इस प्रकार एक महान् आत्मा के निधन से केवल उसके समाज की ही नहीं, समस्त मानव समाज की अकथनीय क्षति होती है। यह कोई नहीं कह सकता कि उसके इस महान् त्याग का वैसा ही परिणाम होगा जैसा उसका अभीष्ट है। महात्मा गांधी के आमरण अनशन से कुछ तात्कालिक परिणाम तो हुआ था परन्तु इस बात का दावा नहीं किया जा सकता कि

अछूतों के प्रति अधिकांश सवर्ण हिन्दुओं की मनोवृत्ति में कोई भारी परिवर्तन हो गया है। यदि सभी सुधारक इसी प्रकार के उपाय काम में लाने लगें तो सुधार के काम की ही हानि होगी। एक महान् व्यक्ति अपने व्यक्तिगत सम्पर्क और प्रभाव से जितना काम कर सकता है उतना शायद उसके प्राणों के बलिदान से नहीं हो सकता। भारतवर्ष में आजकल महात्माजी का अनुकरण कर प्रायः लोग आमरण अनशन की धमकी देने लगे हैं। एक पृथक् आन्ध्र राज्य की स्थापना के लिये तो एक व्यक्ति ने अनशन द्वारा अपने प्राणों का उत्सर्ग कर ही दिया। यह सत्य है कि महात्मा गांधी ऐसे अनशन करने से अन्य लोगों को मना करते थे क्योंकि उनका कहना था कि यह काम स्वयं उनके समान विशेषज्ञ का ही हो सकता है, अन्य किसी व्यक्ति का नहीं और किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोजन के लिये तथा केवल आत्यन्तिक स्थिति में ही इसका प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु उनकी चेतावनी की उपेक्षा ही की गई है। इसके अतिरिक्त एक बात और है। यद्यपि महात्मा गांधी के विचार में उनके अनशन में हिंसा (दबाव) की लेशमात्र भी भावना नहीं थी तो भी दूसरे व्यक्ति उसमें दबाव की भावना देखते थे और सोचते थे कि महात्माजी अपने प्राणोत्सर्ग की धमकी देकर हमको दबाना चाहते हैं। आजकल जो आमरण अनशन किया जाता है और करने की धमकी दी जाती है उसमें हिंसा की भावना का काफी मात्रा में समावेश होता है।

उन दिनों कई लोगों ने महात्माजी के अनशन का विरोध किया परन्तु लास्की ने यह कह कर उनका समर्थन किया कि प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य समाज के कल्याण के लिये अपने सुचिन्तित निर्णय को कार्यान्वित करना है और यदि वह समझता है कि उसकी मृत्यु से समाज का कल्याण होगा तो चाहे समस्त संसार उसके विरुद्ध हो उसे अपने प्राणों को बलि देने का अधिकार है।

(२) व्यक्ति का दूसरा कर्त्तव्य है दूसरों के जीवन अधिकार का आदर करना, दूसरों की हत्या न करना। परन्तु उसका एक अपवाद है। यदि मुझ पर कोई आक्रमण करे तो मुझे आत्म-रक्षा का अधिकार है और आत्म-रक्षा करने में मुझ से आततायी की हत्या हो जाती है तो मैं हत्या का अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। हत्या बड़ा घोर अपराध समझा जाता है और साधारणतया राज्य इसके लिये प्राणदण्ड देते हैं।

(अ) यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या राज्य मृत्युदण्ड देकर उस

व्यक्ति के जीवन अधिकार का उल्लङ्घन नहीं करता ? हम देख चुके हैं कि कोई भी अधिकार एक नैतिक व्यक्ति का और आत्मोन्नति तथा सामाजिक कल्याण के लिये होता है। एकाध हत्या की बात तो जाने दीजिये जो क्षणिक आवेश में की जा सकती है, परन्तु एक ऐसा हत्यारा जो जानबूझ कर ठंडे दिल से निर्मम हत्या कर सकता है घोर समाज विरोधी मनोवृत्ति का परिचय देता है और साधारणतया उसे जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिये। इसी विचार से उसे मृत्युदण्ड दिया जाता है। परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि यह कोई नहीं कह सकता कि वह इतना गिर गया है कि अब उसका सुधार हो ही नहीं सकता। उसे पुनः सुधार कर सामाजिक कल्याण में योग देने योग्य व्यक्ति बनकर समाज में पुनः ग्रहण किये जाने का अधिकार है। यह अधिकार 'प्रत्यावर्तन अधिकार' (Reversionary right) कहलाता है। यह अधिकार कभी नहीं छीना जा सकता। उससे उसके अन्य समस्त अधिकार छीनकर आजन्म कारावास का दण्ड दिया जा सकता है, मृत्युदण्ड नहीं। आजकल संसार में लोकमत मृत्युदण्ड के विरुद्ध होता जा रहा है।

(आ) एक प्रश्न और है। जब राज्य अपने सैनिकों को युद्ध में भेजता है जिसमें अनेकों मारे जाते हैं तो क्या वह इस प्रकार अपने नागरिकों के जीवन-अधिकार का अपहरण नहीं करता ? साधारणतया यह व्यक्ति के जीवन-अधिकार का अतिक्रमण नहीं माना जाता क्योंकि समाज की रक्षा करना और उसके लिये प्राणों तक का बलिदान कर देना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। हेगल तथा बोसांके जैसे आदर्शवादी युद्ध को उचित समझते हैं परन्तु ग्रीन युद्ध को अनुचित एवं अनैतिक मानता है। उसका कथन है कि राज्यों के बीच युद्ध अनिवार्य या अवश्यम्भावी नहीं है। संघर्ष इसलिये आवश्यक नहीं है कि राज्यों का अस्तित्व है। संघर्ष इसलिये आवश्यक हो जाते हैं कि राज्य सामान्य अधिकारों की प्रतिष्ठा तथा उनमें परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करने के अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं करते। युद्ध राज्य का स्वभाव नहीं है। वह राज्य की अपूर्णता का परिणाम है। वह चाहे किसी भी प्रयोजन के लिये हो किन्तु वह सदा अनुचित ही रहेगा और युद्ध में व्यक्तियों के प्राण लेना उनके जीवन अधिकार का उल्लङ्घन ही रहेगा।* युद्ध दो प्रकार के होते हैं—(१) आक्रमणात्मक, जब कि एक राज्य अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये दूसरे राज्य पर आक्रमण करता है और (२) रक्षात्मक

* Barker : Political Thought in England, pp 34-35.

जब कि एक राज्य को अपनी रक्षा के लिये युद्ध करना पड़ता है। ग्रीन दोनों प्रकार के युद्धों को अनैतिक बतलाते हुए भी रक्षात्मक युद्ध को उतना बुरा नहीं मानता। ऐसे युद्ध में अपने समाज, राज्य तथा अपनी संस्कृति की रक्षा के लिये भाग लेना और प्राणों की बलि देने के लिये तैयार रहना नागरिक का कर्त्तव्य होता है।

जीवन के अधिकार के साथ दो अधिकार घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं—(१) आत्मरक्षा का अधिकार और (२) इसी उद्देश्य के लिये शस्त्र-धारण का अधिकार। हम ऊपर लिख चुके हैं कि आत्मरक्षा के प्रयत्न में यदि किसी व्यक्ति के द्वारा आततायी की हत्या भी हो जाय तो वह हत्या का दोषी नहीं होता। बिना शस्त्र के आत्मरक्षा करना कठिन है। परन्तु शस्त्र का प्रयोग आत्मरक्षा के लिये ही होना चाहिये, आक्रमण के लिये नहीं।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार—

केवल जीवन का अधिकार उस समय तक निरर्थक रहेगा जब तक कि व्यक्ति को शारीरिक या वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं रहेगी। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकार का अर्थ है मनुष्य का अपने जीवन, अपने शरीर तथा अपने स्वास्थ्य का क़ानूनी और निर्बाध उपयोग। उसका यह भी तात्पर्य है कि व्यक्ति को राज्य के अन्दर क़ानून की परिधि के अन्दर इच्छानुसार भ्रमण करने तथा बसने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार होना चाहिये कि उस पर कोई आक्रमण न करे, उसे कोई चोट न पहुँचावे और न्यायालय में उसका अपराध सिद्ध किये बिना उसे कारागार में बन्द न कर सके। वह भ्रमण, अध्ययन, वाणिज्य आदि के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक देश में चाहे जहाँ जा सके और बस सके। परन्तु यह अधिकार इस सीमा तक नहीं हो सकता कि उससे समाज के हित में तथा अन्य व्यक्तियों के समान अधिकार में बाधा पहुँचे।

ग्रीन ने इस स्वतन्त्रता के अधिकार को जीवन के अधिकार के साथ शामिल करके दोनों का एक 'स्वतन्त्र जीवन' का अधिकार माना है क्योंकि स्वतन्त्रता के बिना जीवन व्यर्थ है। दासत्व की अवस्था में व्यक्ति आत्मविकास नहीं कर सकता जो प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य है और प्रत्येक अधिकार का आधार है।

परिवार का अधिकार—

व्यक्ति के जीवन तथा समाज दोनों में ही परिवार का बड़ा महत्व-

पूर्ण स्थान है। व्यक्ति के विकास के लिये यह एक अत्यन्त आवश्यक शर्त है और इसी कारण परिवार का अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार है। यह एक अधिकार नहीं अनेक अधिकारों का समुच्चय है—विवाह का अधिकार, पति-पत्नी का साथ रहने का अधिकार, माता पिता का बच्चों के ऊपर अधिकार, स्वामी और सेवक के पारस्परिक अधिकार आदि।

इन सभी अधिकारों की सुखी पारिवारिक जीवन के लिये आवश्यकता है। विवाह के विषय में पुरुष तथा स्त्री दोनों को स्वतन्त्रता होनी चाहिये नहीं तो वैवाहिक जीवन सुखी नहीं रह सकेगा, यह स्पष्ट ही है। आज कल एकपत्नीत्व ही आदर्श समझा जाता है यद्यपि कुछ समाजों में बहु पत्नीत्व तथा किसी किसी समाज में बहुपतित्व के भी रिवाज हैं। बहुपत्नीत्व के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ हैं—(१) इसके कारण उन पुरुषों के विवाह के अधिकार का उल्लंघन होता है जो विवाह से वंचित रह जाते हैं और इस प्रकार पारिवारिक जीवन से नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की जो आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं उनसे भी वे वंचित रह जाते हैं। (२) इससे पत्नियों का भी नैतिक पतन होता है। वे केवल विलास के साधनमात्र रह जाती हैं। पत्नी का परिवार में जो प्रतिष्ठा का स्थान होता है उससे वह वंचित रह जाती है। (३) इससे परिवार में कलह की संभावनाएँ भी बढ़ती हैं और (४) माता पिता के स्नेहपूर्ण जीवन से बच्चों के पालन-पोषण तथा उनके विकास पर जो बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है और उनके जैसे अच्छे नैतिक संस्कार बनते हैं उनसे वे वंचित रह जाते हैं।

पति-पत्नी का प्रेमपूर्वक साथ रहना उत्तम पारिवारिक जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दू धर्म में विवाह एक धार्मिक संस्कार माना जाता है और पति पत्नी का संबन्ध अविच्छेद्य माना जाता है। यह पति या पत्नी की मृत्यु पर ही टूटता है। किसी किसी जाति में विवाह-विच्छेद हो सकता है। पाश्चात्य देशों में साधारणतया पति या पत्नी का दुराचरण, अत्यधिक क्रूरता, स्थायी पागलपन, आदि के आधार पर विवाह विच्छेद का अधिकार माना जाता है और पति या पत्नी न्यायालय से अनुमति प्राप्त करके अलग हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में विभिन्न समाजों में बड़ा मतभेद है। भारतवर्ष में भी अब यह अधिकार स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु यह अधिकार इस सीमा तक नहीं होना चाहिये कि छोटी छोटी बातों पर विवाह-विच्छेद हो जाय अन्यथा इस अधिकार का दुरुपयोग

होने लगेगा तथा पारिवारिक जीवन में अनिश्चितता, अस्थायित्व आदि दोष घुस पड़ेंगे जिससे पारिवारिक जीवन का नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य नष्ट हो जायगा।

बच्चों का लालन-पालन तथा उनकी शिक्षा माता-पिता का कर्तव्य है। यह नैतिक कर्तव्य तो है ही, साथ ही कानूनी कर्तव्य भी है। माता-पिता की वृद्धावस्था में सन्तान का भी कर्तव्य है कि उनकी सेवा करे। यह नैतिक कर्तव्य है, किसी समाज में इसे कानूनी रूप प्राप्त नहीं है। स्वामी-सेवक के सम्बन्ध भी उचित होने चाहिये। सेवक क्रीत दास नहीं होता; उसके साथ क्रूरता नहीं बरती जानी चाहिये। इसके साथ ही सेवक को भी, जब तक वह परिवार में सेवक है, अपना काम कर्तव्य की भावना से पूरा-पूरा करना चाहिये।

शिक्षा का अधिकार—

मनुष्य की उन्नति के लिये शिक्षा के महत्व पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। शिक्षा से मानसिक विकास होता है और मानसिक विकास के बिना व्यक्ति की तथा समाज की उन्नति सम्भव नहीं। अतः प्रत्येक समाज का यह कर्तव्य है कि वह सबके लिये निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करे ताकि धनी तथा निर्धन सब लोगों के बालक प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर सकें। प्रारम्भिक शिक्षा के आगे उच्च शिक्षा भी सबके लिये सुलभ होनी चाहिये। इस दृष्टि से राज्य को सब प्रकार के शिक्षालय, पुस्तकालय आदि की व्यवस्था करनी चाहिये। ज्ञानवर्धन के लिये नाना प्रकार की प्रयोगशालाएँ, संग्रहालय आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिये। शिक्षा के अधिकार का यह तात्पर्य नहीं है कि देश में सबको एकसी शिक्षा हो। इसका तात्पर्य इतना ही है कि एक न्यूनतम स्तर तक सबको शिक्षा निःशुल्क प्राप्त हो और उसके आगे सब प्रकार की शिक्षा प्राप्त करना सुलभ हो। आदर्श व्यवस्था तो वह होगी जिसमें कोई भी व्यक्ति जितनी भी तथा जैसी भी शिक्षा प्राप्त करना चाहे कर सके और यदि उसके मार्ग में आर्थिक कठिनाई हो तो उसे राज्य की ओर से सब प्रकार की सहायता मिले।

उन्नीसवीं शताब्दी तक शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य नहीं समझा जाता था। परन्तु अब सभी सभ्य देशों में शिक्षा का प्रबन्ध करना राज्य के मुख्य कर्तव्यों में समझा जाने लगा है किन्तु रूस को छोड़ अभी तक किसी अन्य देश में नागरिक को शिक्षा का क़ानूनी अधिकार

प्राप्त नहीं है। भारतवर्ष में भी इस अधिकार का महत्व स्वीकार कर लिया गया है परन्तु अभी तक उसे कानूनी अधिकार का रूप नहीं दिया गया है। केवल संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में उल्लेख किया गया है कि संविधान के प्रारम्भ होने के १० वर्ष के अन्दर राज्य १४ वर्ष तक की आयु वाले सब बालकों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा देने का प्रबन्ध करने का प्रयत्न करेगा।

काम तथा आजीविका का अधिकार—

यह अधिकार जीवन अधिकार में निहित है। जीवित रहने और अपनी आत्मोन्नति के लिये मनुष्य की कुछ न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिये जिसके लिये उसे स्वयं परिश्रम करना चाहिये। परन्तु यदि परिश्रम करने के लिये उद्यत होते हुए भी किसी व्यक्ति को आजीविका का साधन प्राप्त न हो तो राज्य का यह कर्तव्य है कि उसे काम दे। यह व्यक्ति का अधिकार होना चाहिये। परन्तु काम के अधिकार का यह अर्थ नहीं होता कि व्यक्ति को उसकी रुचि के अनुसार काम मिले। इसका अर्थ इतना ही है कि मनुष्य बेकार न बैठे और समाज के लिये आवश्यक वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन के कार्य में लगा रहे। इसके साथ ही इस अधिकार का तात्पर्य यह भी है कि व्यक्ति को उसके काम के लिये जो पुरस्कार या पारिश्रमिक मिले वह इतना पर्याप्त हो कि उसकी तथा उसके परिवार की भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा आदि की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। लास्की का कथन है कि उचित वेतन के अधिकार का यह अर्थ नहीं है कि सबकी आमदनी बराबर हो परन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि कुछ लोगों के पास आवश्यकता से अधिक हो उसके पहले सब लोगों के पास आवश्यकताओं की पूर्ति के पर्याप्त साधन हों।*

इस अधिकार की आवश्यकता वर्तमान काल में स्पष्ट है क्योंकि समाज की आधुनिक औद्योगिक प्रणाली ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है कि बहुत बड़े अंश तक समाज में निरन्तर बेकारी बनी रहती है। जहाँ बेकारी और गरीबी समाज के दोषों से उत्पन्न हो वहाँ यह समाज का कर्तव्य है कि वह अपना संगठन ऐसा बनाये कि नागरिकों का कल्याण साधन हो सके। लास्की का कथन सत्य है कि या तो राज्य अपने नागरिकों के हित में औद्योगिक शक्ति का स्वयं नियंत्रण करे या औद्योगिक शक्ति ही उद्योगपतियों के हित में राज्य का नियन्त्रण

* Laski : A Grammar of Politics, p. 107.

करेगी।* समाज जिन दोषों को उत्पन्न करता है उनका निराकरण करना भी समाज का ही कर्त्तव्य है। जब व्यक्ति को काम न मिले तो या तो समाज को उसे काम देना चाहिये या बेकारी के दौरान में उसका भरण-पोषण करना चाहिये। आजकल कई राज्यों में इसी दृष्टि से बेकारी के बीमे की व्यवस्था की जाती है और बेकारों की सहायता के लिये जो निधि होती है उसमें मज़दूर लोग भी कुछ अंश जमा करते हैं। केवल रूस ही ऐसा देश है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को काम का अधिकार है।

काम के अधिकार से यह भी तात्पर्य है कि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्यवसाय कर सके। अपना व्यवसाय पसंद करने में उसके सामने जाति, धर्म, आदि की बाधा नहीं होनी चाहिये। परन्तु इसके साथ ही इसका यह आशय नहीं है कि व्यक्ति कोई अनुचित व्यवसाय करने के लिये स्वतन्त्र है। वह ऐसा ही काम कर सकता है जिससे समाज के लिये आवश्यक वस्तुएँ और सेवाएँ उत्पन्न हों। सामाजिक कल्याण के विरुद्ध व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं हो सकता।

स्वतन्त्रता का अधिकार—

पिछले अध्याय में हम स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिख आये हैं। हम देख चुके हैं कि स्वतन्त्रता केवल नियन्त्रण के अभाव का नाम ही नहीं है; नियन्त्रण का अभाव तो केवल निषेधात्मक स्वतन्त्रता है। यथार्थ स्वतन्त्रता आत्म-विकास के अवसरों की प्राप्ति का नाम है। आत्म-विकास के अवसरों का ही दूसरा नाम अधिकार है। हमने पिछले अध्याय में भिन्न भिन्न प्रकार की स्वतन्त्रता का वर्णन करते हुये उसमें निहित अधिकारों की चर्चा की थी। वास्तव में स्वतन्त्रता और अधिकारों में अभेद है। 'स्वतन्त्रता से मेरा आशय उस वातावरण को उत्सुकतापूर्व कायम रखने से है जिसमें मनुष्यों को अपने सर्वश्रेष्ठ रूप को प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो। अतः स्वतन्त्रता अधिकारों का परिणाम है।'† मनुष्य को यथार्थ स्वतन्त्रता तभी होती है जब उसे आत्मोन्नति के पूर्ण अवसर प्राप्त हों अर्थात् जब उसे अधिकार प्राप्त हों। अधिकारों के अभाव में स्वतन्त्रता केवल निषेधात्मक और इसी कारण निरर्थक होती है।

यहाँ हम विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं की पुनरावृत्ति न करके कुछ थोड़ी सी स्वतन्त्रताओं पर ही प्रकाश डालेंगे जो नागरिक स्वतन्त्रता की कोटि में आती हैं।

* Ibid., p. 109.

† Ibid., p. 142.

विचार, भाषण तथा लेखन अथवा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार—

विचार की स्वतन्त्रता तो सबको प्राप्त है क्योंकि मनुष्य के विचारों पर किसी प्रकार की रुकावट लगाना असंभव है। परन्तु विचारों से उस समय तक कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता जब तक मनुष्य को अपने विचारों को दूसरे के सामने प्रकट करने और उनके अनुकूल कार्य करने की स्वतंत्रता न हो। आत्मोन्नति तथा सामाजिक कल्याण में योग देने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों को दूसरों के समक्ष प्रकट करे। इससे विचारों का आदान प्रदान होता है, व्यक्ति के ज्ञान की वृद्धि होती है, सत्यासत्य का निर्णय होता है, समाज की विभिन्न समस्याओं पर विचार हो सकता है, दोषों का निराकरण हो सकता है और सामाजिक जीवन में सुधार होकर उन्नति होती है। व्यक्ति को यह अधिकार होना चाहिये कि सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में उसके जो विचार हैं उन्हें वह निर्भीक होकर निर्बाध रूप में प्रकट कर सके, समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं की तथा राज्य के कार्यों की आलोचना कर सके और अपने सुझाव प्रस्तुत कर सके। यह बात सामाजिक कल्याण के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

विचार और विवाद की स्वतन्त्रता को बहुत प्राचीन काल से बड़ा महत्व दिया जाता रहा है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने विचार स्वातन्त्र्य को छोड़ने के स्थान पर मृत्यु को आलिंगन पसन्द किया। रिची का कथन है—"ऐसा विचार जो व्यक्त न किया जा सके एक यातना बन जाता है जो व्यक्ति की आत्मा को कष्ट देता है। जो बुद्धि अपनी ही अंधेरी कोठरी में बन्द रहती है वह विवाद की ताज़ा हवा तथा मानव सहानुभूति की धूप के अभाव में नष्ट हो जाती है।"* मिल ने कहा है कि कोई भी विचार जो हमारे सामने आता है या तो बिलकुल सत्य हो सकता है या बिलकुल गलत या जैसा कि अधिक संभव है कुछ अंशों में सही और कुछ अंशों में गलत हो सकता है। इन सभी अवस्थाओं में हमें विचार और विवाद की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिये। यदि कोई विचार सत्य है और उसे हम प्रकट नहीं होने देते तो हम यह मान लेते हैं कि हम गलती नहीं कर सकते जो महान् भूल है। यदि अभिव्यक्त विचार सत्य ही है तो दूसरों को उसका खण्डन करने का अवसर देने में भय क्यों होना चाहिये? इसमें

* Ritchie : Natural Rights, p. 148.

तो उस विचार की सत्यता में सन्देह प्रकट होता है। यदि अभिव्यक्त विचार गलत हो तो उसे छोड़कर स्वतन्त्र विवाद द्वारा सत्य को प्राप्त करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। यदि वह विचार कुछ सही और कुछ गलत हो, जैसी सदा संभावना रहती है, तो उस विषय पर विवाद की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये ताकि हम एक दूसरे से सीख सकें और सत्य की प्रतिष्ठा हो सके। प्रायः देखा जाता है कि किसी समय जिस मत का उसे गलत समझ कर विरोध किया जाता है आगे चलकर वही मत सर्वमान्य हो जाता है।

प्रजातन्त्र की सफलता के लिये विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि वास्तव में वह विचार-विमर्श द्वारा शासन है। स्वतन्त्र विचार एवं वादविवाद से शासकों को जनता के अनुभवों तथा उसकी आवश्यकताओं का ज्ञान होता है। शासन को उससे भयभीत नहीं होना चाहिये और प्रत्येक अवसर पर उसे यह कह कर दबाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये कि वह राज्य की सुरक्षा के लिये घातक है। सरकार आखिर मनुष्यों की ही बनी होती है और मनुष्य से गलती होना स्वाभाविक है। यदि सरकार स्वतन्त्र वादविवाद पर रोक लगाती है तो इसका अर्थ यह तो होता ही है कि सरकार यह समझती है कि उससे कोई भूल नहीं हो सकती, इसके साथ ही इसका यह भी अर्थ होता है कि सरकार के कानूनों में समाज को समस्त आवश्यकताओं के स्थान पर उन शक्तिशाली व्यक्तियों या वर्ग की आवश्यकताएँ प्रतिबिम्बित होती हैं जो राज्य में प्रभावशाली होते हैं। विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति भय से दबाई नहीं जा सकती। उसका दमन खतरनाक होता है क्योंकि दमन से उन विचारों पर गुप्त रूप से कार्य होने लगता है।

मिल ने कहा है कि एक व्यक्ति एक मत का हो और अन्य समस्त लोग दूसरे मत के हों तो समाज को उस व्यक्ति को चुप करने का उतना ही अधिकार है जितना उस एक व्यक्ति को समाज को चुप करने का। लास्की के अनुसार नागरिक का यह अधिकार ही नहीं कर्तव्य भी है कि वह अपना सुचिन्तित निर्णय समाज के समक्ष प्रस्तुत करे।

इस अधिकार की भी अन्य अधिकारों के समान मर्यादाएँ हैं। अधिकार आत्मोन्नति तथा सामाजिक कल्याण के सम्पादन के लिये होते हैं। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता इन्हीं बातों के लिये हो सकती है। एक व्यक्ति को सार्वजनिक महत्व के विषयों पर, सामान्य विषयों पर अपने विचार

प्रकट करने का अधिकार है, किसी व्यक्ति के चरित्र पर आक्षेप करके उसे कलङ्क लगाने का अधिकार नहीं है। ऐसे व्यक्ति को जो दूसरे किसी व्यक्ति को बदनाम करने का प्रयत्न करता है राज्य दण्ड देता है। इसी प्रकार व्यक्ति विचार-स्वातन्त्र्य के अधिकार का उपयोग राज्य में अव्यवस्था या देशद्रोह भड़काने के लिये नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध राज्य को अपनी रक्षा करने के लिये कार्यवाही करने का अधिकार है।

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या यह स्वतन्त्रता युद्ध-काल में भी होनी चाहिये? इतना तो सभी स्वीकार करते हैं कि देश की सुरक्षा और स्वतन्त्रता की रक्षा की दृष्टि से साधारण समय की अपेक्षा ऐसे आपत्तिकाल में व्यक्ति को अधिक नियन्त्रण स्वीकार करना चाहिये। उसे ऐसी कोई बात नहीं कहनी चाहिये जिससे शत्रु को सहायता मिले। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि व्यक्ति विश्वास करता हो कि युद्ध मात्र अनुचित है या सरकार की युद्ध सम्बन्धी नीति अथवा उसके काम गलत हैं तो क्या उसे यह अधिकार होना चाहिये कि वह युद्ध में शामिल होने के तथा युद्ध संचालन के विरुद्ध प्रचार करे अथवा सरकार की नीति एवं उसके युद्ध-संचालन की आलोचना करे। साधारणतया सभी सरकारें युद्धकाल में देश में एकता बनाये रखने की आवश्यकता की दृष्टि से युद्ध-संचालन में बाधा डालने वाले विचारों पर रुकावट लगाती हैं। परन्तु इस प्रकार रुकावट लगाने में यह समझ लिया जाता है कि सरकार बिलकुल सही है और उसका विरोध करनेवाला गलत है। यह बात संदिग्ध है। लास्की के अनुसार, जैसा हम अभी बतला चुके हैं, एक नागरिक का अधिकार ही नहीं कर्तव्य भी है कि वह अपने अनुभव के आधार पर निर्मित सुचिन्तित निर्णय को समाज के समक्ष प्रस्तुत करे और इस प्रकार सामाजिक हित-साधन में योग दे। यदि वह समझता है कि युद्ध गलत है तो उसे उसका विरोध अवश्य करना चाहिये। ऐसे व्यक्ति को ऐसे समय दण्डित करना जिस समय प्रत्येक नागरिक के लिये अपना कर्तव्य करना अत्यन्त आवश्यक है राज्य के नैतिक आधार के लिये घातक है।*

अभी तक हमने केवल भाषण की स्वतन्त्रता पर विचार किया है। विचारों की अभिव्यक्ति भाषण के अतिरिक्त लेखन तथा मुद्रण (समाचार-पत्र) द्वारा भी होती है। जो स्वतन्त्रता नागरिक को भाषण के सम्बन्ध में होनी चाहिये वही लेखन एवं मुद्रण के सम्बन्ध में भी होनी चाहिये।

* Laski: A Grammar of Politics, p. 125.

लेखन तथा मुद्रण की स्वतन्त्रता पर भी वही मर्यादाएँ हैं जो भाषण की स्वतन्त्रता पर लगी हुई हैं।

समुदाय एवं संगठन का अधिकार—

विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम भाषण, लेखन तथा मुद्रण हैं। विचारों की अभिव्यक्ति तथा उन्हें कार्यान्वित करने का काम संगठन करके अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है और इस कारण समुदाय निर्माण करने तथा सभाएँ करने का अधिकार विचार-स्वातन्त्र्य के अधिकार में सम्मिलित है। मनुष्य केवल अपने विचारों के प्रचार तथा उन्हें कार्यान्वित करने के लिये ही नहीं, अपनी अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी नाना प्रकार के समुदायों का निर्माण करते हैं। व्यक्ति के जीवन में ऐसे समुदायों का बड़ा महत्व है। प्रत्येक राज्य में नागरिकों को संगठन करने और समुदाय बनाने तथा उनके द्वारा सामूहिक रूप में कार्य करने का अधिकार प्राप्त है। सभी देशों में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि अनेक प्रकार के समुदाय हैं जिन्हें अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करने की स्वतन्त्रता रहती है। किन्तु समुदाय-निर्माण के अधिकार का यह तात्पर्य नहीं होता कि व्यक्ति चाहे जैसे समुदाय बना सकें। किसी भी ऐसे समुदाय को कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं हो सकती जिसका उद्देश्य अनैतिक अथवा समाज-विरोधी हो। डाके डालने के लिये अथवा देशद्रोह भड़काने के लिये किसी भी समुदाय का निर्माण नहीं किया जा सकता। कई समुदायों का उद्देश्य वर्तमान सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी ढंग से परिवर्तन करना होता है। क्या ऐसे समुदायों को कार्य करने की स्वतन्त्रता दी जा सकती है? यह स्पष्ट है कि कोई शासन हिंसात्मक कार्यवाही की छूट नहीं दे सकता। परन्तु लास्की का कथन है कि ऐसे सम्प्रदायों को भी काम करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये क्योंकि यदि उन्हें खुलकर काम करने की स्वतन्त्रता न हुई तो वे गुप्त रूप से काम करेंगे जिससे खतरनाक परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है। यदि उन्हें खुलकर काम करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय तो उसमें अधिक डरने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनको जनता की सहानुभूति और उसका सहयोग तभी प्राप्त होगा जबकि अधिकांश जनता समझती हो कि वर्तमान व्यवस्था जिसे बदलने का प्रयत्न किया जारहा है अनुचित है। स्वभाव से मनुष्य क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं चाहता। यदि जनता का बहुमत परिवर्तन चाहता है तो सरकार को उसका विरोध नहीं करना

चाहिये। यदि वह विरोध करेगी तो जनता उसे वैधानिक ढंग से अलग कर देगी और यह परिवर्तन शान्तिपूर्ण ढंग से ही हो सकेगा; हिंसात्मक क्रान्ति का आवश्यकता नहीं होगी।

समानता का अधिकार—

समानता के विषय पर हम पिछले अध्याय में विस्तारपूर्वक लिख आये हैं। हम देख चुके हैं कि समानता का अर्थ निरपेक्ष समानता नहीं है। उसका अर्थ यह नहीं है कि सबके साथ एक ही व्यवहार हो, सबको एकसा काम और एकसा पारिश्रमिक प्राप्त हो। उसका अर्थ है निरपेक्षता अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति करने के वे सब अधिकार निष्पक्ष रूप से सुलभ हों जिनकी राज्य गारण्टी देता है। इसके साथ ही इसका अर्थ आनुपातिकता भी है अर्थात्, समान व्यक्तियों के बीच समानता और असमान व्यक्तियों के बीच असमानता। इसका तात्पर्य है कि अन्य सब बातों के समान होने पर मेरा हित उतना ही मूल्यवान् है जितना और किसी व्यक्ति का। इसके लिये यह आवश्यक है कि समाज में किसी भी व्यक्ति या वर्ग के लिये विशिष्ट अधिकार न हों, अधिकारों के दुरुपयोग के विरुद्ध सबको समान रूप से कानून का संरक्षण प्राप्त हो, सत्ता का उपयोग व्यक्तिगत या वर्गगत स्वार्थों की पूर्ति के लिये न होकर सार्वजनिक हित के लिये ही हो और सबको अपना विकास करने के लिये पर्याप्त अवसर प्राप्त हो। इसमें नागरिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सब प्रकार की समानता का समावेश है। स्वतन्त्रता के समान ही समानता भी समस्त अधिकारों के उपभोग की गारण्टी है और यह स्पष्ट है कि व्यक्ति आत्मोन्नति तथा सामाजिक कल्याण में योगदान समानता के अधिकार के बिना नहीं कर सकता।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार—

इस अधिकार का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार चाहे जिस धर्म को माने, राज्य सब धर्मों को समान समझे और किसी धर्मविशेष को अन्य धर्मों के ऊपर स्थान न दे अथवा उसके साथ पक्षपात न करे। इसमें अपने धर्मानुकूल आचरण करने तथा अपने धर्म के प्रचार करने का अधिकार भी शामिल है। राज्य को धार्मिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। आधुनिक काल में प्रायः सभी सभ्य राज्यों में धार्मिक स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई है। परन्तु इस अधिकार की भी मर्यादाएँ हैं। धार्मिक विश्वास की स्वतन्त्रता मनुष्य के आत्मिक

विकास के लिये अनिवार्य है परन्तु उसकी आड में कोई व्यक्ति अनाचार नहीं कर सकता, अनैतिक बातों का प्रचार नहीं कर सकता अर्थात् कोई ऐसा काम नहीं कर सकता जिससे समाज का अहित हो। धार्मिक प्रचार के नाम से वह अन्य धर्मों के विरुद्ध घृणा का प्रचार भी नहीं कर सकता।

धार्मिक स्वतन्त्रता में अपनी अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता भी निहित है। अन्तरात्मा की आवाज़ के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता भी सीमित ही हो सकती है। गेटल का कथन है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता से किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं मिलता कि वह राज्य के कानूनों की अवज्ञा करे क्योंकि वे उसके नैतिक विचारों से मेल नहीं खाते। राज्य मनुष्य के विश्वास पर तो नियन्त्रण नहीं कर सकता परन्तु विश्वास के अनुकूल किये जाने वाले कार्य अवश्य उसके नियन्त्रण में हैं।* यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा अथवा अपने विवेक के अनुकूल काम करने लगे तो समाज की व्यवस्था चौपट हो जायगी।

सम्पत्ति का अधिकार—

प्राचीन काल से सम्पत्ति के अधिकार का महत्व बना हुआ है और रूस को छोड़ अन्य सभी देशों में राज्य की ओर से व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को गारण्टी प्राप्त है। प्राकृतिक अधिकार के समर्थकों ने तो स्वतन्त्रता और समानता के साथ सम्पत्ति को भी प्राकृतिक अधिकारों की कोटि में रक्खा है। सम्पत्ति का अर्थ है भौतिक पदार्थों पर समाज द्वारा स्वीकृत स्वाम्य। सम्पत्ति के अधिकार का केवल इतना ही अर्थ नहीं है कि व्यक्ति उसे अपने पास रख सके। उसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति ने जो कुछ प्राप्त किया है, चाहे वह भूमि हो या वस्तुएँ, उसका निर्बाध-प्रयोग कर सके, उसका केवल वही उपयोग कर सके, अन्य किसी का उसमें कोई हक न हो, उसे वह नष्ट कर सके, किसी को बेच सके, दान में दे सके और उसकी वसीयत कर सके। इस अधिकार के अर्थ के विषय में बड़े मतभेद हैं। उदाहरणार्थ सिजविक सम्पत्ति के अधिकार में वसीयत करने का अधिकार नहीं मानता। व्यक्तिवादी तथा समाजवादी सिद्धान्तों में भी संपत्ति के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है जिसके विषय में आप आगे पढ़ेंगे। सामान्यतया सम्पत्ति के अधिकार से असीमित सम्पत्ति के इसी प्रकार के अधिकार का अर्थ होता है जो ऊपर समझाया गया है।

* Gettell: Political Science, p. 156.

अन्य अधिकारों के समान इस अधिकार का आधार भी नैतिक है। व्यक्तित्व के विकास के लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति अत्यन्त आवश्यक है। लास्की का कथन है कि यदि मनुष्य को अपना सर्वोत्तम स्वरूप प्राप्त करने के लिये सम्पत्ति की आवश्यकता है तो उसका अधिकार होना ही चाहिये।* इसके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के तर्क सम्पत्ति के समर्थन में दिये जाते हैं। कहा जाता है कि सम्पत्ति का अधिकार प्रकृतिदत्त है, मनुष्य से प्राप्त नहीं। राज्य उसके उपयोग पर नियन्त्रण लगा सकता है, उसे छीन नहीं सकता। यह भी कहा जाता है कि सम्पत्ति व्यक्ति के परिश्रम का फल है इस कारण उस पर उसका पूर्ण अधिकार होना चाहिये। इसके पक्ष में यह तर्क भी दिया जाता है कि मनुष्य को परिश्रम करने के लिये कुछ प्रलोभन चाहिये। सम्पत्ति प्राप्त कर सकने की आशा से यह प्रलोभन प्राप्त होता है। यह भी कहा जाता है कि सम्पत्ति पारिवारिक प्रेम, आविष्कार की प्रवृत्ति, उदारता आदि गुणों की जननी है जो समाज के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इसके पक्ष में इतिहास की साक्षी देते हुए यह भी कहा जाता है कि इतिहास में जिन समाजों ने प्रगति की है वे समाज व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था पर ही आधारित रहे हैं। उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त सम्पत्ति से अन्य कई लाभ बताकर भी इसका समर्थन किया जाता है। जिस मनुष्य के पास सम्पत्ति होती है वह सुरक्षा का अनुभव करता है, उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरों का मुँह नहीं तकना पड़ता। वह स्वतन्त्रता का भी अनुभव करता है और अपनी रुचि के अनुसार काम कर सकता है। अपनी सम्पत्ति की सहायता से वह परोपकार कर सकता है, सामाजिक कल्याण-साधन में योग दे सकता है और अपना समय कला, साहित्य, विज्ञान आदि की उन्नति में लगाकर समाज के सांस्कृतिक उत्थान में भी योग दे सकता है। ऐसे मनुष्यों में चारित्रिक दृढ़ता एवं उदारता भी होती है जो समाज के लिये हितकर है।

इस प्रकार निजी सम्पत्ति के अनेक लाभ हैं। परन्तु लाभ के साथ असीमित व्यक्तिगत सम्पत्ति से अनर्थ भी बहुत हुए हैं। आजकल समाज में जो घोर आर्थिक विषमता देखी जाती है वह असीमित सम्पत्ति के अधिकार का ही दुष्परिणाम है और इसी आधार पर समाजवाद असीमित निजी सम्पत्ति का विरोध करता है। असीमित निजी सम्पत्ति का परिणाम है पूँजीवाद जिसका फल हुआ है बहुसंख्यक व्यक्तियों का थोड़े से व्यक्तियों द्वारा शोषण,

* Laski : A Grammar of Politics, p. 130.

समाज के बहुसंख्यक भाग का दैन्यमय तथा निराशापूर्ण जीवन, उसके लिये शिक्षा का अभाव, स्वास्थ्य की हानि, चारित्रिक पतन और समाज में नाना प्रकार के कलह एवं द्वेष। ऐसे बहुसंख्यक व्यक्ति न अपना शारीरिक विकास कर पाते हैं और न उनका आत्मिक विकास ही हो पाता है। परन्तु थोड़े से व्यक्ति कुछ परिश्रम न करते हुए भी आनन्दमय जीवन बिताते हैं। समाजवाद का यह तर्क यथार्थता पर आधारित है और आजकल प्रायः सभी राज्य सम्पत्ति का अधिकार स्वीकार करते हुए भी उससे उत्पन्न होने वाली विषमताओं के निराकरण का प्रयत्न करते हैं।

अन्य अधिकारों के समान सम्पत्ति का अधिकार भी अमर्यादित नहीं हो सकता। यह अधिकार उसी सीमा तक व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है जहाँ तक उससे समाज को हानि न पहुँचे। यह तो मानना ही पड़ेगा कि व्यक्ति की आत्मोन्नति के लिये निजी सम्पत्ति अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु प्रश्न यह है कि उसकी सीमा क्या हो? सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—(१) उपयोग के लिये—वह सम्पत्ति जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक है, जैसे अन्न, वस्त्र, मकान तथा दैनिक प्रयोग में आने वाली अन्यान्य वस्तुएँ। (२) शक्ति के लिये—वह सम्पत्ति जिसे हम पूंजी के रूप में काम में लाते हैं और जिससे हम अधिक सम्पत्ति कमाते हैं तथा जिसके बल पर शक्ति प्राप्त करते हैं, जैसे भूमि, खानें, कारखाने आदि। स्पष्ट है कि व्यक्ति को पहली प्रकार की सम्पत्ति का अधिकार ही दिया जा सकता है। दूसरी प्रकार की सम्पत्ति उसकी न होकर समाज की होनी चाहिये ताकि उसका उपयोग समाज के हित में हो सके और समाज में वह आर्थिक समानता स्थापित हो सके जो व्यक्ति के विकास तथा सामाजिक कल्याण दोनों के लिये आवश्यक है।

राजनीतिक अधिकार—

हम पहले बतला आये हैं कि जिन अधिकारों के द्वारा व्यक्ति अपने देश के शासन में भाग लेते हैं वे अधिकार राजनीतिक अधिकार कहलाते हैं। लास्की का कथन है कि शक्ति से पृथक् किये जाने का अर्थ है शक्ति के लाभों से वंचित किया जाना। शासन एक सत्ता है। जनतन्त्र जनता का शासन होता है और इस कारण जनता को शासन-सत्ता में भाग अवश्य मिलना चाहिये। समस्त जनता शासन नहीं कर सकती। वह केवल इतना कर सकती है कि अपनी ओर से शासन करने के लिये कुछ व्यक्तियों

को निर्वाचित करदे और उनके कार्यों को सतर्क होकर देखती रहे। इस कार्य को करने के लिये जनता को कुछ अधिकार दिये जाते हैं :—

(१) मतदान का अधिकार—यह अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता, केवल उन्हीं को दिया जा सकता है जिन्हें देशहित प्रिय हो, जिनका मस्तिष्क सही हो और जो समझदारी के साथ अपने मत का उपयोग कर सकें। किसी भी राज्य में कई लोग ऐसे होते हैं जिन्हें या तो देश से कोई हित नहीं होता जैसे विदेशी लोग या जिनका मस्तिष्क सही नहीं होता जैसे अपराधी, दिवालिये तथा विक्षिप्त लोग। उन्हें मताधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अवयस्क स्त्री-पुरुष भी मताधिकार का समझदारी के साथ उपयोग नहीं कर सकते। ऐसे लोगों को छोड़कर देश के समस्त वयस्क स्त्रियों-पुरुषों को मताधिकार होना चाहिये। उसके लिये लिंग, शिक्षा, सम्पत्ति, वर्ण, धर्म आदि की शर्तें नहीं होनी चाहियें। लास्की का कथन है कि जहाँ भी मतदाताओं की संख्या सीमित होती है, वहाँ मताधिकार से वंचित व्यक्ति उस कल्याण से भी वंचित रहते हैं जिसका राज्य संपादन करता है।* शक्ति से वंचित किये जाने का अर्थ है अन्त में जाकर शक्ति के लाभों से वंचित किया जाना। अतः यह आवश्यक है कि मताधिकार अधिक से अधिक लोगों को प्राप्त हो।

(२) निर्वाचन के लिये उम्मेदवार बनने का अधिकार—जो व्यक्ति मत देने का अधिकारी है उसे निर्वाचित होने का भी अधिकार होना चाहिये। साधारणतया सभी देशों में उम्मेदवारों के लिये अधिक आयु की शर्त होती है जो उचित है। भारतवर्ष में कोई भी व्यक्ति जो २१ वर्ष का है मत दाता बन सकता है परन्तु निर्वाचित होने के लिये उसकी आयु कम से कम २५ वर्ष की होनी चाहिये।

(३) समायिक निर्वाचन का अधिकार—मतदाता निर्वाचन करके अपने प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभाओं में भेजते हैं और उन्हें अपनी ओर से कार्य करने की सत्ता सौंप देते हैं। वे प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उनमें उत्तरदायित्व की भावना कायम रहे और वे अपने दायित्वों का ठीक-ठीक निर्वाह करते रहें इसके लिये आवश्यक कि उनका कार्यकाल एक नियत अवधि के बाद समाप्त हो जाय और उनका फिर से निर्वाचन हो।

(४) योग्यता होने पर सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार—

* Laski : A Grammar of Politics. p. 115.

प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार होना चाहिये कि यदि उसमें किसी सरकारी पद के लिये आवश्यक योग्यता हो तो वह उसे मिल सके और धर्म, जाति, वर्ण, लिंग, जन्मस्थान आदि के आधार पर उस पर अयोग्यता का आरोप न हो।

(५) राज्य का विरोध करने का अधिकार—

राज्य में कभी-कभी नागरिक के सामने राज्य के किसी ऐसे क़ानून का विरोध करने की समस्या उपस्थित हो जाती है जिसे वह उचित नहीं समझता। क्या उसे राज्य का विरोध करने का अधिकार होना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले एक दूसरे प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। राज्य साध्य है अथवा साधन? यदि राज्य स्वयं साध्य है तो वह मुख्य हो जाता है और व्यक्ति गौण रह जाता है; राज्य का हित सर्वोपरि हो जाता है और व्यक्ति उसका साधन मात्र रह जाता है। ऐसी अवस्था में राज्य के अधिकार ही होते हैं, उसका कोई कर्तव्य नहीं होता और व्यक्ति के केवल कर्तव्य ही होते हैं, कोई अधिकार नहीं होते। यदि राज्य साधनमात्र है अर्थात् व्यक्ति के हित का साधन, तो राज्य गौण हो जाता है; व्यक्ति का हित सर्वोपरि होता है; उसके केवल अधिकार ही होते है, कोई कर्तव्य नहीं, और अपना अहित होने पर उसे राज्य का विरोध करने का अधिकार होता है; राज्य के कोई अधिकार नहीं रहते, केवल कर्तव्य ही होते हैं। वास्तविक बात यह है कि राज्य न केवल साध्य है और न केवल साधन ही है। वह साध्य और साधन दोनों ही हैं। उसके अधिकार भी हैं और कर्तव्य भी। राज्य का मुख्य उद्देश्य अपने नागरिकों के लिये आत्मोन्नति की सुविधाएँ प्रस्तुत करना है और ऐसी व्यवस्था करना है जिसमें सब लोग बिना किसी भेदभाव के उन सुविधाओं का उपभोग कर सकें। दूसरे शब्दों में उसे सार्वजनिक कल्याण के लिये प्रयत्न करना है, किसी वर्गविशेष के हित-सम्पादन के लिये नहीं।

ऐसी दशा में व्यक्ति का कर्तव्य स्पष्ट है। उसे यह देखना है कि जो क़ानून उसे उचित नहीं दिखाई देता वह वास्तव में अनुचित है या नहीं। यदि उससे केवल उसकी व्यक्तिगत हानि होती हो तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि वह केवल किसी वर्गविशेष के हित में हो हो और सार्वजनिक हित को हानि पहुँचाता हो तो वह अनुचित है। उस क़ानून पर अमल करवाने में राज्य पक्षपात कर रहा है और अपने

कर्तव्य का पालन समुचित रीति से नहीं कर रहा है। ऐसी दशा में राज्य के उस क़ानून का विरोध करने का व्यक्ति का अधिकार हो जाता है। परन्तु ग्रीन का मत है कि ऐसी स्थिति में भी उस समय तक व्यक्ति को उसका पालन करना चाहिये जब तक वह बदल न जाय या रद्द न हो जाय, विशेषकर ऐसे राज्य में जहाँ शासन प्रजातन्त्रीय हो और कानूनों में वैधानिक रीति से परिवर्तन हो सकता हो। परन्तु जहाँ क़ानूनों में संशोधन करवाने के वैधानिक साधन उपलब्ध न हों, या सरकार इतनी भ्रष्ट हो कि वह सामाजिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत हित को अधिक महत्व देती हो या नागरिक के व्यक्तित्व के क्षेत्र पर आक्रमण करती हो तो सरकार का विरोध करना व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है। परन्तु इस कर्तव्य का पालन करने के पहले उसे कई बातों पर विचार करना चाहिये। क्या इष्ट परिवर्तन के लिये सभी सम्भव वैधानिक उपायों का अवलम्बन हो चुका है? क्या वह कानूनविशेष इतना अन्यायपूर्ण है कि उसका विरोध होना ही चाहिये जिससे समाज की व्यवस्था और शान्ति के खतरे में पड़ने की सम्भावना है? क्या समाज के अधिकांश लोगों को भी वह क़ानून अन्यायपूर्ण प्रतीत होता है? इन सब प्रश्नों का हाँ में उत्तर मिलने पर ही व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार हो सकता है। ग्रीन का मत है कि ऐसी दशा में विरोध करना उचित होगा, अनिवार्य नहीं क्योंकि सरकार का विरोध करने से राज्य की शान्ति और सुव्यवस्था संकट में पड़ती है। सार्वजनिक शान्ति एवं सुव्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। एक या दो अन्यायपूर्ण बातों का मूल्य उसके सामने कुछ नहीं है। राज्य की अवहेलना करना सार्वजनिक शान्ति को खतरे में डालकर समस्त नागरिक जीवन को अव्यवस्थित कर देना है और एक या दो आवश्यक अधिकारों की प्राप्ति के लिये अन्य समस्त अधिकारों की हानि का खतरा उठाना है।* उसका यह भी कथन है कि इस अधिकार का प्रयोग व्यक्ति नागरिक की हैसियत से और राज्य के हित में ही अर्थात् उसकी अपूर्णता को दूर करने के लिये ही कर सकता है।

इस प्रसंग में हमने राज्य और सरकार का पर्यायवाची शब्दों की तरह प्रयोग किया है क्योंकि व्यवहार में दोनों पर्यायवाची ही हैं। सरकार का कार्य ही राज्य का कार्य होता है। ग्रीन का मत है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकार नहीं हो सकते, सरकार के प्रति हो सकते हैं।

* Barker : Political Thought in England, p. 32.

ग्रीन के अनुसार रिची का भी मत है कि राज्य का विरोध करने के पहले व्यक्ति को यह देख लेना चाहिये कि उसे सफलता की आशा है या नहीं, सभी शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक उपायों का प्रयोग कर लिया गया है या नहीं और उसे यह पूर्ण रूप से निश्चय कर लेना चाहिये कि जिस अन्याय का वह विरोध करने की तैयारी कर रहा है वह अव्यवस्था और रक्तपात के खतरे से भी अधिक बुरा है।

लॉस्की इस अधिकार का समर्थन करने में ग्रीन से भी आगे बढ़ जाता है। उसका मत है कि यदि लोकमत मेरे पक्ष में न भी हो और मैं अन्याय से सहमत न हो सकूँ तो उसका विरोध करना मेरा कर्तव्य है। मेरा प्रथम कर्तव्य स्वयं अपनी अन्तरात्मा के प्रति सच्चा होना है। मैं जितना अधिक अपना कर्तव्य करूँगा उतना ही अधिक मैं राज्य को उचित मार्ग पर ला सकूँगा।*

महात्मा गांधी भी इसी मत के थे। उन्होंने अन्याय का विरोध करने का एक अद्वितीय उपाय—सत्याग्रह—विश्व के सामने रक्खा है।

कर्तव्य

हम पहले अधिकार तथा कर्तव्य के घनिष्ठ सम्बन्ध पर प्रकाश डाल चुके हैं और बतला चुके हैं कि हमारे प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य जुड़ा हुआ है। वास्तव में हमें अधिकार इसीलिये प्राप्त हैं कि हम अपने प्रति और अपने समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही कर्तव्य-पालन पर विशेष ज़ोर दिया जाता रहा है। महात्मा गांधी का कथन था कि आप अपने कर्तव्यों का पालन करते जाइये, अधिकार अपने आप आ जायँगे। लॉस्की का कथन है कि अधिकारों का सम्बन्ध कर्तव्यों से है। मुझे अधिकार इसलिये प्राप्त हैं कि मैं सामाजिक कल्याण-साधन में योग दे सकूँ। मनुष्य कर्तव्य दो प्रकार से करता है उचित कामों को करके और अनुचित कामों से बच कर। इस प्रकार कर्तव्य दो प्रकार के हो सकते हैं—विधिपरक और निषेधपरक। अपने अधिकारों का सदुपयोग करना और सामाजिक कल्याण के सम्पादन के लिये काम करना विधिपरक कर्तव्य है जैसे मताधिकार का सदुपयोग करना, सरकार को शासन की व्यवस्था कायम रखने में सहायता देना, कर देना आदि। चोरी, झूठ, छल, कपट आदि निषिद्ध कार्यों से बचना निषेधपरक कर्तव्य करना है।

---

* Laski: A Grammar of Politics, pp. 289-290.

साधारणतया कर्तव्यों को दो कोटियों में विभक्त किया जाता है—क़ानूनी और नैतिक। कानूनी कर्तव्य वे हैं जिनका पालन करने के लिये राज्य विवश करता है और जिनकी अवहेलना के लिये राज्य दण्ड देता है। नैतिक कर्तव्य वे हैं जिन्हें व्यक्ति अपनी कर्तव्य-भावना तथा लोकमत के दबाव से करता है और जिनके पालन के लिये राज्य व्यक्ति को विवश नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ कर देना क़ानूनी कर्तव्य है और सच बोलना नैतिक कर्तव्य है। परन्तु जब हम कर्तव्यों में इस प्रकार का भेद करते हैं तो इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि इन दोनों में कोई तात्विक भेद है। वास्तव में, जैसा हम अधिकार के सम्बन्ध में देख चुके हैं कि क़ानूनी अधिकार का आधार वस्तुतः नैतिक होता है उसी प्रकार कानूनी कर्तव्यों का आधार भी नैतिक है। तात्विक दृष्टि से सभी कर्तव्य नैतिक होते हैं। किसी समय कोई कर्तव्य नैतिक होता है परन्तु राज्य के द्वारा अनिवार्य बना दिये जाने पर वही कर्तव्य कानूनी हो जाता है। हमारे देश में मत देने का अधिकार तो कानूनी है परन्तु मत देने का कर्तव्य क़ानूनी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अपने मत का प्रयोग नहीं करता तो सरकार उसे दण्ड नहीं दे सकती। किन्तु यदि मतदान करना अनिवार्य बना दिया जाय तो वह कानूनी कर्तव्य बन जायगा।

मनुष्य के कर्तव्य कई क्षेत्रों में हैं। उसके अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने समाज के प्रति, अपने राज्य के प्रति और अन्त में मानव समाज के प्रति अनेक कर्तव्य हैं जिनका समुचित रीति से पालन करके ही वह उत्तम नागरिक बनता है। कर्तव्यों का पालन राज्यदण्ड के भय से नहीं, वरन् कर्तव्य बुद्धि से होना चाहिये। राज्य विज्ञान का सम्बन्ध मुख्यतर उन कर्तव्यों से है जो राज्य के प्रति हैं। ऐसे कर्तव्य अनेक हैं जैसे राज्य के प्रति भक्ति रखना तथा क़ानून का पालन करना, आवश्यकता पड़ने पर देश की रक्षा के लिये सेना में भर्ती होना और युद्ध में शामिल होना, कर देना, सार्वजनिक संस्थाओं के निर्वाचनों में सक्रिय रूप से भाग लेना अर्थात् सोच-समझ कर निष्पक्ष रूप से मतदान करना, योग्यता होने पर निर्वाचन के लिये उम्मेदवार बनकर खड़े होना, राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था क़ायम रखने में सरकार की सहायता करना, सार्वजनिक हित के कामों में सरकार के साथ सहयोग करना, आवश्यकता पड़ने पर सरकारी पद ग्रहण करना और उसके दायित्वों का समुचित रीति से निर्वाह करना आदि।

२

वर्तमान युग की राजनीतिक विचारधाराएँ

और कुछ अंश तक इसी के कारण फ्रान्स में राज्य-क्रान्ति हुई जिसने प्राचीन राज्य-व्यवस्था को नष्ट करके प्रजातन्त्र की स्थापना की। इसका प्रभाव अन्य देशों में भी पड़ा। इङ्गलैण्ड भी अछूता न बचा। वहाँ भी वर्तमान् संस्थाओं की आलोचना होने लगी और सुधार की माग होने लगी। इस समस्त परिस्थिति का बेन्थम पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने सुधार की आवश्यकता महसूस की और उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर क़ानूनी तथा राजनीतिक सुधार की योजना पेश की। बेन्थम के अनेक अनुयायी भी थे जिनमें जेम्स मिल, उसका पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल तथा ऑस्टिन मुख्य हैं।

बेन्थम का उपयोगितावाद—

बेन्थम का कथन था कि 'प्रकृति ने मनुष्य को दो स्वामियों—सुख और दुःख—के अधीन रखा है। यह बतलाना कि हमें क्या करना चाहिये और यह निर्धारित करना कि हम क्या करेंगे केवल उन्हीं का काम है। अपने समस्त विचारों के लिये हम उन्हीं के ऋणी हैं और हमारे तथा जीवन के समस्त निश्चय उन्हीं के द्वारा निर्धारित होते हैं। यह उपयोगितावाद का मूल मंत्र है। सब मनुष्य सुख प्राप्त करना तथा दुःख से दूर रहना चाहते हैं। वह काम अच्छा है जिससे सुख की प्राप्ति हो और जिस काम से दुःख प्राप्त हो वह बुरा है। समस्त कामों तथा वस्तुओं की अच्छाई या बुराई की यही कसौटी है। इस कसौटी का नाम उपयोगिता है। बेन्थम ने उपयोगिता की व्याख्या इस प्रकार की है—किसी वस्तु या कार्य का 'वह गुण जिससे लाभ, हर्ष, प्रसन्नता अथवा हित उत्पन्न हो या जिससे हानि, पीड़ा, अहित अथवा अप्रसन्नता का निवारण हो।' इसके अनुसार उपयोगिता का सिद्धान्त 'वह सिद्धान्त है जो प्रत्येक कार्य का अनुमोदन या उसकी निन्दा उस पक्ष की, जिसका हित विचारणीय है, प्रसन्नता में वृद्धि या कमी करने की उस कार्य की प्रवृत्ति के आधार पर करता है।' जिस कार्य से किसी व्यक्ति की प्रसन्नता में वृद्धि होती है वह उचित है और जो कार्य उसमें कमी करता है वह अनुचित है। नैतिकता का मानदण्ड यही है। इस सिद्धान्त का प्रयोग व्यक्ति तथा समाज दोनों के सम्बन्ध से हो सकता है। व्यक्ति अपने कार्यों के औचित्य का निर्णय अपने सुख-दुःख के आधार पर करता है। यदि इसका प्रयोग समाज के सम्बन्ध में हो तो सुख का रूप हो जाता है 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख।' राज्य या समाज अधिक से अधिक

हम अभी देख चुके हैं कि प्राचीन काल में यूनान में एपिक्यूरस ने राज्य को मनुष्य के सुख का साधन मात्र माना था। वर्तमान काल में यही धारणा पुनर्जीवित हुई और जब राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रवेश हुआ तो राज्य के सम्बन्ध में भी उन्हीं विचारों का प्रादुर्भाव हुआ।

इस सिद्धान्त का राजनीतिक क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयोग प्रकट रूप से अंग्रेज दार्शनिक डेविड ह्यूम (१७११-१७७६) ने किया जब कि उसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा कि हम राज्य का अस्तित्व सामाजिक समझौते के आधार पर नहीं बल्कि उपयोगिता के आधार पर ही समझ सकते हैं। ह्यूम के विचारों का फ्रान्स में बड़ा प्रभाव पड़ा। वहाँ अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कई उपयोगितावादी विचारक हुए जिनमें हेल्वेटियस तथा हॉलबेश प्रसिद्ध हैं जिन्होंने बतलाया कि आचार-शास्त्रियों तथा कानून-निर्माताओं को आचार के नियमों तथा कानूनों का निर्माण करते समय जो मानदण्ड अपने समक्ष रखना चाहिये वह है 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख।' फ्रान्स के भौतिक अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का आर्थिक क्षेत्र में प्रयोग करके राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की तथा व्यक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ देने की सलाह दी। फ्रान्स से परिपक्व होकर ये विचार वापस इंगलैण्ड पहुँचे जहाँ जेरेमी बेन्थम ने उनके आधार पर उपयोगितावाद का एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त खड़ा किया।

वे दिन औद्योगिक क्रान्ति के थे जिसके फलस्वरूप इङ्गलैण्ड में यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले बड़े-बड़े कारखाने खुल रहे थे और कुटीर-उद्योग का ह्रास हो रहा था। इन उद्योगों के नष्ट हो जाने से गावों के अनेक लोग बेकार हो रहे थे और काम की तलाश में कारखानेवाले नगरों में एकत्र हो रहे थे। इन बेकार लोगों की विवशता एवं असहाय अवस्था से लाभ उठाकर पूँजीपति लोग उनका शोषण करने लगे। मजदूरों की बड़ी दुर्दशा थी। उन्हें न ठीक काम मिलता था, न उचित वेतन ही मिलता था और न उन्हें रहने के लिये ठीक ठाक जगह ही मिलती थी फलतः वहाँ अनेक प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हो गई थीं और सुधार की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत हो रही थी। उन्हीं दिनों फ्रान्स में विचार क्षेत्र में बड़ी हलचल थी और सारा वातावरण आलोचनामय हो रहा था। परम्परागत संस्थाओं की तीव्र आलोचना हो रही थी और स्वतन्त्रता समानता जैसे नये आदर्शों का प्रचार हो रहा था। इसी वातावरण

लोगों का अधिक से अधिक सुख की दृष्टि से अपने कार्यों के औचित्य का निर्णय करते हैं।

बेन्थम इस कसौटी को बड़ी सरल और व्यावहारिक बतलाता था। इसमें आदर्श जैसी दुर्बोध और दुष्प्राप्य कोई बात नहीं है। इसका आधार वास्तविकता है क्योंकि हम जानते हैं कि मनुष्य सुख-दुःख का विचार करके ही काम करते हैं और सुख-दुःख की माप-तौल हो सकती है।

उसने चौदह प्रकार के साधारण सुख और बारह प्रकार के साधारण दुःख बतलाये हैं। उसका कथन था कि सुख-दुःख की माप हो सकती है क्योंकि सब सुख एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें मात्रा का भेद ही होता है, गुण का नहीं। सुख-दुःख न्यूनाधिक ही होते हैं, उच्चतर या निम्नतर नहीं। सुख-दुःख की मात्रा ६ बातों पर विचार करके की जा सकती है—(१) तीव्रता, सुख या दुःख कितना तीव्र है, (२) अवधि, वह कितनी देर ठहरता है, (३) निश्चितता या अनिश्चितता, किसी कार्य से अपेक्षित सुख निश्चित है या अनिश्चित, (४) निकटता या दूरी, वह तुरन्त ही होता है या देर से, (५) उत्पादक शक्ति, उससे और भी सुख (या दुःख) उत्पन्न होगा या नहीं, (६) शुद्धता, उससे दुःख (या सुख) तो नहीं होगा। इन ६ बातों से व्यक्ति के सुख का हिसाब लगाया जा सकता है। यदि सामूहिक सुख-दुःख का हिसाब लगाना है तो (७) विस्तार का और विचार करना पड़ेगा अर्थात् उससे कितने लोगों को सुख होगा, कम को या अधिक को। इन बातों का विचार करके और हिसाब लगाकर प्रत्येक है कार्य या वस्तु से उत्पन्न होने वाले सुख या दुःख की माप की जा सकती तथा उसके औचित्य एवं अनौचित्य का निर्णय किया जा सकता है। सुख-दुःख का हिसाब लगाते समय प्रत्येक व्यक्ति को समान महत्व देना चाहिये। व्यक्ति का मूल्य एक व्यक्ति के बराबर ही होना चाहिये, एक से अधिक एक नहीं।

चूंकि सभी व्यक्ति सुख चाहते हैं इस कारण समाज और राज्य कार्यों की कसौटी अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख होनी चाहिये। व्यक्तियों को ऐसे कार्यों से रोकना चाहिये जो बुरे या समाज विरुद्ध हों। ऐसे कार्यों से रोकने का एक ही उपाय है कि विभिन्न कार्यों के साथ सुख या दुःख की भावना जोड़ दी जाय और इस प्रकार व्यक्तियों को उन कार्यों को करने या न करने के लिये प्रेरित किया जाय। कामों के साथ इस तरह

प्रकृति रीति से जुड़े हुए सुख या दुःख को बेन्थम ने 'दबाव' (Sanction) कहा है। उसने दबाव चार प्रकार के बतलाये हैं—(१) प्राकृतिक—युक्त आहार विहार से स्वास्थ्य की प्राप्ति और अधिक खा जाने से बीमार पड़ने का भय, (२) सामाजिक—अच्छे काम करने पर प्रशंसा और बुरे काम करने पर लोक निन्दा का भय, (३) धार्मिक—पुण्य कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति और पाप से दैवी दण्ड का भय तथा (४) राजनीतिक—कानून के पालन से निर्विघ्न जीवन की प्राप्ति और अपराध करने पर दण्ड पाने का भय। इन सब में राज्य का दबाव ही सबसे अधिक प्रभावशाली है क्योंकि मनुष्य प्रकृति के नियमों, लोकमत तथा दैवी नियमों की अवहेलना कर सकता है परन्तु राज्य के दण्ड से नहीं बच सकता। अतः समाज के कल्याण-सम्पादन का कार्य राज्य ही कर सकता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार उसने कानून, न्याय, प्रशासन, जेल, शिक्षा आदि के सुधार के लिये विशद योजनाएँ बनाईं और सुधार-कार्य पर बड़ा जोर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड में जो अनेक प्रकार के सुधार हुए उनमें बेन्थम का प्रभाव स्पष्ट है।

बेन्थम उपयोगिता को ही राज्य का आधार मानता था। उसका कथन था कि राज्य के आदेशों का पालन लोग कुछ तो उसकी उपयोगिता देखकर और कुछ आदत के कारण करते हैं। वह प्राकृतिक कानून, प्राकृतिक अधिकार तथा सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का विरोधी था। हॉब्स के समान वह भी कानून को आदेश मानता था। आदेश ईश्वर या मनुष्य ही दे सकता है, प्रकृति या विवेक नहीं। वास्तविक अधिकार वे ही हो सकते हैं जिनका उल्लंघन किये जाने पर दण्ड मिल सके। ऐसे अधिकार कानूनी ही हो सकते हैं। नागरिक के राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं हो सकते क्योंकि राज्य को बाध्य करने वाली कोई दूसरी शक्ति नहीं है। राज्य यदि समझौते अथवा अनुमति के आधार पर ही स्थिर होता तो व्यक्ति को समझौता तोड़ कर या अपनी अनुमति वापस लेकर राज्य की अवहेलना करने का अधिकार होता परन्तु ऐसा नहीं है।

बेन्थम के मत में राज्य का प्रभुत्व सर्वोच्च एवं असीमित है, परन्तु ऐसा केवल सिद्धान्त की दृष्टि से ही है। व्यवहार में उपयोगिता के सिद्धान्त के कारण वह सीमित हो जाता है क्योंकि शासक को समाज के रीतिरिवाजों का आदर करना पड़ता है और अपने कार्यों के विरुद्ध विद्रोह की संभावना

का ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि जनता स्वयं किसी कानून का पालन करने या न करने का निर्णय उसकी उपयोगिता के आधार पर ही करती है।

बेन्थम पक्का जनतन्त्रवादी था। उसके जनतन्त्रवाद का आधार भी उपयोगिता का सिद्धान्त ही था। व्यक्ति अपने सुख या हित की प्राप्ति का ही प्रयत्न करता है। यदि एकतन्त्र हो तो राजा का हित-साधन होगा, यदि कुलीनतन्त्र हो तो केवल कुलीनों अथवा धनियों का ही स्वार्थसाधन होगा। यदि अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख प्राप्त करना ध्येय है तो वह जनतन्त्र से ही प्राप्त हो सकता है।

आर्थिक मामलों में बेन्थम के विचार एडम स्मिथ के विचार से मेल खाते थे। साधारणतया वह आर्थिक कानूनों का विरोधी था और मुक्त व्यापार का समर्थक था परन्तु उसका यह आशय नहीं था कि आर्थिक विषयों में राज्य बिलकुल हस्तक्षेप न करे। उसके लिये तो राज्य के कार्य की कसौटी उपयोगिता थी।

जॉन स्टुअर्ट मिल का उपयोगितावाद—

बेन्थम के अनुयायियों में जॉन स्टुअर्ट मिल सबसे महत्वपूर्ण था जिसने बेन्थम के उपयोगितावाद के दार्शनिक पक्ष में संशोधन करके उसे आदर्शवाद के निकट पहुँचा दिया। उसका मुख्य संशोधन सुख की धारणा के सम्बन्ध में है। बेन्थम ने सभी सुख समान कोटि के माने थे और उनमें केवल मात्रा का भेद ही माना था, गुण का नहीं। उसकी दृष्टि में सब सुख समान थे, कोई सुख उच्च कोटि का या निम्न कोटि का नहीं था। परन्तु मिल ने सुखों में गुण के आधार पर भेद किया और उच्च कोटि के तथा निम्न कोटि के सुखों में अन्तर माना। उसका कथन था कि एक विद्वान् को सत्साहित्य के पठन-पाठन से जो सुख मिलता है या एक परोपकारी को किसी असहाय व्यक्ति की सहायता करने से जो सुख प्राप्त होता है वह किसी मांसाहारी को मांस खाने से जो सुख मिलता है उससे कहीं उत्कृष्ट कोटि का होता है। उसकी दृष्टि में तो यदि कोई विद्वान् अपनी स्थिति से पूर्णतया सन्तुष्ट न भी हो तो भी वह उस मूर्ख से अच्छा है जो अपनी स्थिति में सन्तुष्ट है। 'एक सन्तुष्ट सूअर की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मानव होना अच्छा है ; एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात होना अच्छा है।' इस प्रकार उच्चतर तथा निम्नतर सुख में भेद करके उसने बेन्थम की सुख की कल्पना बदल दी। बेन्थम के

अनुसार सुख केवल भौतिक अथवा शारीरिक सुख ही था और इस प्रकार उसकी नैतिकता की कसौटी बाह्य थी। परन्तु मिल ने भौतिक तथा आध्यात्मिक सुख में भेद करके उस कसौटी को बाह्य तथा आन्तरिक दोनों माना और इस प्रकार उसे उच्च तथा अधिक मानवीय रूप दे दिया। परन्तु इसके साथ ही उसने अनजाने ही बेन्थम के दर्शन को गड़बड़ में डाल दिया क्योंकि सुख-दुःख की मापतौल तो तभी हो सकती है जब वे केवल मात्रा में ही भिन्न हों, गुण में नहीं। कम या अधिक का तो जोड़-बाकी से हिसाब हो सकता है परन्तु उत्कृष्ट तथा निकृष्ट का हिसाब कैसे हो?

बेन्थम का उपयोगितावाद मूलतः व्यक्तिवादी था। व्यक्ति का उद्देश्य अधिकतम सुख प्राप्त करना था। राज्य का कार्य समस्त व्यक्तियों को समान समझ कर अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख सम्पादन करना था। बेन्थम की दृष्टि में समाज केवल विभिन्न व्यक्तियों का समूह था, उसकी कोई सावयव प्रकृति नहीं थी। परन्तु मिल इन सब बातों में अपने गुरु से भिन्न था। उसकी दृष्टि में मनुष्य का लक्ष्य अपनी शक्तियों का उच्चतम तथा अत्यन्त सामंजस्यपूर्ण विकास करना था, अधिकतम सुख की प्राप्ति नहीं। वह सब व्यक्तियों को बराबर नहीं समझता था। इसी कारण जहाँ बेन्थम समानता के आधार पर बहुमत के शासन का समर्थन करता था, वहाँ मिल असमानता के आधार पर शासन में योग्य व्यक्तियों को प्रधानता देना चाहता था। उसके मत में राज्य का लक्ष्य अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख नहीं वरन् मनुष्य की बौद्धिक शक्तियों का विकास था—जिसके लिये व्यक्ति की स्वतन्त्रता की आवश्यकता थी। मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता का बड़ा समर्थक था। वह समाज को व्यक्ति के उन्हीं कामों में हस्तक्षेप करने का अधिकार स्वीकार करता था जिनका प्रभाव दूसरे व्यक्तियों पर पड़ सकता है। उसकी दृष्टि में समाज कोई यांत्रिक संस्था नहीं वरन् अपने विचारों के अनुकूल अपने कार्यों में परिवर्तन करने वाली एक सजीव संस्था थी।

समाज की ऐसी कल्पना के अनुकूल वह व्यक्ति के हित तथा सार्वजनिक हित के बीच की दूरी को कम करना चाहता था। वह व्यक्ति को स्वभाव से सामाजिक समझता था और कहता था कि व्यक्ति अपने सुख तथा सम्पूर्ण समाज के हित में अनिवार्य रूप से ऐसा अटूट सम्बन्ध समझता है कि उसे सामान्य हित की वृद्धि के लिये कार्य करने की आदत पड़ जाती

है। वह ईसामसीह की इस शिक्षा में उपयोगितावादी नैतिकता का पूर्ण विकसित रूप देखता था—'जो तुम दूसरों से अपने लिये चाहते हो वही दूसरों के साथ करो। अपने पड़ौसी से उसी प्रकार प्रेम करो जैसे अपने आप से करते हो।'

'राजनीतिक तथा सामाजिक मामलों में तो मिल पक्का व्यक्तिवादी था और व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थक था परन्तु आर्थिक मामलों में बेन्थम के विपरीत वह सामाजिक कल्याण की दृष्टि से राज्य के हस्तक्षेप का तथा राज्य की ओर से अनेक कार्यों को करवाने के पक्ष में था और इस क्षेत्र में उसी प्रकार समाजवाद के निकट पहुँच गया था जैसे व्यक्ति के लक्ष्य, समाज का स्वरूप तथा राज्य के लक्ष्य के संबन्ध में आदर्शवाद के निकट जा पहुँचा था। यद्यपि उसके विचारों में असंगति थी और वह व्यक्ति तथा समाज के हितों में समुचित रीति से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाया था फिर भी एक आदर्शवादी की तरह व्यक्तित्व की रक्षा तथा सामाजिक कल्याण का सम्पादन ही उसका लक्ष्य था। मिल अपने सिद्धान्त को अन्त तक उपयोगितावाद का नाम ही देता रहा परन्तु स्पष्टतः उसने बेन्थम के कट्टर उपयोगितावाद का आधार नष्ट कर दिया था। किन्तु इसके साथ ही उसमें कुछ बहुमूल्य बातें जोड़कर उसने उसकी रक्षा करली। आइवर ब्राउन ने कहा है कि 'यही कारण है कि उपयोगितावादी सिद्धान्त में, दीर्घकाल से निन्दित होते हुये भी, अमरत्व की संभावना दिखाई देती है।'

उपयोगितावाद का सामान्य रूप—

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, उपयोगितावाद वास्तव में राजनैतिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार किसी भी कार्य, वस्तु या संस्था के औचित्य अथवा अनौचित्य का निर्णय उसकी उपयोगिता के आधार पर करना चाहिये। राज्यविज्ञान का अध्ययन करने वालों के लिये यह सिद्धान्त इस कारण महत्वपूर्ण है कि, जैसा हम अभी देख चुके हैं, अठारहवीं शताब्दी में अनेक अंग्रेज विचारकों ने उसका प्रयोग प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त तथा उस पर आधारित राज्य के कार्यों के सिद्धान्त का विरोध करने के लिये किया। प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त व्यक्तिवादी सिद्धान्त है और वह राज्य के कामों को रक्षा तथा न्याय तक ही सीमित रखता है। अन्य प्रकार के कामों में वह राज्य के हस्तक्षेप का विरोध करता है। उपयोगितावादी विचारक भी व्यक्तिवादी थे परन्तु वे समाज के असंख्य लोगों को

दुर्दशा देख रहे थे और समझते थे कि उनकी दुर्दशा तभी मिट सकती है। जब राज्य उनके हित के लिये काम करे। इसी कारण उन्होंने उपयोगितावादी सिद्धान्त के आधार पर कानूनी तथा राजनीतिक सुधारों की योजनाएँ प्रस्तुत कीं और सुधारकार्य पर जोर दिया। इस प्रकार वे प्रधानतः कानूनी सुधारक थे। उन्होंने आग्रह किया कि उन समस्त कानूनों में संशोधन होना चाहिये जो समाज की प्रगति में बाधा डाल रहे हैं, चाहे उनका आधार रीतिरिवाज हो या प्राकृतिक अधिकार। औचित्य एवं अनौचित्य, श्रेष्ठता तथा निकृष्टता, अच्छाई या बुराई की यह कसौटी, जिसका प्रयोग राज्य को करना चाहिये, जनता का सुख है, दैवी प्रेरणा, अन्तरात्मा का आदेश या विवेक के कोरे अमूर्त सिद्धान्त नहीं। वे यह मानते थे कि अन्य कार्य-क्षेत्रों के समान राजनीतिक क्षेत्र में भी उपयोगिता या मानव-कल्याण का हेतु होना ही अच्छाई की कसौटी है। वह शासन सर्वश्रेष्ठ है जिसका संगठन ऐसा है जो राज्य के अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक सुख अथवा कल्याण का सम्पादन कर सके।

✓इस प्रकार उपयोगितावाद राज्य का सिद्धान्त नहीं, उसके लक्ष्य का सिद्धान्त है। वह दार्शनिक नहीं, एक अत्यन्त व्यावहारिक प्रणाली है। वह अमूर्त सिद्धान्तों को लेकर नहीं चलता। वह तो मनुष्य के स्वभाव को जैसा देखता है और जैसी परिस्थिति उसे दिखाई देती है उसके अवलोकन तथा विश्लेषण के आधार पर क्या होना चाहिये उसका बुद्धिपूर्वक निर्णय करता है। इस प्रकार उसकी प्रणाली विश्लेषणात्मक है और उसका दृष्टिकोण बौद्धिक, व्यावहारिक एवं मानवीय है।

राज्य की आधारभूत धारणाओं पर लक्ष्य न देते हुए भी वह राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ मान्यताओं को लेकर ही आगे बढ़ता है। वह राज्य को ऐसी संस्था मानता है जिसकी स्थापना मनुष्यों ने जानपूर्वक स्वेच्छा से अपनी सुरक्षा तथा सुविधा के लिये की है और जिसमें वे आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकते हैं। राज्य नागरिकों की रचना है, अतः इसकी कोई स्वतंत्र प्रकृति नहीं है। उसका आधार उपयोगिता है। हम राज्य को इसलिये मानते हैं, हम उसके आदेशों का इसलिये पालन करते हैं कि वह हमारे लिये उपयोगी है अर्थात्, हमें उसमें सुख-सुविधा प्राप्त होती है अथवा हमारे दुःख एवं हमारी कठिनाइयाँ दूर होती हैं। यदि राज्य न हो तो सर्वत्र अव्यवस्था एवं अशान्ति फैल जायगी और हमें कष्ट होगा। राज्य के आदेशपालन का यही एकमात्र आधार है। राज्य का

अस्तित्व इस कारण है कि हमें उसकी आवश्यकता है। यद्यपि मिल के समान कुछ उपयोगितावादी मनुष्य को सामाजिक मानते थे तो भी सामान्यतया उपयोगितावादी विचारक राज्य की सावयव प्रकृति को स्वीकार नहीं करते। वे समाज को व्यक्तियों का योगमात्र मानते हैं। उनका विचार है कि जो व्यक्तियों के लिये ठीक है वह समाज के लिये भी ठीक है। इस प्रकार यह सिद्धान्त व्यक्तिवादी है।

उपयोगितावादियों की यह धारणा थी कि मानव-जीवन की अवस्थाओं में राज्य के क़ानूनों द्वारा सुधार किया जा सकता है। अतः उन्होंने सांसद प्रतिनिधित्व की प्रणाली, शासन की आर्थिक नीति, अपराधियों की दशा, शिक्षा आदि में कानून बनवाकर सुधार करवाने के प्रयत्न किये। बेन्थम ने सार्वभौम वयस्क मताधिकार, वार्षिक पार्लामेण्ट, गुप्त मतपत्र द्वारा मतदान, नगर-शासन सुधार, जेलों में सुधार, जेलों के नियमों में संशोधन, भिक्षुओं के सुधार आदि की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। इन सुधारों के परिणाम बड़े महत्वपूर्ण निकले। प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता की कसौटी पर परीक्षा करने के समर्थक होने के कारण उन्हें परम्परागत रिवाजों और संस्थाओं के लिये कोई आदर-भावना नहीं थी। उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाने पर वे उन्हें भी नष्ट कर देना चाहते थे। इसी कारण उपयोगितावादी विचारक दार्शनिक क्रान्तिवादी (Philosophical Radicals) भी कहलाते थे।

सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में उपयोगितावादियों के कार्यों की प्रशंसा करते हुए डेविडसन ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल थॉट इन इङ्गलैण्ड' में लिखा है—'इङ्गलैण्ड उपयोगितावादी क्रान्तिवादियों का बड़ा ऋणी है। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश में उनके विचारों का प्रचार रहा और इसके परिणाम-स्वरूप सक्रिय राजनीति, सामाजिक सुधार तथा हितकारी कानून-निर्माण में ऐसी अभिरुचि उत्पन्न हुई जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसका लाभ आज अनुभव हो रहा है।... उन्होंने अपने सिद्धान्तों का क्रमशः प्रचार किया और उसमें प्रत्येक महान् विचारक ने स्थायी मूल्य का योगदान दिया। प्रगति उनका मुख्य नारा था। स्वतन्त्रता तथा लोकहित के उत्साह ने उन्हें महान् प्रेरक शक्ति प्रदान की और यही वस्तु वर्तमान युग ने उन लोगों से प्राप्त की है। उन्होंने संसार को कोई पूर्ण दार्शनिक प्रणाली नहीं दी, परन्तु कुछ सुनिश्चित सिद्धान्त भेंट किये जो परिणामों की कसौटी पर सच्चे प्रमाणित

हुए हैं और जिनका अब भी अपरिमित रूप में लाभप्रद प्रयोग हो सकता है।'

आलोचना—

डेविडसन के उद्गार सत्य हैं। उपयोगितावादियों ने लोकहित के बड़े काम किये हैं और उनके सिद्धान्त बड़े सामाजिक मूल्य के सिद्ध हुए हैं। इस सिद्धान्त से राजनीतिज्ञों तथा साधारण लोगों को शासन की नीतियों एवं उनके कार्यों की जाँच करने की एक अच्छी कसौटी प्राप्त होती है। परन्तु सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक दृष्टि से इसमें कई दोष दिखाई देते हैं।

उपयोगितावादियों ने सुख की प्राप्ति को, जिसका साधारण अर्थ भौतिक सुख होता है, वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से मानव जीवन का चरम ध्येय माना है। उसमें नैतिकता के लिये स्थान नहीं है। इस बात को स्वीकार करना असम्भव है। सामान्य हित की भावना में, जिसकी अभिवृद्धि करना राज्य का कर्तव्य है, नैतिक मूल्यों का प्रवेश अवश्य होना चाहिए। हमें जिस ध्येय की प्राप्ति करनी चाहिये वह है अपने नैतिक व्यक्तित्व की पूर्णता, केवल अधिकतम सुख की प्राप्ति नहीं।

यह मान लेना भी गलत है कि हमारे सब कुछ काम सुख की इच्छा से ही प्रेरित होते हैं। मनुष्य में जहाँ एक ओर स्वार्थ की प्रवृत्ति है वहाँ दूसरी ओर परोपकार एवं त्याग की प्रवृत्ति भी है। त्याग को तथा परोपकार को महत्व देनेवाले लोग अपने भौतिक सुख को तिलाञ्जलि देकर घोर से घोर संकट झेलने को भी तैयार रहते हैं।

'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' इस सूत्र को ग्रहण करने में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। बेन्थम के सिद्धान्त के अनुसार अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख निर्धारित करना असम्भव है। डॉ अप्पादोराई ने ठीक ही कहा है कि राजनीति में अंकगणित उसी प्रकार काम नहीं देती जैसे अंकगणित में राजनीति। यदि सब मनुष्य समान होते और सुखों में केवल मात्रा का ही भेद होता, गुण का नहीं, तो अंकगणित की साधारण प्रक्रिया से अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख निकल आता। परन्तु सभी मनुष्य समान नहीं होते और एक ही सुख का अनुभव विभिन्न प्रकृति वाले मनुष्य विभिन्न मात्राओं में करते हैं। इसके अतिरिक्त यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि अधिकतम लोगों के सुखों को जोड़ने से अधिकतम सुख प्राप्त होगा। उसका योग शून्य भी हो सकता है। एक

समुदाय में यदि आधे मनुष्य ऐसे हों जिन्हें उपद्रव करने में सुख मिलता हो और आधे लोगों को शान्ति में सुख मिले तो उनके सुखों को जोड़ने से शून्य प्राप्त होगा। इस सूत्र के जो दो भाग हैं—अधिकतम लोग और अधिकतम सुख—उनमें अन्तर्विरोध हो सकता है। मान लीजिये हमारे पास एक लाख रुपया गरीबों में बाँटने के लिये है। इसे हम दो प्रकार से बाँट सकते हैं। हम १० आदमियों को दस-दस हज़ार रुपये दे सकते हैं जिससे वे अपने लिये साधारण मकान बनाकर और कुछ काम-धन्धा आरंभ करके अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सकें, या हम १०० आदमियों को एक-एक हजार रुपया देकर उन्हें छोटे-मोटे धन्धों में लगाकर उन्हें जीविका कमाने के रास्ते पर लगादें। पहले प्रकार से सहायता करने में दस आदमियों को १०-१० हजार प्राप्त होते हैं परन्तु ६० आदमियों को कुछ नहीं मिलता। दूसरे प्रकार के वितरण में १०० आदमियों को एक-एक हजार रुपया मिलता है। इस प्रकार जो अधिकतम लोगों का सुख है वह अधिकतम नहीं है और जो अधिकतम सुख है वह अधिकतम लोगों का नहीं है। इस प्रकार इस सूत्र को व्यवहार में लाना बड़ा कठिन है।

उपयोगितावादियों की राज्य-सम्बन्धी कल्पना को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनकी दृष्टि में राज्य की स्थापना व्यक्तियों ने स्वेच्छा-पूर्वक कुछ सुविधाओं के लिये की है। परन्तु राज्य एक प्राकृतिक एवं नैतिक संस्था है और उसकी प्रकृति सावयव है। वह मनुष्यों का कृत्रिम समूह नहीं है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इंगलैण्ड में जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी उसका मुक़ाबला करने में उपयोगितावाद असफल रहा। उस समय पुरानी विचारधारा में महान् परिवर्तन की आवश्यकता थी अथवा यों कहिये कि उस समय एक नवीन सिद्धान्त की आवश्यकता थी। जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद को नवीन आवश्यकताओं के अनुकूल करने का प्रयत्न अवश्य किया परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। इस आवश्यकता की पूर्ति ग्रीन ने मर्यादित आदर्शवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके की।

अध्याय ७

आदर्शवाद

सिद्धान्त की प्रकृति—

आदर्शवादी सिद्धान्त के अनेकों नाम हैं। इसे कभी-कभी दार्शनिक या आध्यात्मिक सिद्धान्त भी कहा जाता है। इंगलैण्ड की आदर्शवादी परम्परा के एक श्रेष्ठ विचारक बोसान्क्वे ने इस सिद्धान्त का विवेचन करनेवाले अपने ग्रन्थ का नाम "राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त" (Philosophical Theory of State) रखा है। हॉब्हाउस ने इस सिद्धान्त की आलोचना इसका नाम 'आध्यात्मिक सिद्धान्त' (Metaphysical Theory) रखकर की है। ये नाम अनुपयुक्त नहीं हैं क्योंकि आदर्शवादी विचारक राजनीतिक समस्याओं का विवेचन दार्शनिक दृष्टिकोण से करते हैं। कुछ लेखक इसे निरकुश सिद्धान्त (Absolutist Theory) कहते हैं। कुछ तीव्र आलोचकों ने इसे 'राज्य का रहस्यवादी सिद्धान्त' कहा है। हेगेल तथा उसके कुछ जर्मन शिष्यों की रचनाओं में इस सिद्धान्त ने जो रूप ग्रहण किया है, उसके कारण ये नाम उचित भी मालूम पड़ते हैं। ये लेखक व्यक्ति को राज्य के अधीन मानकर राज्य को सर्वथा स्वेच्छाचारी (निरकुश) बना देते हैं। परन्तु यह बात अन्य राजनीतिक आदर्शवादियों के सम्बन्ध में लागू नहीं होती। निरकुशता, (Absolutism) का विशेषण उनके सिद्धान्तों के साथ नहीं लगाया जा सकता। शायद इस सिद्धान्त का सर्वोत्तम नाम राज्य का 'आदर्शवादी नैतिक सिद्धान्त' होगा। यह सिद्धान्त आदर्शवादी है क्योंकि यह राज्य की परिभाषा एवं व्याख्या उसकी आदर्श प्रकृति एवं ध्येय के अनुसार करता है अर्थात् इस दृष्टि से कि राज्य को कैसा होना चाहिये और राज्य क्या बनना चाहते है, चाहे वे अपने लक्ष्य से अभी दूर ही हों। आदर्शवादी विचारक राज्य की प्रकृति और उसकी संस्थाओं के सम्बन्ध में अपने परिणामों को पूर्णतया या मुख्यतया मनुष्यों के वास्तविक आचरण

तथा उन संस्थाओं के संचालन के निरीक्षण पर आधारित नहीं करता। वह मनुष्यों की दुर्बलताओं एवं दोषों तथा उनके पूर्ण आचरण में भेद मानता है और अपने सिद्धान्त को आध्यात्मिक एवं बुद्धिपरक और इस कारण उसको प्रकृति के अधिक स्थायी तथा व्यापक तत्वों पर आधारित करता है। यह सिद्धान्त नैतिक है क्योंकि यह मानव की नैतिक प्रकृति के साथ आरम्भ होता है और राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है जिसका लक्ष्य अपने नागरिकों के जीवन को श्रेष्ठ बनाना है। राज्य के अनेक पक्ष हैं—समाज-वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, क़ानूनी, मनोवैज्ञानिक, जीव-वैज्ञानिक तथा नैतिक। आदर्शवाद के अनुसार उसका नैतिक पक्ष अन्य सभी पक्षों से प्रबल है। राज्य आवश्यक रूप से श्रेष्ठतम जीवन का साधन है; क़ानूनी कार्यवाही का साधन या उत्तम उत्पादन एवं वितरण का साधन वह केवल गौणरूप से है। इस प्रकार राजनीतिक दर्शन एक नैतिक अध्ययन है जो राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है और उसके नैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के उपाय ढूँढता है। राजनीति पर नैतिक दृष्टि से विचार करना अफलातून तथा अरस्तू की विशेषता थी। राजनीतिक आदर्शवाद की अनेक धारणाएँ इन दोनों विचारकों से मिली हैं। अफलातून की 'रिपब्लिक' और अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' का एक बड़े लम्बे समय से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में अपना स्थान रहा है। यह विश्वविद्यालय ही इङ्गलैण्ड के उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन में आदर्शवादी प्रवृत्तियों के पुनरुद्धार के लिये उत्तरदायी है। ग्रीन, ब्रेडले और बोसान्क्वे ब्रिटिश आदर्शवाद के प्रमुख व्याख्याता हैं।

राज्य की इस आदर्शवादी कल्पना का कई लेखकों ने, जिनमें अफलातून, अरस्तू, रूसो, काण्ट, हेगेल, ग्रीन, ब्रेडले तथा बोसान्क्वे मुख्य हैं, कई विभिन्न रूपों में प्रतिपादन किया है। इस कारण इसका ऐसे ढङ्ग से विवेचन करना सरल नहीं है। जिसमें सभी दृष्टिकोणों का सही समावेश हो सके। सबसे अच्छी बात तो यह है कि इसके दो मुख्य रूपों उग्र (Extreme) और मर्यादित (Moderate) में भेद किया जाय और दोनों का अलग-अलग विवेचन किया जाय।

उग्र और मर्यादित आदर्शवाद—अँग्रेज आदर्शवादियों, विशेषकर ग्रीन तथा ब्रेडले, की रचनाओं में राजनीतिक आदर्शवाद का जो रूप है वह साधारणतया मर्यादित कहा जाता है और हेगेल तथा उसके जर्मन

अनुयायियों ने जो रूप उसे दिया है वह उग्र कहलाता है। इन दोनों का मुख्य भेद राज्य के प्रति उनके भाव तथा राज्य के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध की उनकी कल्पना में है। उग्र आदर्शवाद राज्य को आदर्श का रूप देता है और उसका ऐसा व्यक्तित्व मानता है जो व्यक्तियों के व्यक्तित्वों का केवल अपने में समावेश ही नहीं करता वरन् उनका अतिक्रमण भी करता है। वह राज्य को एक साध्य मानता है और व्यक्तियों को उसकी पूर्ण अधीनता में रखता है। उसके अनुसार राज्य के अपनी रक्षा तथा विस्तार के अपने ही प्रयोजन हैं जो व्यक्तियों के प्रयोजन से भिन्न और श्रेष्ठ हैं। मर्यादित आदर्शवाद व्यक्ति के अधिकारों को नहीं भूलता और राज्य के कार्यों पर कुछ मर्यादाएँ आरोपित करता है; उग्र आदर्शवाद के समान यह राज्य को निरपेक्ष नहीं बनाता। राज्य का आदर्शीकरण हेगेल के इस सिद्धान्त में अच्छी तरह प्रकट होता है कि इतिहास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण इकाई व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय नहीं वरन् राष्ट्र है। राष्ट्र की बुद्धि अथवा आत्मा व्यक्तियों के द्वारा काम करती है परन्तु उसका कार्य अधिकांश में उनकी सचेतन इच्छा और उनके प्रयोजन से स्वतन्त्र रह कर होता है। राज्य ही कला, कानून, सदाचार और धर्म का वास्तविक स्रष्टा है, व्यक्ति नहीं। राज्य, जिसमें राष्ट्र आत्मचेतना को प्राप्त होता है, राष्ट्रीय विकास का निर्देशन करता है और राज्य ही उस विकास का चरम लक्ष्य है। इसके विपरीत ग्रीन इस प्रमेय को लेकर चलता है कि मनुष्य का उद्देश्य आत्म-प्राप्ति है और इस विश्वास से कि वह समाज में तथा समाज के द्वारा ही हो सकती है वह व्यक्ति तथा समाज में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। आदर्शवाद के इन दोनों रूपों का सरल वर्णन आप प्रथम भाग में राज्य के स्वरूप के सिद्धान्त के सम्बन्ध में पढ़ चुके हैं। यहाँ हम हेगेल और ग्रीन के, जो इन दोनों रूपों के प्रधान प्रतिपादक हैं, विचारों को प्रस्तुत करेंगे।

हेगेल—उग्र आदर्शवाद—

हेगेल के विचार अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल हैं और सरलता से समझ में नहीं आते। हम यहाँ उसके विचारों को अत्यन्त सरल और संक्षिप्त रीति से प्रस्तुत करेंगे। उसके अनुसार इस दृश्य जगत के मूल में जो वस्तु है वह विश्वात्मा है। वह विश्वात्मा अपनी आन्तरिक प्रेरणा से अनेक रूपों में विकसित होता है और विकसित होता हुआ फिर अपने शुद्ध

निर्विकार रूप मे लौट जाता है। यह बारम्बार होता रहता है। यही सृष्टि का क्रम है।

यह विकास आन्तरिक अर्थात् विचार-जगत मे और बाह्य अर्थात् दृश्य जगत दोनों में होता रहता है। प्रथम आत्मा अपने स्वगत (Subjective) रूप मे प्रकट होता है और फिर वह बाह्य जगत मे व्यक्त होता है। बाह्य जगत मे जो आत्मा का विकास होता है वह सर्वप्रथम जड जगत मे होता है, उसके बाद पेड़ पौधों मे, फिर कीड़ा-मकोड़ों, पशु-पक्षियों आदि मे और अन्त में मनुष्य के रूप मे। इस विकास-क्रम मे मनुष्य योनि बहुत ऊँचे स्तर पर है क्योंकि उसमे विश्वात्मा विकास क्रम मे सब से पहली बार चेतन होता है। परन्तु मनुष्य मे जो आत्मा का रूप होता है अर्थात् जीवात्मा वह विश्वात्मा की अपेक्षा बहुत नीचे स्तर पर है। अतः उसका भी उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। जीवात्मा का विकास आन्तरिक और बाह्य दोनो जगत में होता है। उसका बाह्य विकास बाह्य जगत के विभिन्न नियमों, सामाजिक संस्थाओं आदि के रूप में होता है जिनमे राज्य का सर्वोच्च स्थान है।

हेगल के अनुसार यह विकास द्वन्द्वात्मक (Dialectical) प्रक्रिया द्वारा अर्थात् आन्तरिक विरोध द्वारा होता है। विकास की प्रत्येक मजिल मे तीन सीढियाँ होती हैं—वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और संवाद (Synthesis)। उदाहरणार्थ, विचार-जगत मे सत्य की खोज इस प्रक्रिया द्वारा इस प्रकार होती है। मान लीजिये आरम्भ में जीवन-व्यतीत करने के कोई नियम नही थे। ऐसी दशा में मनुष्य ने यह अनुभव किया कि जीवन व्यतीत करने के लिये नियम होना चाहिये। इस अनुभूति के साथ अनेक नियम बने जैसे सत्य बोलो, दूसरों पर दया करो आदि। जीवन-यापन के लिये नियम होना चाहिये यह वाद हुआ। परन्तु आगे चलकर इन नियमों की अपूर्णता मालूम होने लगी और नियमों मे पारस्परिक विरोध दिखाई देने लगा। जैसे कोई कसाई एक गाय को मारना चाहता है। गाय भागती है और कसाई उसका पीछा करता है। गाय उसकी आँखों से ओझल हो गई है और वह मुझसे पूछता है कि गाय कहाँ गई। अब मेरे सामने सत्य बोलो और दया करो ये दो नियम है। यदि मैं सत्य बोलता हूँ तो गाय की हत्या होती है और दया करने के नियम का उल्लंघन होता है और यदि गाय पर दया करने के लिये मैं सत्य बात नहीं बताता तो पहले नियम का उल्लंघन होता है। ऐसी स्थिति मे लोगों मे यह भावना होने लगती है कि नियम आदि व्यर्थ है, जैसा उचित मालूम

ही वैसा करना चाहिये। यह दशा पहली दिशा की ठीक उल्टी है। अतः यह प्रतिवाद हुआ। परन्तु नियमहीन अवस्था बड़ी भयंकर होती है। इसमें दुष्टों को मनमानी करने का मौक़ा मिलता है। ऐसी स्थिति में प्रतिवाद की आलोचना होने लगती है और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगती है। लोग सोचते हैं कि नियम अवश्य होने चाहिये परन्तु नियमों का अक्षरशः पालन करने की जगह उनकी भावना की रक्षा करनी चाहिये। यह संवाद हुआ। यह संवाद प्रतिवाद का उल्टा है और ऐसा मालूम होता है कि हम फिर वाद पर पहुंच गये। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इसमें वाद और प्रतिवाद दोनों का सामंजस्य हो गया है और यह उन दोनों से उच्च सत्य है। इसमें नियमों की आवश्यकता (वाद) और इसके साथ ही विवेक (प्रतिवाद) दोनों विद्यमान् हैं। इस तरह सत्य की खोज में हम आगे बढ़ते हैं। इस खोज में हम चक्कर काट कर वहीं नहीं पहुँच जाते जहाँ से चले थे, वरन् वाद और प्रतिवाद में से होते हुए जब हम संवाद को प्राप्त होते हैं तो हम एक ऊँचे स्तर पर पहुंच जाते हैं। जो संवाद है वह फिर वाद बन जाता है, उसका प्रतिवाद होता है और फिर दोनों के सत्यांश को लेकर नया संवाद बनता है। इस प्रकार विकास क्रम चलता रहता है और उन्नति होती रहती है। यही प्रक्रिया दृश्य जगत में भी होती रहती है। उदाहरणार्थ हम बीज बोते हैं, पृथ्वी में बीज फूल कर एवं सड़ कर नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर पौधा बन जाता है। पौधा भी बढ़ कर सूख जाता है और उससे अनेक बीज प्राप्त होते हैं। इस प्रक्रिया में बीज वाद है, पौधा प्रतिवाद और अनेक बीज संवाद हैं।

हम अभी बतला चुके हैं कि जीवात्मा का विकास आन्तरिक और बाह्य दोनों जगत में होता है। बाह्य जगत में यहाँ आशय नियमों, संस्थाओं आदि से है। आत्मा इन नियमों एवं संस्थाओं में मूर्त रूप धारण करता है। इस आत्मा को हम इच्छा भी कह सकते हैं। यह स्वभाव से स्वतंत्र होती है अर्थात् स्वतंत्रता इसका स्वाभाविक गुण होता है। जब हम कहते हैं कि आत्मा नियमों और संस्थाओं में मूर्तिमान होता है तो इसका आशय यह भी है कि नियमों और संस्थाओं में स्वतंत्रता मूर्तिमान होती है अर्थात् उनके द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त होती है।

बाह्य जगत में विकास के अनेक स्तरों को पार करता हुआ आत्मा सामाजिक आचार (Social morality) की संस्थाओं में प्रकट होता है।

इन संस्थाओं में कुटुम्ब सर्वप्रथम है जिसका आधार पारस्परिक प्रेम तथा दूसरों के सुख के लिये आत्मबलिदान की भावना है। कुटुम्ब में सब सदस्यों में प्रेम एवं एकता की भावना होती है और उनके हितों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं होता। उसमें कुछ कमाते हैं, कुछ नहीं कमाते परन्तु सभी लोग परस्पर प्रेम से रहते हैं और सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

कुटुम्ब की वृद्धि के साथ समाज का प्रादुर्भाव होता है जो परिवार का प्रतिवाद है। कुटुम्ब में तो पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति आदि गुण काम करते है परन्तु समाज मे प्रतियोगिता एवं संघर्ष होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की बात सोचता है और इस प्रकार संघर्ष होता है। परिवार में तो अनेक व्यक्ति दूसरों पर निर्भर रहते हैं परन्तु समाज के संघर्ष में व्यक्तियों को आत्मनिर्भर रहना पड़ता है जिससे व्यक्ति उन्नति करता है।

संघर्ष से व्यक्ति उन्नति तो करता है परन्तु निरन्तर और असीमित संघर्ष व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधक बन जाता है। ऐसी अवस्था में इस बात की आवश्यकता होती है कि संघर्ष की मर्यादा स्थापित हो और पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति आदि का भी जो कुटुम्ब के आधार हैं जीवन-संग्राम में स्थान हो। इस आवश्यकता की अनुभूति के साथ राज्य का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब तथा समाज का संवाद है। राज्य व्यक्तियों को प्रतियोगिता का अवसर देता है परन्तु इसके साथ ही प्रतियोगिता के दुष्परिणामों से निर्बल व्यक्तियों की रक्षा भी करता है। इस प्रकार राज्य में कुटुम्ब और समाज दोनों के गुणों का सामजस्य होता है। राज्य के रूप में आत्मा का बाह्य विकास चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इसी कारण हेगेल ने राज्य को अनेक विशेषणों से अलंकृत किया है। राज्य विश्वात्मा अर्थात ईश्वर का पार्थिव रूप है; वह पृथ्वी पर विद्यमान् ईश्वरीय विचार है; संसार के संगठन में व्यक्त ईश्वरीय इच्छा है; वह पूर्ण बौद्धिकता की अभिव्यक्ति है आदि।

इस प्रकार आत्मा जिन संस्थाओं के रूप में प्रकट होता है उनमें राज्य का स्थान सर्वोच्च है; उसके ऊपर कोई संस्था नहीं हो सकती। वह अन्य सभी संस्थाओं का नियामक और रक्षक है। समस्त नैतिकता, कानून आदि उसी के अन्तर्गत हैं। उसके ऊपर किसी क़ानून अथवा नैतिकता का नियमन नहीं हो सकता। वह स्वतंत्र है और स्वयं अपना नियामक है। वह दूसरों के लिये नैतिकता के मानदण्ड स्थिर करता है; स्वयं उसके

कार्य उन मानदण्डों से नापे नहीं जा सकते। उसकी नैतिकता का स्वयं अपना मानदण्ड है।

राज्य पूर्ण विकसित सामाजिक आचार का मूर्तिमान् रूप है। उसका अपना व्यक्तित्व है। उसकी अपनी इच्छा है और उसमें रहने वाले व्यक्तियों से भिन्न उसका अपना अस्तित्व है। अतः वह स्वयं साध्य है और इसी कारण उसके अपने अधिकार हैं, कोई कर्तव्य नहीं। यदि व्यक्तियों के तथा उसके अधिकारों में संघर्ष हो तो वह व्यक्तियों के अधिकारों का अतिक्रमण कर सकता है। वास्तव में ऐसा संघर्ष हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति के वे ही अधिकार हो सकते हैं जो राज्य उसे प्रदान करता है।

जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं आत्मा का दूसरा नाम इच्छा भी है जो स्वतंत्र है। अतः राज्य मूर्तिमान् स्वतन्त्रता है। मनुष्य राज्य के अन्दर रह कर और उसके आदेशों का पालन करके ही स्वतंत्रता प्राप्त करता है। उसकी इच्छा सामान्य इच्छा है जो विवेकपूर्ण है और कभी भ्रान्त नहीं हो सकती। उसकी इच्छा प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, जहाँ तक व्यक्ति की इच्छा दूसरों की इच्छा के अनुरूप है और सब के हित की इच्छा करती है। इसी कारण उसकी इच्छा का अर्थात उसके आदेशों (कानूनों) का पालन करना व्यक्ति का कर्तव्य है। उसका विरोध कभी उचित नहीं हो सकता। वह हमारी परम श्रद्धा का पात्र है।

सामान्य इच्छा के इन गुणों से राज्य की प्रकृति तथा उसके कार्यों के सम्बन्ध में तीन परिणाम निकलते हैं—

(१) राज्य कभी अप्रातिनिधिक रूप में कार्य नहीं कर सकता। राज्य जो कुछ भी करता है, वह सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है और इस प्रकार वह प्रत्येक व्यक्ति की असली इच्छा के अनुकूल है; यहाँ तक कि जब चोर कारागार की ओर ले जाया जाता है तो राज्य का यह कार्य उसकी असली इच्छा के अनुसार ही होता है। वह जेल जाने से अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। स्वतन्त्रता राज्य के नियमों का पालन करने में है। स्वतन्त्रता और क़ानून एकरूप हैं। इस प्रकार हेगेल के सिद्धान्त के एक महत्वपूर्ण तत्व पर प्रकाश पड़ता है। हेगेल के अनुसार "मानव-हृदय में स्वतन्त्रता की जो सर्वोत्कृष्ट कल्पना है उसी का साकार रूप राज्य है।" राज्य के बिना स्वतन्त्रता की भावना कभी सिद्ध नहीं होगी। हेगेल का तर्क इस प्रकार है:—स्वतन्त्रता विवेक के आदेश का पालन करने में है।

परन्तु एक व्यक्ति का विवेक सदा विश्वसनीय नहीं होता। कभी-कभी वह तात्कालिक और अस्थायी कारणों से प्रभावित हो जाता है और किसी विशिष्ट हित की ओर झुका रहता है। राज्य के कानूनों द्वारा जो विवेक व्यक्त होता है उसमें ये दोष नहीं होते। वह सार्वभौम होता है, विशिष्ट नहीं। इस कारण सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के क़ानून का पालन करने में ही है। राज्य के सदस्य के रूप में व्यक्ति स्वतन्त्रता का भोग कल्पित प्राकृतिक अवस्था की अपेक्षा अधिक वास्तविक रूप में करता है।

(२) जो सम्बन्ध व्यक्ति को अपने साथी नागरिकों तथा राज्य के साथ बाँधते हैं, वे उसके आत्मा के अभिन्न अङ्ग हैं। उनके बिना वह जो कुछ है नहीं रह सकेगा। इस प्रकार यह उसके लिये असम्भव है कि वह ऐसे हित की इच्छा करे जो सामान्य हित के विरुद्ध हो या वह राज्य-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करे।

(३) राज्य में समस्त नागरिकों की सामाजिक नैतिकता का समावेश होता है। राज्य सामाजिक सदाचार का संरक्षक है। इसका यह आशय नहीं है कि वह नागरिकों के साथ व्यवहार में नैतिक नियमों द्वारा बँधा हुआ है। इससे उसकी सर्वशक्तिसम्पन्नता में कमी आजायगी। राज्य व्यक्तिगत सदाचार के नियमों से ऊपर है। श्रेष्ठ या निकृष्ट—इन नैतिक शब्दों का प्रयोग साधारण अर्थ में राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता। राज्य अपने ही सदाचार के आदर्श का पालन करता है।

गार्नर ने हेगेल के सिद्धान्त का संक्षेप में इस प्रकार विवेचन किया है। "हेगेल की दृष्टि में राज्य 'ईश्वरीय राज्य' है जो कोई गलती नहीं कर सकता जो सर्वशक्तिशाली है जो अभ्रान्त है और जो नागरिकों के अपने हित में प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है। अपनी श्रेष्ठता के कारण और जिस त्याग तथा बलिदान के लिये वह अपने नागरिकों को आदेश देता है, उसके कारण वह व्यक्ति का उत्थान करता है और उसे श्रेष्ठत्व प्रदान करता है। व्यक्ति की प्रवृत्ति स्वार्थमयी है परन्तु इस प्रकार वह उसे 'सार्वभौमिक पदार्थ के जीवन में वापस खींच ले जाता है'।"

आदर्शवादी सिद्धान्त के इस उग्र रूप का स्रोत अफलातून तथा अरस्तू के इस मत में है कि राज्य स्वाश्रयी संस्था है। यदि राज्य स्वयं स्वा-

श्यों है तो वह अपने नागरिकों के लिये समस्त मानव-समाज के बराबर हो जाता है। इस मत का प्राकृतिक परिणाम व्यक्ति के नागरिक के रूप में राज्य से सम्बन्ध तथा व्यक्ति के रूप में समस्त मानव-समाज से सम्बन्ध, इन दोनों विभिन्न सम्बन्धों को बराबर एकरूप कर देता है। व्यक्ति की समस्त आकांक्षाओं तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राज्य पर्याप्त माना जाता है। राज्य की सहायता के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है जिसकी व्यक्ति आकांक्षा कर सकता है। इस स्थिति से निरंकुशता के सिद्धान्त को पहुँच जाना सरल है। चूँकि राज्य व्यक्ति की समस्त सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देता है इसलिये वह निरपेक्ष सत्ता के साथ नागरिकों की पूर्ण भक्ति की माँग कर सकता है। राज्य सैद्धान्तिक रूप से नागरिक पर सदैव अपनी पूर्ण सत्ता का प्रयोग कर सकता है।

हेगेल की दृष्टि में इस स्थिति से व्यक्ति की जितनी हानि है उससे कहीं अधिक लाभ है क्योंकि उसे केवल राज्य में ही संपूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, उसी में वह नैतिकता प्राप्त करता है और अपने अधिकारों की प्राप्ति करता है।

मर्यादित आदर्शवाद—टॉमस हिल ग्रीन—

जिस प्रकार उग्र आदर्शवाद का लाक्षणिक रूप हमें हेगेल के विचारों में मिलता है उसी प्रकार मर्यादित आदर्शवाद का लाक्षणिक रूप हमें अंग्रेज दार्शनिक ग्रीन के विचारों में प्राप्त होता है। ग्रीन पर काण्ट तथा हेगेल के दर्शन का बड़ा प्रभाव था। उसने उनके सिद्धान्त को ग्रहण कर इङ्गलैंड की परिस्थिति के अनुकूल बनाने के लिये उसमें कुछ परिवर्तन कर उसे मर्यादित रूप दे दिया। आदर्शवाद का मौलिक स्रोत यूनानी दार्शनिकों के सिद्धान्तों में है। जैसे उग्र आदर्शवाद का स्रोत अफलातून तथा अरस्तू के इस मत में है कि राज्य ही एक स्वाश्रयी संस्था है, वैसे ही मर्यादित आदर्शवाद का स्रोत उनके इस मत में है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जिससे राज्य एक सामाजिक एवं आवश्यक संस्था बन जाता है।

ग्रीन के सिद्धान्त को बार्कर ने तीन सूत्रों में व्यक्त किया है—'मानव-चेतना स्वतन्त्रता की इच्छा करती है; स्वतन्त्रता के लिये अधिकार आवश्यक हैं; और अधिकारों की प्राप्ति के लिये राज्य की आवश्यकता है।'* हम इन तीनों सूत्रों की व्याख्या के द्वारा ग्रीन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करेंगे।

* Barker Political thought in England, p. 23. ग्रीन के सिद्धान्त का वर्णन हमने मोटा तौर से बार्कर के आधार पर दिया है।

मानव-चेतना स्वतन्त्रता की इच्छा करती है—

मानव का चरम लक्ष्य परमात्मा में आत्मप्राप्ति करना है। जब मनुष्य आत्म-चिंतन होने है अर्थात् अपनी आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करते हैं तो वे परमात्मा-चेतना की अवस्था में प्रवेश करते हैं और इस अवस्था में उनको यह बोध होता है कि हम सब समान स्वभाव वाले हैं, हमारी सबकी समान सदिच्छा है और सबका एक ही लक्ष्य है— परमात्मा में आत्मप्राप्ति। इस प्रकार मानव-चेतना अर्थात् आत्मा को सामाजिक कल्याण का ज्ञान होता है जो स्वयं उसका भी कल्याण है। जब वह इस सामाजिक कल्याण की पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो उसकी भी आत्मप्राप्ति हो जाती है। इस आत्मप्राप्ति के निमित्त मानव-चेतना स्वतन्त्रता चाहती है।

स्वतन्त्रता का अर्थ—

स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है—(अ) आन्तरिक स्वतन्त्रता जिसका अर्थ है अपनी मनोवृत्तियों को वश में रखना। यह आचार-शास्त्र का विषय है। (आ) बाह्य स्वतन्त्रता जिसका अर्थ है ऐसी बाह्य परिस्थितियों का होना जिसमें व्यक्ति निर्बाध रूप से अपने वास्तविक हित के काम कर सके। यह राज्यशास्त्र का विषय है।

ग्रीन के अनुसार बाह्य स्वतंत्रता का अर्थ केवल हस्तक्षेप का अभाव नहीं है। वह तो निषेधात्मक स्वतन्त्रता हुई। न उसका अर्थ मनमानी करने की छूट ही है। वह स्वतन्त्रता नहीं उच्छृंखलता है। वास्तविक स्वतंत्रता निषेधात्मक स्वतन्त्रता की उल्टी है। उसके दो लक्षण हैं—(१) वह यथार्थ अथवा विध्यात्मक होती है। वह हस्तक्षेप का अभावमात्र नहीं है; उसका सच्चा अर्थ है इच्छित कार्यों को करने की सुविधा। (२) वह चाहे जो कुछ कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है वरन् कुछ निश्चित प्रकार के कार्य अर्थात् उचित कार्यों को, ऐसे कार्यों को जो हमें आत्मप्राप्ति में सहायक हों, करने की स्वतन्त्रता है। ऐसे कार्य करने की एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दूसरे किसी व्यक्ति की ऐसी ही स्वतन्त्रता से कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि सबका लक्ष्य एक ही है। अतः यह स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर कार्य करने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार ग्रीन के अनुसार 'स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर करने योग्य कामों को करने की निरन्तर शक्ति है।' इस प्रकार वह असीमित नहीं होती क्योंकि वह केवल करने योग्य कामों को करने की अर्थात उन कामों को करने की जिनसे हमार

विवेकपूर्ण सद् इच्छा निर्देश करती है, स्वतन्त्रता है। इस प्रकार वह सीमित है।

स्वतन्त्रता में अधिकार समाविष्ट है—

प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त उचित कार्य करने की सत्ता अर्थात् स्वतन्त्रता चाहता है और इसके लिये कुछ परिस्थितियाँ चाहता है। इन परिस्थितियों और सुविधाओं के द्वारा ही व्यक्ति आत्मप्राप्ति कर सकता है। ये परिस्थितियाँ एवं सुविधाएँ अधिकार हैं। इन अधिकारों की सृष्टि कैसे होती है? (१) व्यक्ति एक नैतिक प्राणी की हैसियत से एक नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सुविधाओं की मांग करता है। व्यक्ति केवल अपने ही लिये इन सुविधाओं की मांग नहीं करता। विवेकपूर्ण होने के कारण वह यह भी स्वीकार करता है कि जैसे मुझे इन सुविधाओं की आवश्यकता है वैसे ही अन्य लोगों को भी उनकी आवश्यकता है और उन्हें भी वे प्राप्त होनी चाहिये। (२) जब समाज इन मांगों को स्वीकार कर लेता है तो वे अधिकार का रूप धारण कर लेती हैं। यह स्वीकृति इस कारण प्राप्त हो जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति को उनकी आवश्यकता है। इस प्रकार अधिकार एक नैतिक व्यक्ति की समाज द्वारा स्वीकृत मांग है। इसका निर्माण दो तत्वों से मिलकर होता है—(१) व्यक्ति की मांग और (२) समाज की स्वीकृति। इनमें से किसी भी तत्व के न होने से अधिकार नहीं बनता। बिना समाज की स्वीकृति के व्यक्ति की मांग अधिकार नहीं बन सकती। यदि मैं यह मांग करूँ कि मैं अपने परिवारवालों के साथ मनमाना व्यवहार कर सकूँ तो समाज द्वारा स्वीकृत न होने के कारण यह मेरा अधिकार नहीं हो सकता। इसी प्रकार समाज मानता है कि पशुओं के साथ दया का व्यवहार होना चाहिये परन्तु पशुओं में ऐसी मांग करने की योग्यता नहीं होती और वे कोई मांग नहीं कर सकते। अतः उनको दयापूर्ण व्यवहार पाने का कोई अधिकार नहीं होता।

जब ग्रीन समाज की स्वीकृति की चर्चा करता है तो उसका अर्थ समाज की नैतिक चेतना की स्वीकृति होता है, राज्य या कानून की स्वीकृति नहीं। ऐसे अधिकार जिन्हें समाज की नैतिक चेतना स्वीकार करती है परन्तु जिन्हें राज्य की स्वीकृति प्राप्त न हुई हो, प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं। वे प्राकृतिक इस अर्थ में नहीं है कि वे मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त थे जैसा समझौते के सिद्धान्त के प्रतिपादकों

का मत है। ये प्राकृतिक इस अर्थ में है कि उनके बिना मनुष्य की पूर्ण उन्नति अर्थात् आत्मप्राप्ति जो उसकी नैतिक प्रकृति की अनिवार्य मांग है, संभव नहीं है। ये अधिकार नैतिक हैं क्योंकि इनकी आवश्यकता नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये है। जब इन अधिकारों को राज्य की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उन्हें कानून का संरक्षण प्राप्त हो जाता है तो ये कानूनी अधिकार बन जाते हैं। उदाहरणार्थ, हमारा समाज यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन के लिये काम प्राप्त होना चाहिये, परन्तु जब तक राज्य इस माग को स्वीकार नहीं कर लेता तब तक वह हमारा प्राकृतिक अथवा नैतिक अधिकार ही रहेगा, कानूनी अधिकार नहीं बन सकता।

अधिकारों की प्राप्ति के लिये राज्य की आवश्यकता है—

व्यक्ति की मांग समाज द्वारा स्वीकार हो जाने पर अधिकार बन जाता है परन्तु अधिकारों का उपभोग तभी हो सकता है जब राज्य उनकी रक्षा करे और उनका उल्लंघन करने वालों को दण्ड दे। यह प्रश्न हो सकता है कि जब सभी लोग नैतिक हैं और अधिकारों की आवश्यकता समझते हैं तो फिर उन्हें राज्य की रक्षा की क्या आवश्यकता? यह ठीक है परन्तु व्यक्ति ऐसा तभी सोचते हैं जब वे अपनी वास्तविक अर्थात् सदिच्छा के प्रभाव में रहते हैं। व्यक्ति प्रायः अपनी अविवेकपूर्ण तात्कालिक इच्छा के प्रभाव में अर्थात् क्रोध, स्वार्थ आदि दुर्गुणों के प्रभाव में काम करते हैं और उचित अनुचित का ध्यान न रखते हुए दूसरों का अहित करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में इस बात की आवश्यकता होती है कि कोई ऐसी निष्पक्ष संस्था हो जो सब के अधिकारों की रक्षा करे। वह संस्था राज्य है। राज्य सब के लिये निष्पक्षता के साथ समान अधिकारों की व्यवस्था करके और उन पर अमल करवाकर व्यक्तियों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता करता है। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति होती है और वह एक प्राकृतिक एवं नैतिक संस्था है।

राज्य का आधार इच्छा है, बल नहीं—

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि राज्य का आधार बल नहीं, इच्छा है। राज्य की उत्पत्ति मानव-चेतना की स्वातन्त्र्य-इच्छा के कारण हुई है। स्वतन्त्रता अधिकारों की प्राप्ति से ही सार्थक होती है और अधिकारों की रक्षा के लिये राज्य की आवश्यकता होती है। जो

इच्छा स्वतन्त्रता चाहती है, वही अधिकारों की सृष्टि करती है और उनकी रक्षा के लिये वही राज्य को जन्म देती है।

परन्तु अधिकारों को कार्यान्वित करने के लिये राज्य बल का प्रयोग करता है। अधिकारों के उपभोग से ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य मनुष्य को स्वतन्त्र बनाने के लिये उसके विरुद्ध बल का प्रयोग करता है अर्थात् मनुष्य बलपूर्वक स्वतन्त्र बनाया जाता है। यह तो विरोधोक्ति हुई।

इसको समझने के लिये हमें दो प्रश्नों पर विचार करना चाहिये—(१) बल प्रयोग कौन करता है? (२) उसके इस कार्य का समाज के सदस्यों की सक्रिय इच्छा कहाँ तक समर्थन करती है?

(१) बल-प्रयोग करने वाला राज्य है जो समाज के सदस्यों की सदिच्छा अर्थात् सामान्य इच्छा (General will) का प्रतिनिधि है। यह सामान्य इच्छा सामान्य कल्याण की सामान्य चेतना है जिससे समाज बनता है, अधिकारों की सृष्टि होती है और राज्य की स्थापना करती है। यही सामान्य इच्छा राज्य में सर्वोच्च सत्ता अर्थात् प्रभुत्व-सत्ता होती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह ठीक है परन्तु यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखने पर तो यह मालूम होता है कि राज्य में प्रभुत्व सत्ता किसी एक व्यक्ति या संस्था के हाथ में होती है और उसी के द्वारा बल प्रयोग होता है। परन्तु वह व्यक्तिविशेष (या संस्थाविशेष) तभी तक बल का प्रयोग कर सकता है जब तक उसे सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त हो और वह उसका प्रतिनिधि स्वीकार किया जाता हो। ऐसा न होने पर उसका प्रभुत्व शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार बल-प्रयोग वास्तव में सामान्य इच्छा द्वारा ही होता है।

(२) किन्तु हम देखते हैं कि राज्य के अधिकांश लोगों में सामान्य इच्छा सचेतन रूप में नहीं होती, फिर हम यह कैसे मान लें कि प्रभुत्व-सत्ता को सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त है! ग्रीन का कथन है कि यह सत्य है कि अधिकांश लोगों में सामान्य इच्छा सचेतन रूप में नहीं होती, फिर भी लोग इतना तो समझते ही हैं कि अधिकारों की व्यवस्था करने और उन्हें कार्यान्वित करके राज्य ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिनमें व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। लोग राज्य के कानूनों का भय से पालन नहीं करते। वे इस कारण करते हैं कि वे यह जानते हैं कि राज्य के कामों के लेने-जोने का परिणाम राज्य के पक्ष में ही है।

फिर हम यह भी नहीं कह सकते कि लोगों में साधारणतया सामान्य इच्छा जागृत रूप में नहीं होती, क्योंकि हम दैनिक जीवन में अपने बहुत से नैतिक कर्तव्य अपनी इच्छा से ही, बिना राज्य के भय के ही करते रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि हमें सामान्य कल्याण का ज्ञान है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या वर्तमान राज्य और उसकी संस्थाएँ जो व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने को विवश करती हैं सामान्य इच्छा की कल्पना पर आधारित हैं? इसका उत्तर स्पष्ट है—नहीं; उनका निर्माण हिंसा तथा विजय द्वारा हुआ है और उनकी अनेक संस्थाओं में सार्वजनिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत हित का अधिक महत्व है, उदाहरणार्थ सम्पत्ति सम्बन्धी कानूनों में केवल धनियों के हित का ही ध्यान रखा गया है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जिन लोगों ने विजय द्वारा राज्य की स्थापना की है और जिन लोगों ने विजेता के शासन को स्वीकार करके राज्य के निर्माण में सहायता दी है उन सबके मन्तव्यों में किसी न किसी रूप में सामान्य कल्याण की भावना रही है और अब भी बनी हुई है तथा उसे सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त है। राज्य चाहे, जैसा हो, लोगों में किसी अंश तक यह भावना अवश्य रहती है कि राज्य की कार्यप्रणाली उसकी औचित्य-बुद्धि के अनुकूल है। हम देखते हैं कि जब कोई किसी के साथ अन्याय करता है तो वह मनुष्य अन्यायी के विरुद्ध न्यायालय में शिकायत करता है। इसका अर्थ यही है कि उसे यह विश्वास है कि न्यायालय वही करेगा जो उसे उचित मालूम होता है। इस प्रकार लोग राज्य की कार्यप्रणाली को किसी अंश तक अपनी औचित्य बुद्धि के अनुकूल ही मानते हैं। जनता जिस राज्य को न चाहे वह राज्य टिक नहीं सकता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य का आधार बल नहीं, इच्छा है।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि राज्य बल-प्रयोग नहीं करता। राज्य बल प्रयोग करता है परन्तु एक निश्चित ढंग से अर्थात् कानून के अनुसार और एक निश्चित उद्देश्य से अर्थात् कानूनी संस्थाओं की रक्षा तथा सामाजिक कर्तव्यों के निर्वाह के लिये जो सामाजिक जीवन की आवश्यक शर्तें हैं।

राज्य सर्वशक्तिमान् एवं निरंकुश नहीं है—

इस प्रकार ग्रीन के मत में राज्य एक प्राकृतिक, नैतिक एवं आवश्यक संस्था है जिसके द्वारा व्यक्ति को अपने नैतिक व्यक्तित्व के विकास को

समस्त सुविधाएँ मिलती हैं। उसका आधार सामान्य इच्छा है और उसके क़ानून सामान्य इच्छा की ही अभिव्यक्तियाँ हैं जिनका पालन करना व्यक्ति का कर्तव्य है। व्यक्ति के जीवन में राज्य का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह व्यक्ति का सबसे बड़ा मित्र एवं सहायक है। उसके लक्ष्य और राज्य के लक्ष्य में कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है।

इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि राज्य सर्वशक्तिमान् एवं निरंकुश है और उससे कोई गलती नहीं हो सकती। हेगेल ने तो राज्य को इन गुणों से विभूषित किया है परन्तु ग्रीन इस स्थिति को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार राज्य न तो सर्वशक्तिमान् है और न निरंकुश ही। वह अन्दर और बाहर दोनों ओर से मर्यादित है।

आन्तरिक मर्यादाएँ—(१) राज्य की सबसे बड़ी मर्यादा तो उसकी मूल प्रकृति में ही है। वह एक नैतिक संस्था है और उसका कार्य व्यक्ति को उसके नैतिक विकास में सहायता देना है। नैतिकता का सम्बन्ध मन से है और इस प्रकार वह आन्तरिक वस्तु है। नैतिक काम वही होता है जिसे व्यक्ति अपनी नैतिक बुद्धि से, उचितानुचित की भावना से, करे। ऐसे काम ज़बरदस्ती नहीं कराये जा सकते। किन्तु राज्य बल-प्रयोग द्वारा ही कार्य करा सकता है। अतः वह मनुष्य से नैतिक काम नहीं करा सकता। वह तो केवल इतना ही कर सकता है कि नैतिक जीवन के मार्ग में जितनी बाधाएँ हों उनका निराकरण करदे। उसका काम 'नैतिक जीवन की बाधाओं को दूर करना' है। वह स्वयं अपनी ओर से व्यक्ति को नैतिक बनाने का प्रयत्न नहीं कर सकता। इस प्रकार राज्य के कार्य सीमित हैं।

(२) हम अभी देखेंगे कि ग्रीन कुछ विशेष परिस्थिति में व्यक्ति का राज्य का विरोध करने का अधिकार भी स्वीकार करता है।

(३) राज्य की सत्ता समाज के अन्तर्गत परिवार, चर्च आदि जो स्थायी प्राकृतिक समुदाय हैं उनके अधिकारों से भी मर्यादित है। वह समुदायों का समुदाय है। समाज के अन्दर ऐसे समुदाय राज्य के उदय के पहले से ही विद्यमान रहते हैं जिनकी सामाजिक प्रकृति से उत्पन्न एक आन्तरिक अधिकार और कर्तव्य-व्यवस्था होती है, जिस प्रकार राज्य की अपनी अधिकार तथा कर्तव्य व्यवस्था होती है। इन समुदायों की राज्य सृष्टि नहीं करता। वे और उनकी अधिकार एवं कर्तव्य व्यवस्था पहले से ही विद्यमान हैं। परिवार के साथ जितने ही अधिकार और कर्तव्य जुड़े हुए हैं जैसे पिता का पुत्र पर अधिकार और उसके प्रति कर्तव्य, पति का

पेक्ष नहीं मानता और राज्य को साध्य मानकर व्यक्ति को उसके पूर्णतया अधीन नहीं बनाता। ग्रीन के सिद्धान्त में राज्य का स्थान ऊँचा बने रहने पर भी व्यक्ति का स्थान प्रमुख है और इसी कारण वह राज्य के कार्यों पर मर्यादाएँ आरोपित करता है। ग्रीन यदि कल्पना-जगत में उड़ान मारने वाला आदर्शवादी है तो इसके साथ ही वह गंभीर यथार्थवादी भी है। आदर्शवाद के विचार-जगत में विचरण करता हुआ भी वह जीवन के ठोस सत्य से अपना सम्पर्क कायम रखता है और ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जिसका उपयोग वास्तविक जगत में हो सकता है।

आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचना—

इस सिद्धान्त को, विशेषकर इसके उग्र रूप को, अनेक दृष्टिकोणों से बड़ी तीव्र आलोचना की गई है। कुछ लोग उसे गलत तथा खतरनाक कह कर उसकी निन्दा करते हैं। दूसरे उसे भावात्मक तथा एकांगी बतलाते हैं। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वह जीवन के अनेक ठोस तथ्यों की उपेक्षा करता है। जोड के विचार में यह सिद्धान्त, सिद्धान्त की दृष्टि से सही नहीं है, तथ्यों के प्रतिकूल है और इसमें वर्तमान राज्यों के परराष्ट्र-नीति के क्षेत्र में किये जाने वाले अविवेकपूर्ण कार्यों का समर्थन करने की प्रवृत्ति है। इसके विरुद्ध जो आक्षेप किये जाते हैं वे निम्नलिखित हैं।

(१) यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है—इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक प्रधान आक्षेप यह है कि वह वास्तविकता की उपेक्षा करता है। वह आदर्श के रूप में तथा एक वास्तविक संस्था के रूप में राज्य में भेद नहीं करता। राज्य की कल्पना इस सिद्धान्त द्वारा जिस रूप में की गई है, वह वास्तविक जीवन की परिस्थितियों से बहुत दूर है। ऐसे आदर्श-राज्य की स्थापना स्वर्ग में भले ही जा सके किन्तु भूतल पर उसकी कभी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसका यह विचार कि राज्य प्रत्येक नागरिक की नैतिक इच्छा की स्वतन्त्र अनुमति तथा सहयोग पर आधारित है, वास्तविक राज्यों के सम्बन्ध में लागू नहीं होता। यह आक्षेप सत्य है किन्तु अप्रासंगिक है क्योंकि हम पहले कह चुके हैं कि आदर्शवाद के अनुसार किसी संस्था की सच्ची प्रकृति का ज्ञान उससे सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों के पर्यवेक्षण द्वारा नहीं होता वरन् उन कल्पनाओं के भावात्मक विश्लेषण द्वारा होता है जो उसके मूल में काम करती हैं। किसी सिद्धान्त की परीक्षा उन आदर्शों के अनुसार नहीं करनी चाहिये जिनसे वह अलग रहता है।

(२) इसके साथ ही यह भी कहा जाता है कि वास्तव में आदर्शवादी

आदर्श राज्य का भी निर्माण नहीं करता; वह तो वर्तमान अपूर्ण राज्य को ही आदर्श राज्य बतला कर विद्यमान् वस्तुओं के दैवी अधिकार का प्रतिपादन करता है। समाज की वर्तमान संस्थाओं को ही आदर्श बतला कर वह समाज की अनुचित संस्थाओं का सुधार नहीं होने देता। उदाहरणार्थ, अरस्तू ने दास प्रथा को आदर्श-व्यवस्था बतलाया; हेगेल ने जर्मन एकतन्त्र को आदर्श-राज्य सिद्ध किया और युद्ध को राज्य का एक आदर्श कार्य माना, यहाँ तक कि उदारवादी ग्रीन तक ने पूँजी के व्यक्तिगत स्वाम्य को आदर्श स्वीकार किया। इन सब बातों को देखकर हॉब्सन ने आदर्शवाद को 'रूढ़िवाद का हथकण्डा' (Tactics of Conservatism) बतलाकर उसकी निन्दा की है।* इस प्रकार वर्तमान व्यवस्थाओं पर आदर्शवादी रंग चढ़ जाने का परिणाम यह होता है कि लोगों का ध्यान वर्तमान् व्यवस्था की त्रुटियों की ओर से हट जाता है और सुधार की प्रवृत्ति मन्द पड़ जाती है।

इसी सिलसिले में कुछ लोग एक अन्य दृष्टिकोण से कहते हैं कि आदर्शवादी विचारक समाज के मानव-अन्तरात्मा में स्थित आध्यात्मिक आधारों को इतना अधिक महत्व देता है, मनुष्य की विवेक-बुद्धि, स्वतन्त्र इच्छा, सामान्य इच्छा आदि की विवेचना में ही इतना व्यस्त रहता है कि समाज की भौतिक अवस्थाओं में सुधार करने की आवश्यकता की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। वह लोगों की नैतिक वृत्ति के सुधार में इतना अधिक दत्तचित्त रहता है कि उसे वर्तमान् संस्थाओं में कोई खराबी नहीं दिखाई देती। अरस्तू के समान वह भी सोचता है कि दोष 'निजी सम्पत्ति' से उत्पन्न नहीं होते वरन् मानव-प्रकृति की दुष्टता के कारण उत्पन्न होते हैं। इसी कारण वह मनुष्य की नैतिक इच्छा की स्वतन्त्रता को परम आवश्यकता के आधार पर स्थित होकर राज्य को, जिसे इन बुराइयों का निवारण करना चाहिये, केवल बाधाओं के निराकरण के निषेधात्मक काम से आगे नहीं बढ़ने देता।† इस प्रकार सुधार-विरोधी होने के कारण यह रूढ़िवाद का ही दूसरा रूप है। अन्य बातों में भी यह रूढ़िवाद का समर्थन करता है। यह भी रूढ़िवाद की तरह राज्य में अनुशासन तथा व्यवस्था पर ज़ोर देता है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी है, युद्ध एवं अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का समर्थक है और विश्वशान्ति का विरोधी है।

* Quoted in Barker : Political Thought in England, p. 67.

† Barker : Political Thought in England, p. 67.

उपर्युक्त आक्षेप हेगेल तथा उसके समर्थकों के विरुद्ध तो सत्य हो सकते हैं परन्तु, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, ग्रीन जैसे मर्यादित आदर्शवादी के सम्बन्ध में तो बिलकुल असत्य हैं। ग्रीन द्वारा प्रतिपादित राज्य के कार्यों का सिद्धान्त इतना लचीला है कि उत्तम जीवन के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को दूर करने की आवश्यकता के आधार पर राज्य क्रान्तिकारी सुधार तक कर सकता है। ग्रीन व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पुजारी है, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता एवं विश्व-बन्धुत्व का प्रबल समर्थक है और युद्ध का घोर विरोधी है।

(२) मेक्डूगल, ग्रेहम वालास आदि मनोविज्ञान-विशारद इस सिद्धान्त की अतिशय बुद्धिपरकता पर आक्षेप करते हैं। उनका कथन है कि आदर्शवादी लोग सचेतन इच्छा तथा विवेकयुक्त मन पर अत्यधिक जोर देते हैं। मनुष्य-जीवन में इच्छा तथा विवेक का एक क्षेत्र अवश्य है परन्तु उसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्र भी हैं जिनकी आदर्शवाद बिलकुल उपेक्षा करता है। यदि हम मनुष्य के व्यवहार को देखें तो हमें मालूम होगा कि वह बुद्धि द्वारा अधिक प्रेरित नहीं होता। उसके कार्यों में राग-द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि बुद्धि-विरोधी वृत्तियों का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। लोग साधारणतया अपने दैनिक जीवन में बुद्धि से काम न लेकर अपनी अन्तःप्रवृत्तियों से तथा अभ्यासवश अधिक काम करते हैं, दूसरों के सुझावों का उन पर अधिक प्रभाव पड़ता है और वे दूसरों की नकल करते हैं। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में बुद्धि की जगह अबौद्धिक तत्व अधिक प्रभावशाली होते हैं। ग्रेहम वालास ने निर्वाचनों में लोगों के मतदान का विश्लेषण करके बतलाया है और हम भी इस बात को जानते हैं कि अधिकांश लोग मत देते समय सिद्धान्तों अथवा उचित-अनुचित, योग्य-अयोग्य का बुद्धिपूर्वक विचार किये बिना मित्रता, जाति, द्वेष, दलीय हित आदि के आधार पर मत देते हैं। इस प्रकार समाज-मनोवैज्ञानिकों का आदर्शवाद के विरुद्ध यह आक्षेप है कि वह एकांगी और अपूर्ण है क्योंकि उसका आधार समस्त प्रकृति न होकर उसका केवल एक अंग—बुद्धिमात्र है।

मनोवैज्ञानिकों का यह तर्क बहुत कुछ अंश में सत्य है परन्तु उन्होंने आदर्शवाद को यथार्थ रीति से नहीं समझा। जब आदर्शवादी यह कहता है कि राज्य विवेक और तर्कपूर्ण इच्छा की उत्पत्ति है तो उसका यह आशय नहीं होता कि राजनीतिक संस्थाओं का सावधानी पूर्वक सोच-विचार कर निर्माण किया गया है। उसका आशय इतना ही होता

है कि यदि हम युग-युगों के विकास को देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इस विकास-प्रक्रिया में मनुष्य का विवेक सदा सक्रिय रहा है, चाहे वह अप्रत्यक्ष रूप में ही रहा हो। 'यदि विवेक सक्रिय न रहा होता तो विकास का आज तक का परिणाम जैसा है उससे भिन्न हुआ होता और हमें एक तर्कसंगत बुद्धिगम्य संगठित जीवन के स्थान पर स्वाभाविक प्रवृत्तियों, आदतों तथा निषेधों का एक गोरखधन्धा दिखाई देता जिसका न कोई अर्थ होता, न कोई सम्बन्ध होता और न कोई कारण ही होता।'

आदर्शवादी यह दावा भी नहीं करता कि राजनीतिक क्षेत्र में एक साधारण नागरिक सभी काम सक्रिय विवेक द्वारा करता है। उसके बहुत से काम आदत या अनुकरण के कारण हो सकते हैं। जब वह कहता है कि उसके काम बुद्धियुक्त हैं तो उसका केवल इतना ही आशय होता कि उनकी युक्तियुक्त व्याख्या हो सकती है। उसकी इच्छा यह है कि अभ्यास, अनुकरण आदि अबौद्धिक प्रवृत्तियाँ को बुद्धि का सहायक होना चाहिये, उसका स्वामी नहीं। मनुष्य की बुद्धि को अस्वीकार करके उसे उसकी प्रकृति के अबौद्धिक तत्वों का दास मान लेना उसको गिराकर पशुओं की कोटि में ला देना है।

(४) **राज्य का व्यक्तित्व**—यह सिद्धान्त राज्य को एक वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान करता है जिसमें उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व का समावेश होता है जो उसके सदस्य हैं। यह व्यक्तित्व उस क़ानूनी या काल्पनिक व्यक्तित्व से भिन्न है जिसका प्रतिपादन क़ानूनी सिद्धान्त करता है। यह सजीव व्यक्तित्व है। हेगेल के अनुसार राज्य सजीव व्यक्ति है। उसकी एकता आत्मचेतना की एकता है। राज्य के वास्तविक व्यक्तित्व के सिद्धान्त को ड्यूगी तथा मैकआइवर जैसे लेखकों ने विचित्र तथा असंगत मानकर अस्वीकार कर दिया है। मैकआइवर का मत है कि राज्य की एकता उसके सदस्यों की एकता के समान नहीं हो सकती। व्यक्तियों का एक समूह एक व्यक्ति उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार कि एक अश्व-समूह एक अश्व नहीं हो सकता या विद्यार्थियों का एक समूह विद्यार्थी नहीं हो सकता। मैकआइवर का यह मत तर्कपूर्ण प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार एक समिति में एक मन का दूसरे मन से सम्पर्क होने पर एक सामान्य मन या इच्छा का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी प्रकार समाज में सामान्य इच्छा या चेतना हो सकती है जिसे हम राष्ट्रीय इच्छा या चेतना कहते हैं जो विविध व्यक्तियों की इच्छाओं से भिन्न होती है। किन्तु यदि

हम इस दावे को स्वीकार भी कर लें और राज्य के व्यक्तित्व में विश्वास भी करें तो भी हम उन सब बातों को स्वीकार नहीं कर सकते जो उग्र आदर्शवादी कहते हैं। राज्य को कोई अति-मानव नहीं माना जा सकता जिसमे अपने सदस्यों का समावेश हो। जो राज्य के इस अति व्यक्तित्व में विश्वास करते हैं, वे यह नहीं बतलाते कि यह किस प्रकार अपने नागरिकों के व्यक्तित्व का अपने में समावेश कर सकता है। यह समझना सरल नहीं है कि एक व्यक्तित्व मे किस प्रकार दूसरे व्यक्तित्व का समावेश हो जाता है।

राज्य को एक सजीव व्यक्तित्व मान लेने से जो परिणाम निकलते हैं वे अत्यन्त खतरनाक हैं। उसका राज्य की सर्वशक्तिसम्पन्नता तथा निरंकुशता का प्रचार करने मे प्रयोग किया जाता है। इससे व्यक्ति राज्य की पूर्ण अधीनता मे आ जाता है और अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। वह व्यक्ति को क्रान्ति का अधिकार नहीं देता, यहाँ तक कि वह राज्य के किसी कार्य के औचित्य में सन्देह करने का अधिकार भी नहीं देता। राज्य की दैवी प्रकृति और उसकी अभ्रान्तता के कारण व्यक्ति राज्य के अनुचित कार्यों की भी आलोचना करने से वञ्चित कर दिया जाता है। इन समस्त बातों मे इस सिद्धान्त का हम समर्थन नहीं कर सकते। यह उल्लेख करना उचित न होगा कि ये विचार समस्त आदर्शवादियों के नहीं हैं। वे हेगेल तथा उसके जर्मन अनुयायी बर्नहार्डी और ट्रिटश्के के विचार हैं। यह आलोचना गम्भीर तथा मर्यादित आदर्शवादी ग्रीन आदि के सम्बन्ध मे उपयुक्त नहीं है।

(५) राज्य और समाज—आदर्शवादी सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि यह आज के सामाजिक जीवन के समस्त तथ्यों पर विचार नहीं करता। राज्य तथा समाज की एकरूपता, जिसको मानकर यह सिद्धान्त चलता है, सही नहीं है। यदि हम एक बार राज्य तथा समाज मे भेद करें और हम यह अनुभव करें कि सामाजिक जीवन में ऐच्छिक संस्थाओं का क्या महत्व है तो हम राज्य को उस उच्चासन पर आसीन नहीं कर सकते जिस पर हेगेल ने उसे बिठला दिया है। राज्य तथा समाज में भेद न करना इस सिद्धान्त का एक बड़ा भारी दोष है। यह आलोचना भी आदर्शात्मक सिद्धान्त के उग्र रूप के सम्बन्ध में ही सत्य है। यह उसके मर्यादित रूप के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकती।

बोसान्के का यह विचार कि राज्य सदाचार के सिद्धान्तों से ऊपर है

और अपने सदस्यों तथा दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करने में वह इन नियमों का पालन करने के लिये बाध्य नहीं है सर्वथा गलत है। यह समझ में नहीं आता कि एक राज्य दूसरे राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों में नैतिक नियमों का पालन क्यों न करें और उसके राज्य के अन्दर के कामों के सम्बन्ध में भी नागरिक की नैतिक स्वीकृति या अस्वीकृति उसके लिये आवश्यक क्यों नहीं है।

(६) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का निषेध— इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक दूसरा आक्षेप यह भी किया जाता है कि यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और कानून के पालन को एक ही वस्तु मानकर वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सार एवं महत्व को कम कर देता है। उसकी मान्यता है कि सच्ची स्वतंत्रता विवेकपूर्ण कार्य करने की स्वतन्त्रता है, वह विवेकपूर्ण आत्म-संयम है। परन्तु यदि व्यक्ति में ये गुण नहीं है तो इस कमी की पूर्ति समाज को करनी पड़ती है, वह अपने कानूनों के द्वारा अपने सदस्यों को स्वतंत्रता प्रदान करता है। इस प्रकार कानून का पालन करना ही स्वतन्त्रता का उपभोग करना हो जाता है। इस प्रकार एक मूर्ख को उस समय भी स्वतन्त्र कहा जा सकता है जबकि उसे उससे अधिक बुद्धिमान् समाज ने कैद कर रखा है। समाज उसे स्वतन्त्र बनाने के लिये उसके साथ बलात्कार कर सकता है। यह बात चाहे कितनी ही सत्य हो कि स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों द्वारा सब पर समान रूप से प्रतिबन्ध लगाने से ही सम्भव होती है किन्तु यह मानना पड़ेगा कि आदर्शवादी सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता और नैतिक स्वतन्त्रता को एक समझ कर तथा व्यक्ति के वैयक्तिक विवेक और समाज के अवैयक्तिक विवेक के भेद की उपेक्षा करके बड़ी भूल करता है। एक व्यक्ति उसी समय स्वतन्त्र कहा जा सकता है जब कि वह उस काम को कर सके जिसे वह उचित समझता है, जब कि वह दूसरों को इसी प्रकार की स्वतन्त्रता से वंचित न करता हुआ अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। जब उसे उन कार्यों को करने के लिये विवश किया जाता है जिन्हें दूसरे उचित समझते हैं तो वह स्वतंत्र नहीं रहता। लास्की ने कहा है कि जब व्यक्ति उन चीजों में, जिन्हें वह महत्त्वपूर्ण समझता है, विवशता का अनुभव करता है तो उसके लिये कोई स्वतंत्रता नहीं रह जाती। वास्तव में स्वतन्त्रता तभी होती है जब कि शासन के स्वेच्छाचार पर प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति हो। आदर्शवादी लोग कानून के पालन और स्वतंत्रता को एक समझने में इस महत्वपूर्ण बात को भूल जाते हैं। किन्तु यह आक्षेप

आदर्शवादी सिद्धान्त की इस प्रतिज्ञा को मिथ्या सिद्ध नहीं करता कि कानून स्वतंत्रता की पूर्व शर्त है। यह केवल यही दिखलाता है कि कुछ कानून ऐसे नहीं होते जैसा उन्हें होना चाहिये। आदर्शवादी यह पूर्णतः स्वीकार कर लेंगे कि ऐसे कानूनों का पालन स्वतंत्रता नहीं है।

इन आलोचनाओं के मूल्यों के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें आदर्शवादी सिद्धान्त के मर्यादित तथा उग्र रूपों के भेद का ध्यान रखना चाहिए। ये आक्षेप हेगेल के विचारों के विरुद्ध तो ठीक हैं जिनका आज कोई समर्थन नहीं करता। गार्नर ने लिखा है कि—'आज समस्त राजनीतिक लेखक हेगेल के अधिकांश विचारों को, विशेष रूप से राज्य की स्वेच्छाचारिता के सिद्धान्त, उसकी तथाकथित दैवी प्रकृति, एवं ऐसी अवस्था में सत्ता के आदेश का पालन करने के कर्तव्य को जब कि वह अवैध तथा अन्यायपूर्ण हो और इस सिद्धान्त को कि राज्य ही साध्य है, एक रहस्यमय अति-व्यक्तित्व है, केवलात्मा का अवतार है जिसके नागरिकों से भिन्न अपने अधिकार एवं हित हैं, अस्वीकार करते हैं। ये आलोचनाएँ ग्रीन जैसे आधुनिक आदर्शवादी विचारकों के सम्बन्ध में लागू नहीं है। उन्होंने आदर्शवादी सिद्धान्त की जो व्याख्या की है उसमें अनेक मूल्यवान तत्व हैं। राज्य स्वाभाविक तथा आवश्यक है; उसका मुख्य उद्देश्य ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न करना है जिनमें नागरिक अपने नैतिक व्यक्तित्व का विकास कर सकें; राज्य अपनी प्रकृति में सावयव है, वह अन्य समस्त संस्थाओं में सर्वोपरि है; वह समस्त कानूनों और अधिकारों का स्रोत है; वह अपनी रक्षा के लिये अपने सदस्यों (नागरिकों) से अपने प्रति भक्ति तथा बलिदान का अधिकार रखता है; राज्य इच्छा पर आश्रित है, शक्ति पर नहीं। ये सब बातें सत्य हैं जिन्हें कोई भी राज्य का सही सिद्धान्त उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता।

राजनीति में मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय

आदर्शवाद की आलोचना करते समय हमने मनोवैज्ञानिकों के तर्क पर विचार किया था। कुछ वर्षों से राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक विचारधारा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। अतः यह उचित होगा हम इस पर कुछ विचार कर लें। इसका विचार इसलिये और भी आवश्यक है कि यह बुद्धिवाद की, जो आदर्शवाद तथा प्रजातन्त्र की विशेषता है, आलोचना है और उसकी प्रतिक्रिया भी है। वर्तमान् काल में रूस, जर्मनी, इटली आदि देशों में जो सर्वसत्तावादी

शासन कायम हुए हैं उनमें इस विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

राजनीति तथा मनोविज्ञान के बीच पुराना साहचर्य है किन्तु मनोविज्ञान का राजनीतिक विश्लेषण में सुव्यवस्थित रूप में प्रयोग बेजहॉट की सन् १८७३ ई० में प्रकाशित 'भौतिक विज्ञान तथा राजनीति' (Physics and Politics) नामक पुस्तक की रचना के समय से हुआ। उसने राजनीति को समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करने की प्रणाली आरम्भ की जब कि उससे पूर्व राजनीतिक प्रश्नों पर प्राणि-विज्ञान के प्रकाश में विचार करने की प्रणाली ही प्रचलित थी। राजनीतिक समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करने पर जोर देनेवाले विद्वानों में ग्रेह्म वालास का नाम प्रसिद्ध है, जिसकी 'राजनीति में मानव प्रकृति' (Human Nature in Politics) तथा "महान समाज" (The Great Socety) नामक पुस्तकें बहुत ही विचारपूर्ण हैं।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का एक प्रमुख मन्तव्य यह है कि राज्य और उसकी संस्थाएँ मन के परिणाम या फल हैं, अतः उनका अध्ययन मन की भाषा द्वारा ही भली-भाँति किया जा सकता है। मानवीय व्यवहार के अध्ययन की कुन्जी मनोविज्ञान ही है। यदि इसका अर्थ केवल यही हो कि समस्त राजनीतिक विचारों का आधार मनोवैज्ञानिक होना चाहिये तो इससे कोई भी इन्कार नहीं करेगा। अफलातून, अरस्तू, मैकियावेली, हॉब्स, लॉक और रूसो के ग्रन्थ पर्याप्त रूप से इसका स्पष्टीकरण करते हैं। किन्तु कभी-कभी इसकी व्याख्या इस प्रकार से की जाती है कि चूँकि सामुदायिक जीवन के तथ्य सामुदायिक चेतना के तथ्य हैं इसलिये उनके अध्ययन की एकमात्र समुचित पद्धति मनोवैज्ञानिक प्रणाली ही है। दूसरे शब्दों से यह भी कहा जाता है कि राज्य विज्ञान के विद्यार्थी के लिये जो अब मनोवैज्ञानिक हो गया है अध्ययन की उचित विधि प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन की विधि है। इस विधि के दो प्रमुख लक्षण हैं। प्रथम, यह समस्त तथ्यों पर विचार करती है और उसके मूल्यों में कोई भेद नहीं करती। यह कुछ तथ्यों को अच्छा और दूसरों को हेय नहीं मानती। दूसरे, यह जटिल घटनाओं को उनके सरल घटकों में परिवर्तित कर उन सरल घटकों के प्रकाश में उन जटिल समस्याओं का अध्ययन करती है।

प्राकृतिक विज्ञान की इस विधि के राज्य-विज्ञान में प्रयोग करने के

दो परिणाम होंगे। राज्य-वैज्ञानिक के लिये समस्त सामाजिक तथ्यों का समान मूल्य होगा। उसके लिये एक कबीले का वही मूल्य होगा जो एक मजदूर संघ का। इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। राज्य-विज्ञान का आदर्शात्मक पहलू भी है, एक सीमा तक वह मूल्यों पर विचार करता है। मूल्य का अस्तित्व न वैज्ञानिक के लिये है और न मनोवैज्ञानिक के लिये ही। इसका यह अर्थ निकला कि राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन पूर्ण रूप में एक मनोवैज्ञानिक के बतलाये ढंग से नहीं किया जा सकता और न राज्य-विज्ञान जटिल घटनाओं को सरल घटनाओं द्वारा समझाने की रीतियों का प्रयोग ही सफलता के साथ कर सकता है। सामाजिक विज्ञानों में व्याख्या सदैव ध्येय या उद्देश्यों की दृष्टि से ही होती है, आरम्भिक अवस्था को दृष्टि से नहीं। निम्नतम की व्याख्या उच्चतम द्वारा हो सकती है परन्तु उच्चतम की व्याख्या निम्नतम द्वारा नहीं हो सकती। राजनीतिक जीवन की सरल घटनाओं जिनका पूर्व काल में विकास हुआ और बाद में विकसित जटिल घटनाओं इन दोनों की व्याख्या लक्ष्य की प्राप्ति के क्रम में विभिन्न अवस्थाओं के रूप में की जानी चाहिये। किन्तु समाज-मनोवैज्ञानिक प्रारम्भिक अवस्था को समय के विचार से नहीं, महत्व के विचार से लक्ष्य से पूर्ववर्ती समझता है। सारांश में, वह सभ्य जीवन की व्याख्या असभ्य प्रवृत्ति की भाषा में करता है।* इस प्रकार वह तथ्यों को गलत सिरे से क्रमबद्ध करता है।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का दूसरा प्रमुख विचार यह है कि राजनीतिक कार्य और व्यक्तियों के विचार को विशुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया के प्रतिफल मानना भूल है। उनके विचार तथा तर्क उन पर निस्सन्देह प्रभाव डालते हैं किन्तु उनसे कहीं अधिक महत्व प्रवृत्तियों तथा मनोभावों के प्रभावों का होता है। जो राजनीतिक सिद्धान्त मानव-प्रकृति के अबौद्धिक पहलू की उपेक्षा करता है और जो उसकी क्रियाओं को 'बौद्धिक शक्ति' के प्रतिफल समझता है, वह गलत प्रतिज्ञा से आरम्भ करता है और गलत परिणामों से बच नहीं सकता। आदर्शवाद में यह बात दिखाई देती है राज्य को बुद्धि या विवेकपूर्ण इच्छा का फल मानने में वह एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना करता है जो आज तक के किसी भी राज्य के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता। जिस राज्य के सम्बन्ध में आदर्शवादी विचार करता है, वह चाहे कहीं स्वर्ग में विद्यमान् हो, इस भूतल पर उसका कहीं भी अस्तित्व

* Barker: op. cit., p. 160.

नहीं है। यही बात उसके राजनीतिक दायित्वों की व्याख्या के सम्बन्ध में भी सत्य है। वास्तविक व्यवहार में मनुष्य राज्य की सत्ता की आज्ञा का पालन जिस भावना के साथ करता है वह यह अनुभूति नहीं है कि राज्य सामान्य इच्छा की प्रतिमा है और न यह भावना ही कि इस प्रकार आदेश पालन से सामान्य हित को सर्वाधिक सिद्धि होगी। राजनीतिक नियन्त्रण अपने आधार में सामाजिक ही है। समाज में जो सुव्यवस्था और सामञ्जस्य है वह लोकाचार, लोकमत, सुझाव, अभ्यास एवं अनुकरण आदि अनेक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों के, जो कानून के क्षेत्र से बाहर की बातें हैं, परिणाम हैं।

समाज-मनोवैज्ञानिक ने राज्य-वैज्ञानिक का ध्यान मनुष्य की संहत प्रकृति की प्रवृत्तियों एवं मनोभावों के अस्तित्व तथा उसके समस्त उप-चेतन पक्ष की ओर आकर्षित करके एक बड़ी सेवा की है। मनुष्य के राजनीतिक जीवन का कोई भी अध्ययन तब तक पर्याप्त और पूर्ण नहीं हो सकता जब तक हम उनके अस्तित्व पर तथा राजनीतिक मत या आचरण के निर्माण में उनके कार्य पर विचार नहीं करते। राजनीति की कला अधिकांश में लोकमत के निर्माण में मानव के भावात्मक पक्ष का विचारपूर्वक उपयोग करने में ही है। राजनीतिक नेता बड़ी चतुरता के साथ हमारे मनोभावों को अपने उद्देश्य के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं; वे कुछ विचारों के लिये नूतन नाम रखते हैं और उनको हमारे मनोभावों के साथ जोड़ देते हैं। राजनीतिक दल भावात्मक विचारों के प्रतीक हैं। भावों का सामाजिक आचरण पर कितना प्रभाव पड़ता है, इसके लिये अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। ग्रैहम वालास के अनुसार "राजनीति एक अल्पमात्रा में ही चेतनामय तर्क-बुद्धि का परिणाम है। वह प्रधानतः अभ्यास तथा प्रवृत्ति, सुझाव तथा अनुकरण का ही परिणाम है।"

समाज-मनोवैज्ञानिकों ने जिन महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, उन्हें अस्वीकार करना व्यर्थ होगा। वे निस्सन्देह हमारे राजनीतिक विचारों एवं क्रियाओं का निर्धारण करते हैं। किन्तु इस खोज के उत्साह में समाज-मनोवैज्ञानिक उन तथ्यों को अधिक महत्व देता है और बौद्धिक तत्वों को कम। बुद्धि और विवेक हमारे जीवन में कार्य करते हैं और एक बड़ी सीमा तक वे राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण एवं संचालन में भी काम करते हैं, जिसे मनोवैज्ञानिक स्वीकार

नहीं करते। राज्य तथा उसकी संस्थाएँ बुद्धिमूलक हैं किन्तु इस अर्थ में नहीं कि उनका निर्माण बुद्धि के विचारपूर्ण कार्य के फलस्वरूप हुआ है। वे बुद्धिमूलक इस अर्थ में हैं कि उनकी बुद्धि के आधार पर व्याख्या की जा सकती है। उनका निर्माण मनुष्यों के द्वारा हुआ है जिनके जीवन में बुद्धि तत्व प्रधान है। यह सत्य है कि राज्य-सत्ता के आदेश का पालन करते समय न तो साधारण मनुष्य और न दार्शनिक, न तो सामान्य इच्छा का स्मरण करता है और न सामान्य लोक-संग्रह का। किन्तु यह विचार विद्यमान् रहता है और मन द्वारा गुप्त रूप से अपना प्रभाव डालता है। इस बात पर कि राज्य की एकता अनुकरण अथवा सुझाव के अबौद्धिक प्रभाव पर टिकी हुई है, विश्वास करना हास्यप्रद है। यह स्वीकार करना कि समाज सुझाव तथा अनुकरण के कारण ही क़ायम है उसे अबौद्धिक संस्था बना देता है जो वह नहीं है। एक संस्था और कुछ चाहे हो या न हो, उसके पीछे बुद्धि अवश्य कार्य करती है। बार्कर के निम्नलिखित वाक्य में मनोवैज्ञानिक समुदाय की आलोचना का साराश निहित है। "समाज-मनोविज्ञान हमें पहले भौतिकवाद की ओर अग्रसर करता है तथा निम्नतम के द्वारा उच्चतम की व्याख्या करवाता है और इसके बाद यह हमें अबुद्धिवाद की ओर ले जाता है जिससे हम समाज को अनुकरण का परिणाम समझते हैं और उसके नागरिकों को मनमाने सुझावों का जादूभरा परिणाम।"

अध्याय ८

समाजवाद

हमने पिछले अध्यायों में व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद तथा आदर्शवाद का विवेचन किया है। आप देख चुके हैं कि उपयोगितावाद व्यक्तिवाद का ही परिष्कृत रूप है। ग्रीन का मर्यादित आदर्शवाद भी मूलतः व्यक्तिवाद ही है। समाजवाद व्यक्तिवाद का बिलकुल उल्टा है। इस अध्याय में तथा अगले अध्यायों में हम समाजवाद तथा उसके विभिन्न रूपों का अध्ययन करेंगे।

समाजवाद (Socialism) ऐसा शब्द है जिसकी कोई संक्षिप्त और यथार्थ परिभाषा नहीं की जा सकती। विभिन्न लोगों ने इसकी विभिन्न रूपों में कल्पना की है। इसके दो विभिन्न प्रयोग स्पष्ट हैं। व्यापक अर्थ में इसका आशय कुछ जटिल सिद्धान्तों तथा उनसे सम्बन्धित राजनीतिक आन्दोलन से है जिनका उद्देश्य वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है, जिसमें उत्पादन के साधनों का स्वामी समाज होगा। इस अर्थ में साम्यवादी (Communist), सिण्डीकेलिस्ट, गिल्ड-समाजवादी, समष्टिवादी (Collectivist) सब समाजवादी हैं, चाहे नवीन समाज के रूप तथा उसका निर्माण करने के ढङ्गों में उनमें कितना ही मतभेद क्यों न हो। संकीर्ण अर्थ में, जिसमें विशेषकर उसको व्यक्तिवाद के विपरीत बतलाया जाता है, उसका प्रयोग समष्टिवाद के लिये होता है जो समाजवादियों का एक विशिष्ट समुदाय है। यहाँ हम केवल समष्टिवाद के सम्बन्ध में विचार करेंगे। परन्तु उस पर विचार करने से पूर्व हम समाजवाद के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर देना चाहते हैं जिनमें सभी प्रकार के समाजवादियों का विश्वास है।

समाजवाद का अर्थ—

व्यापक अर्थ में समाजवाद उस आधुनिक आर्थिक एवं सामाजिक

सङ्गठन का विरोधी है जिसका व्यक्तिवाद ने पोषण किया है और जो व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर आधारित है। पूँजीवाद की आलोचना और पूँजीवादी व्यवस्था को हटाकर उसके स्थान पर एक नवीन सहकारी व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य में, जिसमें न व्यक्तिगत पूँजी और न स्वतन्त्र प्रतियोगिता के लिये ही कोई स्थान होगा, सभी समाजवादी सहमत हैं। परन्तु पूँजीवाद को हटाकर उसके स्थान पर जो नवीन व्यवस्था स्थापित की जायगी उसके सम्बन्ध में उनमें तीव्र मतभेद हैं। इस अध्याय में हम समाजवाद के आलोचनात्मक तथा निषेधात्मक पहलू पर विचार करने के बाद समष्टिवाद के रचनात्मक प्रस्तावों पर विचार करेंगे। कम्यूनिज्म, सिण्डीकेलिज्म, गिल्ड-समाजवाद तथा अराजकतावाद पर अगले अध्यायों में विचार किया जायगा।

समाजवाद पूँजीवाद पर कई प्रकार से दोषारोपण करता है : (१) पूँजीवाद सम्पत्ति के वितरण में गम्भीर विषमताएँ उत्पन्न कर देता है, (२) उसके (पूँजीवाद के) द्वारा व्यर्थ में बर्बादी बहुत होती है और उसमें नैपुण्य की कमी है, (३) वह मानवता तथा न्याय के सम्बन्ध में उदासीन रहता है, तथा (४) वह विश्व-शान्ति में बाधक है। सारांश में, उससे बहुजन समाज का शोषण होता है।

(१) गम्भीर विषमताएँ—

पूँजीवाद ने सम्पत्ति के वितरण में वास्तव में अत्यधिक भेद-भाव तथा विषमताएँ उत्पन्न कर दी हैं। इस विषमता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इङ्गलैण्ड में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पूर्व जनता के ½ भाग के पास कुल राष्ट्रीय आय का आधा था। एक लेखक ने हिसाब लगाकर बतलाया है कि सन् १९३१ ई० में ४०% राष्ट्रीय आय जनता के ७६% भाग को मज़दूरी के रूप में दी गई ; ३४% राष्ट्रीय आय १४% जनता को वेतन के रूप में दी गई और २६% आय १०% जनता को भाड़े तथा मुनाफे के रूप में मिली। फ्रान्स में सीधी आय प्राप्त करनेवाली १ करोड़ १० लाख जनता में से केवल ३,४०० व्यक्तियों को प्रतिवर्ष ४,००० पौंड से भी अधिक मिलता है और ६५ लाख से भी अधिक जनता को प्रति वर्ष १०० पौंड से भी कम मिलते हैं। प्रायः प्रत्येक योरोपीय देश में कुल राष्ट्रीय आय के आधे भाग का ½ जनता भोग करती है। इस असम वितरण के बड़े बुरे सामाजिक परिणाम निकलते हैं। इससे जनता राजनीति में कोई प्रभावकारी भाग नहीं ले सकती क्योंकि वर्तमान् व्यवस्था

में राज्य में राजनीतिक सत्ता केवल उन्हीं लोगों के हाथ में होती है जिनके पास आर्थिक सत्ता होती है। इस प्रकार इससे प्रजातान्त्रिक आदर्श की प्राप्ति में बाधा पड़ती है। दूसरे, इसका अर्थ है जनता के एक बहुत बड़े भाग को अपर्याप्त भोजन मिलना जिससे जनता के स्वास्थ्य की हानि होती है, उसकी कार्य-कुशलता कम होती है तथा अन्य कई बुराइयाँ भी उत्पन्न होती हैं। अन्त में, जैसा अरस्तू ने कहा था, इस प्रकार की विषमता से ही क्रान्तियों का जन्म होता है। यह राज्य की स्थिरता के लिये भी हानिकारक है। समाजवाद इस बुराई को दूर करना चाहता है और सम्पत्ति का अधिक उचित तथा न्यायपूर्ण रूप से वितरण करना चाहता है। यह ठीक ही कहा गया है कि समानता की माँग ही समाजवाद का आधार है।

२) कार्य-कुशलता की कमी—

पूँजीवाद के विरुद्ध दूसरा दोषारोपण यह है कि उसमें कार्य-कुशलता कम होती है। यह कार्य-कुशलता की कमी कई कारणों से होती है। प्रथम, यह अनियन्त्रित प्रतियोगिता का परिणाम है, जो दूषित तथा हानिकारक है। यह हानिकारक तथा वृथा है क्योंकि इससे व्यर्थ में सेवाओं का दोहराव होता है, जिससे विज्ञापन, प्रचार आदि में अनाप शनाप खर्च होता है। प्रायः प्रतियोगिता का अभिप्राय कारोबार को एक व्यक्ति से हटाकर दूसरे व्यक्ति की ओर ले जाना ही होता है। इसमें वस्तुएँ घटिया बनने लगती हैं और मजदूरी भी घट जाती है। यह दूषित भी है क्योंकि यह समाज विरोधी रूप धारण कर मनुष्य को भौतिकवादी बना देता है और वह अनुचित साधनों तथा बेईमानी से धन संग्रह करने लगता है। अतः यह छोटे प्रतियोगियों के लिये ठीक नहीं है। अन्त में, इसमें बड़े-बड़े उद्योग मिलकर संघ (Combines) बना लेते हैं और अन्त में एकाधिकार (Monopoly) स्थापित कर लेते हैं जिसके लिये उपभोक्ताओं को बड़ी भारी कीमत देनी पड़ती है और उन्हें बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं।

पूँजीवाद में कार्य-कुशलता के अभाव का दूसरा कारण यह है कि उसमें सर्वांगीण नियोजन ((Planning) का अभाव होता है। उत्पादन अव्यवस्थित और एक सीमा तक अस्त व्यस्त सा हो जाता है। उसमें अत्यधिक उत्पादन भी होता है और अनावश्यक तथा विलास की सामग्री का उत्पादन होने लगता है। जो आर्थिक मन्दी समय-समय पर देशों में होती है और अत्यधिक उत्पादन को रोकने के लिये सरकार को जो

व्यवस्था करनी पड़ती है इन सबसे पूँजीवाद का अनैपुण्य प्रकट होता है। इससे उन वर्गों में जिन्हें उत्पादन में साझेदार होना चाहिये वैमनस्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार भी इसका अनैपुण्य सिद्ध होता है।

तीसरे, पूँजीवाद इस कारण भी कार्य-कुशलताहीन है कि इसमें सुरक्षा का अभाव रहता है। एक बैंक का दिवाला निकल जाने से सहस्त्रों सम्पत्तिहीन हो सकते हैं और आर्थिक मन्दी के कारण भी लाखों व्यक्ति बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद 'अपने सङ्गठन में अव्यवस्थित और राजस्व में केवल अनुमान' रह गया है।

पूँजीवाद के विरुद्ध सबसे बड़ा दोषारोपण तो यह है कि उसका सामाजिक उद्देश्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुओं का उत्पादन इसलिये नहीं किया जाता कि वे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हैं या आवश्यक हैं वरन् इसलिये कि पूँजीपति उनसे काफी मुनाफा उठा सकते हैं। पूँजीपति बाजार में हानिकारक औषधियाँ तक भेजने में संकोच नहीं करेगा; यदि उसे यह विश्वास हो जाय कि उसे इससे काफी मुनाफा होगा। उसका ध्येय है व्यक्तिगत लाभ के लिये उत्पादन, सामाजिक प्रयोग के लिये नहीं।

(३) मानवता तथा न्याय का अभाव—

समाजवाद पूँजीवाद पर यह भी दोषारोपण करता है कि उसमें न्याय के लिये कोई स्थान नहीं है। वह अन्यायपूर्ण है क्योंकि उसमें सम्पत्ति का वितरण बड़ा विषम होता है। विभिन्न श्रेणियों के मज़दूरों को जो उत्पादन में भाग लेते हैं जो मजदूरी मिलती है वह उनकी योग्यता एवं गुणों के अनुपात में बिलकुल नहीं होती। पूँजीपति का उत्पादन के साधनों पर पूर्ण स्वाम्य होता है और वह श्रम को खरीदकर कच्चे माल को उपभोग्य माल में परिवर्तित कर उससे होनेवाले सब लाभ को स्वयं हड़प जाता है। मज़दूर को जितनी मजदूरी का वह वास्तव में अधिकारी है उससे बहुत कम मजदूरी मिलती है। पूँजीवादी प्रणाली की इस न्यायहीनता की ओर कार्ल मार्क्स ने अपनी 'कैपिटल' नामक पुस्तक में अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके बड़े प्रभावशाली ढङ्ग से ध्यान आकर्षित किया है। किसी पण्य का जो विक्रय-मूल्य होता है, उसमें तथा लागत-मूल्य (Cost Price) में जो अन्तर होता है, उसे ही अतिरिक्त मूल्य कहते हैं। वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत इस सब लाभ को पूँजीपति ही ले लेता है जो आधारभूत रूप से अनुचित है। उसका समुचित

रूप से उन सब व्यक्तियों में बँटवारा होना चाहिये जिन्होंने उन पदार्थों के निर्माण में योग दिया है। इस अतिरिक्त मूल्य के अतिरिक्त और भी समाज निर्मित मूल्य हैं, जैसे भूमि के मूल्य में अनर्जित वृद्धि, जिनका उपभोग भी पूँजीपति ही करता है। इन मूल्यों के निर्माण में पूँजीपति का कुछ भी भाग नहीं होता, अतः यह उनकी तिजोरी में न जाकर राज्य निधि में जाना चाहिये। इस प्रकार पूँजीपति का अतिरिक्त मूल्य को अनुचित रूप से हड़प लेना तथा अन्य सामाजिक रीति से उत्पन्न लाभों एवं मूल्यों पर अपना अधिकार जमा लेना पूँजीवाद का भारी दोष एवं अन्याय है, जिसे समाजवाद समूल नष्ट कर देना चाहता है।

अन्त में, पूँजीवाद मानवता और मानवीय सुख के प्रति बड़ा निर्दय है। उसका उद्देश्य पूँजी जमा करना है, जीवन को सुखी और श्रेष्ठ बनाना नहीं है। आधुनिक उद्योग की अवस्थाओं के अन्तर्गत जिस व्यक्ति को एक यन्त्र का परिचालन करना पड़ता है, वह स्वयं यन्त्रवत् बन जाता है। उसे अपनी कलात्मक प्रवृत्तियों के प्रकाशन या अपनी कला में अभिमान रखने का अवसर कहाँ मिलता है? इस प्रकार वह यन्त्र का एक पुर्जामात्र बन जाता है। सच कहिये तो वह मनुष्य नहीं रह जाता।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि पूँजीवाद मानव-प्रकृति के कोमलतम अङ्ग के प्रति उदासीन रहता है। वह यह मानता है कि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच स्वतन्त्र प्रतियोगिता सामाजिक सङ्गठन का सर्वोत्तम आधार है और 'योग्यतम की विजय' का नियम जितना समस्त पशु-जगत में काम करता है उतना ही मानव-जगत में भी काम करता है। इन विचारों के अनुसार वह यह मानता है कि सभ्यता का उद्देश्य जीवन-संग्राम की इस प्रकार व्यवस्था करना है कि उसमें बड़ी से बड़ी संख्या में योग्यतम ही जीवित रह सकें। दूसरे शब्दों में, इसमें जीवन के 'परिमाण' पर 'गुणों' की अपेक्षा अधिक ज़ोर दिया जाता है। पूँजीवाद व्यक्ति को इस संग्राम का अतिक्रमण करने के कुछ भी योग्य नहीं बनाता, वह उसे केवल जीवित रहने की सुविधा दे सकता है। इसके विपरीत समाजवादी का लक्ष्य व्यक्ति को भौतिक जीवन की चिन्ताओं से मुक्ति देना है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति जीवन के उच्चतम मूल्यों को प्राप्त कर अपनी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की इच्छा की पूर्ति कर सके।

समाजवादी को केवल इसी से सन्तोष नहीं हो जाता कि वह पूँजीवाद के दोषों पर ही प्रकाश डाले, वह उन्हें दूर करने के मार्ग भी बतलाता है। वह उनके मूल कारणों का अर्थात् उत्पादन के समस्त साधनों, भूमि, प्राकृतिक साधनों, कारखानों आदि पर निजी स्वाम्य का तथा उसके साथ ही निजी लाभ के प्रोत्साहन का अंत कर देना चाहता है। पूँजीपति का यंत्रों तथा कच्चे माल पर, जिसके बिना श्रमिक कुछ नहीं कर सकता, अधिकार होने के कारण वह श्रमिकों का शोषण कर सकता है और समस्त अतिरिक्त मूल्य को हड़प लेता है, जिसमें मजदूर का भी भाग है। समाजवादी यह चाहता है कि उन सब पर समूचे समाज का अधिकार होना चाहिये (आवश्यक रूप से राज्य या शासन का नहीं)। उत्पादन के साधनों के समाजीकरण से ये सब बुराइयाँ दूर हो जायँगी। इससे समाज उन समस्त समाजनिर्मित मूल्यों तथा अतिरिक्त मूल्य को प्राप्त कर सकेगा जो आजकल पूँजीपति स्वयं अपने लिये रख लेता है। उनका प्रयोग या व्यय समाजोपयोगी कार्यों के लिये होगा। इससे राष्ट्रीय आय का वितरण अधिक समुचित और न्यायपूर्ण ढंग से हो सकेगा। विविध श्रेणियों के व्यक्तियों को अपनी योग्यता के अनुपात में इन मूल्यों में अपना भाग प्राप्त हो सकेगा। उत्पादन किसी सामाजिक उद्देश्य से किया जायगा। पण्यों का उत्पादन प्रयोग या उपभोग के लिये किया जायगा; व्यक्तिगत मुनाफे के लिये नहीं। स्वतंत्र प्रतियोगिता के स्थान पर, जो अधिकांश बुराइयों की जड़ है, सहयोग के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा होगी। समाज का संगठन संयुक्त नियंत्रण एवं सहकारिता के आधार पर होगा। व्यक्तिगत मुनाफे के स्थान पर सामाजिक सेवा के आदर्श की प्रतिष्ठा की जायगी। व्यक्तिगत पूँजी तथा स्वतंत्र प्रतियोगिता का अन्त हो जाने के ये आवश्यक परिणाम होंगे।

पूँजी और उद्योगों का समाजीकरण, प्रतियोगिता के सिद्धान्त का अन्त और व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर समाज-सेवा—ये मौलिक सिद्धान्त हैं, जिनके सम्बन्ध में सभी समाजवादी एकमत हैं। उनका यह दावा है कि जब समाज का संगठन इन सिद्धान्तों के आधार पर होगा तभी समस्त व्यक्तियों के लिये अधिकतम स्वातंत्र्य एवं न्याय प्राप्त किया जा सकेगा। सुयोगों की समानता, पुरस्कार की न्याय्यता तथा उत्पादन में मितव्ययिता प्राप्त हो सकेगी; उस समय सेवा का दोहराव नहीं होगा और न गलाघोंट प्रतियोगिता होगी; अत्यधिक उत्पादन न होगा और न वृथा

व्यय; न निजारना पर व्यर्थ खर्च होगा और न जनता का जीवन-स्तर ही नीचा रहेगा।

एक दूसरी बात और है जिसे सब समाजवादी स्वीकार करते हैं और जिस पर वे सब ज़ोर भी देते हैं अर्थात् समाज की सेन्द्रिय एकता (Organic Unity of Society)। वे यह नहीं कहते कि समाज एक सेन्द्रिय रचना है परन्तु वे मनुष्य की सामाजिक भावना के अस्तित्व को मानते हैं और उसका विकास करना चाहते हैं। समाजवाद का समस्त दर्शन तथा कार्यक्रम इसी पर आधारित है। अनियन्त्रित प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोगी प्रयत्न हो अथवा व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामाजिक कल्याण का उद्देश्य हो अथवा उद्योग पर संयुक्त नियन्त्रण हो—प्रत्येक दशा में इन समस्याओं का समाधान निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तरों पर निर्भर है। क्या मानव में सामाजिक भावना बलवती है? क्या उसे प्रभावकारी बनाया जा सकता है? क्या उसे प्रोत्साहित किया जा सकता है? समाजवाद का समर्थन या खण्डन इन प्रश्नों के स्वीकारात्मक या निषेधात्मक उत्तरों पर निर्भर है।

समाजवाद का दर्शन—

समाज की सेन्द्रिय प्रकृति पर ज़ोर देकर समाजवादी विचारक सिद्धान्त में व्यक्ति को समाज के अधीन नहीं बनाता। उसका मन्तव्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हित में समाज का संगठन करना है। वह उसे ऐसे सुयोग देना चाहता है जिससे वह अपने जीवन को पूर्ण और स्वतन्त्र बना सके। यह व्यक्तिवादी का भी ध्येय है। इस प्रकार दोनों का ध्येय एक ही है परन्तु दोनों के साधन भिन्न हैं। व्यक्तिवादी की राय है कि व्यक्ति का सर्वोत्तम विकास उसी समय हो सकता है जब कि उसे विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताएँ उपलब्ध हों। किन्तु समाज के सदस्यों की अन्योन्याश्रितता से समाजवादी यह निष्कर्ष निकालता है कि ऐसा विकास नवीन सामाजिक संगठन का परिणाम हो सकता है, आजकल के पूँजीवाद समाज में उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसमें जनता अपने जीवन-संग्राम में ही दबी रहती है। श्रमिक अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें इसके लिए यह आवश्यक है कि पूँजीपतियों द्वारा उसका शोषण असम्भव कर दिया जाय। स्वतन्त्रता केवल इस बात में नहीं है कि केवल बाहरी प्रतिबन्धों का अभाव हो, वह तो समुचित कार्य को उसके समुचित होने के कारण ही करने की सत्ता का नाम है। वह जीवन के आध्यात्मिक

मूल्यों, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को प्राप्त करने तथा उनकी अभिवृद्धि करने की क्षमता का नाम है। यह उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि व्यक्ति अपनी भौतिक आवश्यकताओं के दबाव से मुक्त न हो जाय, जब तक उसे कुछ अवकाश या विश्राम न मिले, कुछ शिक्षा प्राप्त न हो और उसके पास कुछ धन न हो। श्रेष्ठ जीवन के लिये ये आवश्यक तत्व सब मनुष्यों को उसी समय प्राप्त हो सकेंगे जब समाज का संगठन सहकारी सिद्धान्त के आधार पर होगा; जब राज्य स्वयं अपनी सत्ता के लिये नहीं वरन् व्यक्तियों को जीवन-संग्राम का अतिक्रमण करने में सहायता देने के लिये होगा। राज्य की सहकारी कल्पना जिसके अनुसार उसका कर्तव्य समाज के समस्त व्यक्तियों के लिये उनको सहयोग के लिये संगठित करके स्वतन्त्र एवं पूर्ण जीवन की व्यवस्था करना है समष्टिवाद (Collectivism) की विशिष्टता है। *अन्य समाजवादी सम्प्रदाय राज्य* के प्रति उतना आदर भाव नहीं दिखलाते। उनमें से कुछ तो राज्य-*विरोधी हैं परन्तु सभी सहकारिता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।* उसके अभाव में समाज-सेवा की भावना कार्य नहीं कर सकती।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजवाद व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता देना चाहता है। परन्तु यह स्वतन्त्रता को एक पूज्य वस्तु नहीं मानता। *वह यह मानता है कि समानता से प्राप्त होने वाली सुरक्षा के बिना* स्वतन्त्रता का कुछ भी मूल्य नहीं। नवीन सामाजिक अवस्था में समता और स्वतन्त्रता दोनों ही प्राप्त हो सकेंगी। एक उक्ति है— "व्यक्तिवाद का सार स्वतन्त्रता है और समाजवाद का सार समता"। यदि इसका अभिप्राय यह है कि समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता की उपेक्षा करता है तो यह उक्ति भ्रमजनक है। जहाँ तक समाजवाद का आधार समता की माँग है वहाँ तक यह सत्य है। एक लेखक ने समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार से की है: 'यह आमदनियों में उत्तरोत्तर समता स्थापित करने की दृष्टि से उद्योगों का प्रगतिशील राष्ट्रीयकरण है।'*

---

* समाजवाद मानव-व्यक्तित्व की पवित्रता को किस प्रकार मान्यता देता है और पूँजीवादी सिद्धान्त उसके कितना विरुद्ध है, यह निम्नलिखित अवतरण से सर्वथा स्पष्ट है:—

"यह इतना प्रत्यक्ष है कि साम्राज्यवादी पूँजीवाद के सिद्धान्त के आधार हैं—मानव-जीवन के प्रति घृणा, जबरदस्ती लादा हुआ व्यापार, आयात-निर्यात कर द्वारा सुरक्षित वाणिज्य तथा एक संस्था के रूप में परिवर्तित युद्ध (व्यक्तिगत अथवा सामूहिक) की सर्वोच्चता। उपनिवेश प्रणाली (उपनिवेशों के निवासियों के लिये)

सारांश—

यहाँ समाजवादी मत का सारांश देना अनुचित नहीं होगा। समाजवाद आधुनिक समाज में सम्पत्ति के वितरण की विषमताओं का नाश करना चाहता है। ऐसी अवस्थाओं में, जिनमें कुछ व्यक्ति बिना काम किये रहते हैं और दूसरे काम करते हैं परन्तु उन्हें जीविका प्राप्त नहीं होती, इस प्रकार परिवर्तन करना आवश्यक है जिससे समाज में आर्थिक न्याय उपलब्ध हो सके। इस दृष्टि से उस वर्ग का अन्त कर देना है जो दूसरों के परिश्रम पर अपना जीवन-निर्वाह करता है और प्रत्येक प्रकार की अनर्जित आय पर प्रतिबन्ध लगा देना है। यह उद्देश्य भूमि तथा पूँजी के व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कर देने से पूरा हो सकेगा। पूँजीवाद के अन्त से स्वभावतः प्रायः सब को समान रूप से पर्याप्त सुयोग मिलेंगे तथा समुचित आय प्राप्त हो सकेगी। इससे सामाजिक उपयोगिता और न्याय की माग के अनुसार सम्पत्ति का अधिक न्यायपूर्ण वितरण ही नहीं हो सकेगा, उत्पादन में भी वृद्धि होगी।

यह स्मरण रखना चाहिये कि समाजवाद सब रूपों में व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरुद्ध नहीं है। वह भूमि एवं पूँजी में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अर्थात् उत्पादन के भौतिक साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व के ही विरुद्ध है। परन्तु वह उपभोग्य वस्तुओं में व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार करता है। समाजवादी राज्य में मज़दूरों को अपने मकान और अपनी मोटरकार रखने का अधिकार होगा। वे अपनी पत्नियों के लिये ज़ेवर-जवाहिरात भी रख सकते हैं और अपने निजी व्यय के लिये बैंकों में धन भी। परन्तु वे उसका प्रयोग लाभ करने के लिये नहीं कर सकते। इस प्रकार की

एक प्रायश्चित्त की रीति है, जिससे (औपनिवेशिक शक्तियों को) बड़ा लाभ होता है। उपनिवेश स्थापित करने वाले राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों को स्वतन्त्रता से वञ्चित कर देते हैं, उनकी भूमि को छीन कर लेते हैं और देशवासियों को या तो अपना शत्रु बना लेते हैं या घरेलू पशु। उनसे कर अत्यधिक लिये जाते हैं, कठोर श्रम लिया जाता है और उनका नाश कर दिया जाता है। यदि वे अपनी स्वतन्त्रता पुन प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें प्राण दण्ड दिया जाता है। बेल्जियम कांगो, मोरक्को, फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका, भारत, हिन्दचीन, जावा आदि पर दृष्टि डालिये " परन्तु समाजवाद की प्रणाली ही एक ऐसी प्रणाली है जो पूँजीवादी प्रणाली के विपरीत, मानवता के हित की पूर्ति करता है। मानवों का युक्तिसंगत एवं समुचित संगठन करके यह मानव समाज की अवस्था को यथाशक्ति सुधारना चाहता है। यह कहा जा सकता है कि यह सबसे अधिक 'मानवीय' प्रणाली है।" (Barbusse: Stalin, p. 87).

वस्तुएँ उपभोग करने के लिये हैं, पूँजी के रूप में अनर्जित आय प्राप्त करने के लिये नहीं। समाजवादी राज्य में किसी प्रकार का ब्याज या मुनाफा नहीं होगा : आय वही होगी जो श्रम के पुरस्कारस्वरूप मिलेगी। मजदूरों को जो मजदूरी दी जायगी, उसका निश्चय आवश्यकता, कार्यकुशलता अथवा बलिदान के आधार पर ही होगा, यद्यपि अधिकांश समाजवादी कार्यकुशलता के सिद्धान्त को ही पसन्द करते हैं।

एक बात का ध्यान रखना चाहिये। समाजवाद सब व्यक्तियों के लिये सर्वथा समान आय प्राप्त करना नहीं चाहता। वह जो कुछ प्राप्त करना चाहता है वह है समस्त व्यक्तियों के लिये पर्याप्त सुयोग (समान नहीं)। पूर्ण समानता अप्राप्य है और शायद वाञ्छनीय भी नहीं है। समाजवादी मस्तिष्क सम्बन्धी कारणों से व्यक्तियों की योग्यताओं में भेद मानते हैं और समाज की व्यवस्था इस प्रकार से करना चाहते हैं कि इस प्रकार के भेद बाहरी भौतिक कारणों से मिल कर सम्पत्ति के वितरण में अत्यधिक विषमता उत्पन्न न कर सकें।

समष्टिवाद

परिभाषा—

जिस संकुचित अर्थ में समाजवाद राज्य के कार्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों के रूप में व्यक्तिवाद का विरोधी है, उसमें हम उसे समष्टिवाद (Collectivism) कह सकते हैं। यह राज्य-समाजवाद (State-Socialism) के नाम से भी प्रसिद्ध है। राज्य को एक बुराई मानकर उसके कार्य-क्षेत्र को सीमित कर देने के स्थान पर समष्टिवाद राज्य को एक निश्चित रूप से अच्छी वस्तु मानता है और उसके कार्य-क्षेत्र में व्यक्ति एवं समाज दोनों के कल्याण के लिये विस्तार का समर्थन करता है। यदि राज्य सामाजिक कल्याण का सर्वोच्च साधन है, तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर सरकारी कार्य का विरोध करना मौलिक भूल होगी। राज्य के कार्यक्षेत्र का तो अधिकाधिक विस्तार करना ही उचित होगा। उसे तो जनता के सामान्य बौद्धिक, आर्थिक एवं नैतिक हितों की अभिवृद्धि करनी चाहिये और केवल जनता के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा के कार्य तक ही सीमित न रहना चाहिये। उसे 'पुलिस-राज्य' के स्थान पर लोक-संग्रही राज्य (Welfare State) बन जाना चाहिये। उसे दण्ड देने तथा अपराधों को रोकने के साथ-साथ जनता के कल्याण की भी अभिवृद्धि करनी चाहिये।

समष्टिवादी वह व्यक्ति है जो अधिक पूर्ण आर्थिक वितरण तथा मानवता के उत्थान के लिये राज्य के रूप में संगठित समाज की ओर ताकता है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के ११वें संस्करण में समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है:—"यह वह नीति या सिद्धान्त है जो केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक सत्ता द्वारा आजकल की अपेक्षा श्रेष्ठतम वितरण तथा उसके अधीन श्रेष्ठतम उत्पादन की व्यवस्था करना चाहता है।" यही समष्टिवादियों का ध्येय है। परन्तु इन दोनों परिभाषाओं में से कोई भी व्यापक अर्थ में समाजवाद की परिभाषा नहीं करती क्योंकि उनमें राज्य के प्रति जो मनोवृत्ति प्रकट की गई है वह समष्टिवादियों को छोड़कर अन्य समाजवादियों में नहीं है। समष्टिवादी यह मानते हैं कि राज्य ही ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा मजदूर पूँजीपति के शोषण से मुक्ति पाकर अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये समुचित सुयोग पा सकेंगे। अन्य समाजवादी न्यूनाधिक राज्य-विरोधी हैं।

समष्टिवादी उत्पादन के समस्त भौतिक साधनों का नियन्त्रण तथा अधिकार केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक राज्य या शासन को सौंप देना चाहते हैं, समाज के मजदूर वर्ग जैसे किसी एक वर्ग को नहीं। आजकल की भाँति उद्योगों का संचालन एवं प्रबंध व्यक्तिगत पूँजीपतियों द्वारा नहीं होगा और न मजदूरों द्वारा ही, जैसा कि सिण्डीकेलिस्ट और गिल्ड-सोशलिस्ट चाहते हैं वरन् समस्त जनता को प्रतिनिधि के रूप में और उसकी ओर से सरकार द्वारा होगा। इसी कारण समष्टिवाद को राज्य-समाजवाद (State-Socialism) भी कहते हैं। अतः इसका पहला सूत्र इस प्रकार है—"राज्य को उद्योगों का स्वामित्व तथा प्रबंध व्यक्तिगत पूँजीपतियों के हाथों में से अपने हाथ में ले लेना चाहिये।"

परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है: "पूँजीपतियों के हाथों में से उद्योगों का स्वामित्व एवं नियंत्रण किस प्रकार लेकर शासन को सौंपा जाय?" जो उत्तर समष्टिवादी देते हैं, उससे भी उनमें तथा अन्य समाजवादियों में भिन्नता प्रकट हो जाती है और उसी में उनका दूसरा सूत्र मिल जाता है। समष्टिवादी या राज्य-समाजवादी यह मानता है कि यह परिवर्तन वर्तमान राज्य के द्वारा और केवल शैक्षणिक तथा वैधानिक अथवा राजनीतिक साधनों के द्वारा ही किया जाना चाहिये। समष्टिवादी लोग देश में ऐसे राजनीतिक दल का संगठन करेंगे जो समष्टिवादी कार्य-क्रम

को पूरा करने के लिये वचनबद्ध होगा; वह मतदाताओं तथा नागरिकों में उसका प्रचार कर उनसे मत प्राप्त कर संसद में बहुमत प्राप्त करेगा और अपने मन्त्रि-मण्डल का निर्माण करेगा। इस प्रकार शासन पर अधिकार हो जाने पर बहुमत की अनुमति से वह ऐसे कानून बनाने में सफल होंगे, जिनसे इच्छित परिवर्तन हो जायगा। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था की स्थापना पार्लामेण्ट (संसद) के कानून द्वारा की जायगी। पुरानी तथा नई आर्थिक व्यवस्था के बीच सङ्घर्ष पार्लामेंट की समितियों में होगा, कारखानों तथा सार्वजनिक स्थानों में नहीं किया जायगा। यह परिवर्तन शान्त, क्रमानुसार एवं धीरे-धीरे होगा, सहसा क्रान्तिकारी ढंग से नहीं। समष्टिवादियों का मूलतन्त्र है शनैः शनैः। नवीन प्रवृत्तियों के निर्माण के लिये वर्तमान संस्थाओं का ही प्रयोग किया जायगा। यह इस सामाजिक सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है कि समाज एक सामाजिक शरीर है। अतीत के साथ कोई सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा। प्रत्येक अवस्था में या प्रत्येक क़दम पर परिवर्तन उस सामाजिक व्यवस्था की प्रकृति के अनुसार होगा जो उससे पूर्व थी। इस प्रकार समष्टिवाद विकासवादी है। वह उन सब समुदायों को जिनका आर्थिक नीति से सम्बन्ध है जैसे ट्रेड यूनियन, राजनीतिक दल, सरकारी कर्मचारी, कारखानों के विशेषज्ञ मैनेजर, उनके समझदार स्वामी आदि को अपने विचारों में धीरे-धीरे दीक्षित कर देना चाहता है।"* यह ढंग साम्यवादी ढंग के विपरीत है। राजनीतिक होने के कारण यह ढंग क्रान्तिकारी या सीधा नहीं हो सकता। सब कार्य बहुत धीरे-धीरे तथा शान्तिपूर्वक होना चाहिये। अपने प्रभाव तथा सफलता के लिये यह लोकमत के परिवर्तन पर निर्भर रहता है जो जोरदार प्रचार तथा चुनाव द्वारा ही किया जा सकता है। सिण्डीकेलिज्म आर्थिक क्षेत्र में सीधी कार्यवाही (Direct action) में विश्वास करता है और साम्यवाद रक्तपातपूर्ण क्रान्ति को अनिवार्य मानता है। अतः ये दोनों समष्टिवादी साधनों को जो वैधानिक एवं शान्तिपूर्ण हैं, पसन्द नहीं करते।

यहाँ एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है जिसे दूर करना आवश्यक है। जब समष्टिवादी यह कहता है कि राज्य उद्योगों का स्वामी होगा और उनका प्रबन्ध करेगा तो उसका आशय पूर्णतः केन्द्रीय सरकार से नहीं होता। वह स्थानीय तथा नागरिक शासनों को भी उसमें सम्मिलित

*Wasserman : Modern Political Philosophies, p. 46.

करता है। आरम्भ से ही फेबियन लोग (Fabians) जिन्हें इङ्गलैण्ड में समष्टिवाद के आदर्शों का प्रचार करने का श्रेय प्राप्त है, स्थानीय शासन के कार्यों को विस्तार करने की आवश्यकता पर ज़ोर देते रहे हैं। वेबयुगल ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में स्थानीय शासनों को सत्ता प्रदान करने (Devolution) की आवश्यकता पर जोर दिया है। वे अतिशय केन्द्रीयकरण के खतरों को खूब जानते हैं। केन्द्रीय सरकार को राष्ट्रीय-महत्व के उद्योगों का ही संचालन करना है: जैसे रेलवे, जलयान, व्यापार, खान-उद्योग, डाक एवं तार। गैस और जल की व्यवस्था, सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, मकानात, चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता, स्थानीय यातायात तथा आमोद-प्रमोद जैसे स्थानीय उद्योगों का संचालन स्थानीय संस्थाओं के हाथों में होना चाहिये जिनका सङ्गठन पूर्णतया प्रजातान्त्रिक होना चाहिये। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सरकार को समाज के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के नियन्त्रण तथा नियमन का कार्य सौंप देने से पूर्व शासन को पूर्णरूपेण प्रजातान्त्रिक और कार्यकुशल बना देना आवश्यक है। समष्टिवाद समस्त प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों को निर्वाचन के लिये मताधिकार देने के पक्ष में है और बहुमत दान (Plural voting), कुलीनवर्गीय द्वितीय सदन आदि प्रजातन्त्र-विरोधी पद्धतियों के विरुद्ध है। समष्टिवादियों के लक्ष्य तथा कार्यक्रम का पूरा विवरण ब्रिटिश लेबर पार्टी द्वारा सन् १६१६ ई० में प्रकाशित (Labour and the New Social Order) नामिका पुस्तिका में मिलता है।

समष्टिवाद के समर्थन में तर्क—

समष्टिवादी लोग उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व तथा उद्योगों के नियन्त्रण के समर्थन में प्रायः निम्न तर्क देते हैं:—

१—वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत औद्योगिक जगत में जो अर्ध-अराजकता व्याप्त है, उसका खात्मा करने का उद्योगों का समाजीकरण ही एक मात्र उपाय है। प्रतियोगिता के आधार पर चलने वाले उद्योगों में जो अपव्यय होता है उसका समष्टिवादी व्यवस्था द्वारा अन्त हो जायगा। इस सम्बन्ध में डाक-विभाग द्वारा पत्रों, पार्सल, मनीऑर्डर आदि के व्यवस्थित ढङ्ग से पहुँचाने तथा वितरण की सुव्यवस्था तथा दुग्ध-व्यवस्था में अति-व्यय तथा दोहरी व्यवस्था की तुलना बड़ी शिक्षाप्रद सिद्ध होगी। भाड़े, लगान तथा मुनाफ़े एवं अन्य समाज द्वारा निर्मित मूल्यों से जो आय होगी और जो

पूँजीवादी व्यवस्था में सब की सब पूँजीपतियों के पास ही रहती है वह समष्टिवादी व्यवस्था में राज्य की निधि में पहुँचेगी। उन उद्योगों में जिनमें एकाधिकार स्वभावगत है और स्थायी प्रतियोगिता असम्भव है राज्य-नियन्त्रण उपभोक्ता-जनता के हितों की रक्षा के लिये परम आवश्यक है।

२—प्रकृति की देन, जैसे भूमि और उसके भीतर की खनिज सम्पत्ति, समाज की है। उन पर थोड़े से लोगों का केवल इसलिये अधिकार नहीं होना चाहिये कि उनके पास पूँजी है और वे उसको खरीद सकते हैं। इसके अतिरिक्त देश के प्राकृतिक साधनों का व्यक्तिगत पूँजीपतियों द्वारा उपयोग होने में राष्ट्र के हितों का ध्यान नहीं रहता। उससे उनकी रक्षा नहीं होती और यदि उसे रोका नहीं जाय तो उनका वृथा विनाश होता है।

३—राज्य द्वारा उद्योगों के प्रबन्ध से समाज को ऐसी वस्तुएँ तथा सेवाएं प्राप्त हो सकती हैं जिनकी आवश्यकता तो होती है, परन्तु जिनके लिये पर्याप्त माँग नहीं होती। व्यक्तिगत उद्योग स्कूल, पुस्तकालय एवं अनुसंधान-शालाएँ तभी खोलेगा जब उनसे आर्थिक लाभ हो परन्तु ऐसी संस्थाओं से लाभ प्रायः नहीं होता। यदि ऐसी संस्थाएँ वह खोले भी तो उनसे लाभ उस साधारण जनता को बहुत कम होगा जिसे उसकी आवश्यकता है। राज्य-नियन्त्रण उत्पादक शक्तियों को ठीक दशा में लगायगा और गलत दिशा में जाने से रोकेगा।

४—परन्तु राज्य के हाथों में उद्योगों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध पहुँचने से जो सबसे बड़ा लाभ होगा वह यह है कि इससे क्रमशः समाज में नैतिक और अध्यात्मिक सुधार होगा। अपने स्वार्थों की पूर्ति करने तथा अपने पड़ोसियों की अपेक्षा अपनी दशा अच्छी करने में लगे रहने के कारण लोग समाज के महान् सामान्य लक्ष्यों को भूल जाते हैं और उनका नैतिक तथा आध्यात्मिक पतन हो जाता है। यदि प्रतियोगिता को दूर कर व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर समाज-सेवा के आदर्श की स्थापना कर दी जाय तो स्थिति में परिवर्तन हो जायगा। समष्टिवादी समाज मे अनुचित साधनों के प्रयोग के लिये कोई प्रलोभन नहीं रहेगा। उसमें मानव की सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्तियों को प्रेरणा मिलेगी और उसके सर्वोत्कृष्ट गुण प्रकट होंगे।

समष्टिवाद के विरुद्ध तर्क—

समष्टिवाद पर दो विभिन्न दृष्टिकोणों से आक्षेप किये जाते हैं। आलोचकों का एक वर्ग तो समाजवाद का विरोधी है। वह जिस प्रकार समाजवाद का विरोधी है उसी प्रकार समष्टिवाद का भी विरोधी है। समष्टिवाद का दूसरा आलोचक वर्ग समाजवाद का तो समर्थक है परन्तु वह उसके समष्टिवादी रूप में विश्वास नहीं करता। वह राज्य-विरोधी है। उसका यह विचार है कि उत्पादनों के साधनों का स्वाम्य राज्य को नहीं वरन् उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों को प्राप्त होना चाहिये। उसका यह भी विश्वास है कि नवीन आर्थिक व्यवस्था की स्थापना वैधानिक साधनों द्वारा नहीं की जा सकती। वे प्रत्यक्ष तथा क्रान्तिकारी साधनों के प्रयोग का समर्थन करते हैं। पहले हम प्रथम वर्ग के आक्षेपों पर विचार करेंगे।

१—समष्टिवाद ही नहीं वरन् समाजवाद के सभी रूपों के विरुद्ध जो साधारण आक्षेप किया जाता है वह यह है कि व्यक्तिवादी उद्योग के स्थान पर सामूहिक स्वामित्व की स्थापना से उद्योग के लिये मूल प्रेरक शक्ति का नाश हो जायगा। मानव-उद्योग की सबसे महान् प्रेरक शक्ति व्यक्तिगत लाभ की आशा से ही प्राप्त होती है। वर्तमान् समय में उद्योगों में जो महान् सफलता देख पड़ती है, वह व्यक्तिगत लाभ के कारण ही हुई है। भारी लाभ की आशा और उसका मन-माना उपयोग करने की स्वतन्त्रता प्रतिभाशाली व्यक्तियों को उद्योग की ओर आकर्षित करती है। सामूहिक स्वाम्य-व्यवस्था के अन्तर्गत मानव-उद्योग का यह मूल स्रोत सूख जायगा और फलतः उत्पादन में इससे कमी पड़ेगी। उत्पादन के तरीकों में सुधार के प्रयत्न भी शिथिल हो जायँगे। इस प्रकार व्यक्तिगत उद्योग के लिये कोई क्षेत्र ही नहीं रह जायगा। अतीत में जो औद्योगिक प्रगति हुई है, वह इसी कारण सम्भव हुई कि बड़े साहसी और योग्य पूँजीपति इसमें अग्रसर हुए। पूँजीवाद के अन्तर्गत उद्योग के नेताओं के चुनाव तथा उन्हें समुचित पद पर आसीन करने की समस्या उत्पन्न नहीं होती। स्वतन्त्र प्रतियोगिता में व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा के कारण योग्य व्यक्ति समुचित पद पर स्वयं आ जाते हैं। समाजवाद में प्राकृतिक चुनाव के लिये कोई गुञ्जायश नहीं है और उद्योगों के नेताओं की खोज करना एक समस्या बन जाती है जिसका हल

कठिन है। कुछ व्यक्ति एक पग आगे बढ जाते हैं और यह मानते हैं कि समाजवादी व्यवस्था में मजदूर समुचित रीति से काम नहीं करेंगे। उद्योगों मे सुधार की तथा पूँजी लगाने की भी समस्याएँ हैं। सक्षेप में, इन आलोचकों के अनुसार समाजवाद उद्योगों के सम्बन्ध मे जितनी समस्याओं का समाधान नहीं करता उतनी पैदा कर देता है। इस प्रकार आर्थिक दृष्टिकोण से समाजवाद का सिद्धान्त निर्बल तथा अव्यवहार्य है। समाजवाद के विरोधी यह मानते हैं कि समाज के आर्थिक संगठन के लिये व्यक्तिगत पूँजी और व्यक्तिगत लाभ ही सर्वोत्तम है।

यह आक्षेप आधारभूत है; वह समाजवाद की जड पर ही कुठाराघात करता है। यदि लोग किसी कार्य को करने के लिये उससे मिलने वाले वित्तीय लाभ की आशा से ही प्रोत्साहित हो सकते हैं, यदि सामाजिक कल्याण तथा सामाजिक आवश्यकता के विचारों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो समाजवाद के सभी रूप अव्यावहारिक हो जायँगे। तब यह मानना सत्य होगा कि समाजवाद मनुष्य से सामान्य कल्याण के लिये जितना मानव-प्रकृति के लिये सम्भव है उससे भी अधिक आदर चाहता है और इस प्रकार समाजवाद के प्रति केवल सनकी व्यक्ति ही आकर्षित हो सकते हैं। इस मनोवैज्ञानिक प्रश्न पर विचार करने के लिये यहाँ यथेष्ठ स्थान नहीं है। हम समाजवादी उत्तर की रूपरेखा का ही यहाँ विवेचन कर सकते हैं।

सबसे प्रथम, यह ध्यान मे रखना चाहिये कि मनुष्य इतना स्वार्थी नहीं है, जितना कि इस आक्षेप में समझा गया है। उसकी प्रकृति मे परोपकारिता भी होती है। वह दूसरे मनुष्यों के प्रति परोपकार भी कर सकता है और करता भी है। प्रो० जोड का कथन है कि "समस्त छोटे समुदायों में समुदाय की सेवा, उसके लिये कार्य करने की इच्छा और समाज का समर्थन प्राप्त करने की इच्छा सदैव काम करती है और मनुष्यों के जीवन में सबसे शक्तिशाली तथ्य होती है।"* जिस चीज की आवश्यकता है, वह है इस इच्छा को समुचित रूप से प्रोत्साहन देना और उसे जाग्रत रखना। यह इच्छा एक ऐसे वातावरण में भी काम करती है जो उसके विकास के लिये अधिक अनुकूल नहीं है, यह मनुष्य की सात्विक प्रकृति का

* Joad : Modern Political Theory.

अकाट्य प्रमाण है। मनुष्य की यह सात्विक प्रकृति समाजवादी विचार की एक मूल्य मान्यता है। यह निश्चय ही वांछनीय है कि समाज का सङ्गठन ऐसे ढङ्ग से किया जाय जिससे इस प्रवृति को उत्तेजना मिले। हम वर्तमान सामाजिक सङ्गठन को जो उस इच्छा को कुण्ठित कर देता है और उसकी विरोधी स्वार्थपरता की प्रवृति को प्रोत्साहन देता है नैतिक रूप से उचित नहीं मान सकते।

दूसरे, इस तर्क की यह धारणा कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से काम करना पसन्द नहीं करते और वे स्वार्थ भावना से ही काम करते हैं, मिथ्या है। मनुष्य काम को उस समय तक नापसन्द नहीं करते जब तक कि वह सुखद तथा साधारण होता है, वे उसे उसी समय नापसन्द करते हैं जब कि वह बहुत ज्यादा या नीरस होता है। काम तो शारीरिक आवश्यकता है; इसमें हमारी शक्तियों को विकास का मार्ग मिलता है। काम के बिना जीवन भार हो जायगा। लोग अनिवार्य विश्राम से बचने के लिये धन तक व्यय करते हैं। शॉ ने नर्क की जो 'सनातन अवकाश' कहकर परिभाषा की है इससे मनुष्य के लिये काम करने की कितनी आवश्यकता है इसका अच्छा सकेत मिलता है।

यदि कार्य मात्रा में हलका हो और गुण में विविधितामय, तो यह आशा की जा सकती है कि लोग उसे समाज के लिये बिना किसी व्यक्तिगत लाभ के करेंगे। यह उस समय और भी आसान होगा जब व्यक्ति यह अनुभव करेंगे कि वे दूसरों के लिये नहीं वरन् उस समाज के कल्याण के लिये काम कर रहे हैं जिसमें उनका कल्याण भी सम्मिलित है।

इन विचारों से यह स्पष्ट है कि यह दोषारोपण कि समाजवाद मनुष्य से सामजिक कल्याण के लिये जितना उसकी प्रकृति में सम्भव है उससे भी अधिक आदर की माँग करता है, निराधार है। समाजवाद मानव-प्रकृति के विरुद्ध नहीं है। परन्तु यह भी स्वीकार कर लेना होगा कि यदि समाजवाद को सफलता प्राप्त करनी है तो मनुष्यों को अपनी भावनाओं में नवीन रस का संचार करना पड़ेगा और उन्हें आज की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं पवित्र बनना होगा।

समाजवाद विरोधी समाजवादियों पर यह आक्षेप भी करते हैं कि वे सरकार द्वारा उद्योगों के प्रबन्ध के सम्बन्ध में अतिशय आशावादी

है ; राज्य द्वारा उद्योगों के संचालन के सम्बन्ध में उनके विचार अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। परन्तु सरकार प्रत्येक प्रकार के उद्योग के संचालन के योग्य नहीं है। ऐसे भी उद्योग हैं जैसे कृषि, मत्स्य-पालन, मौज़े-बनियान बनाने का उद्योग, कताई तथा बुनाई जिनका संचालन व्यक्तिगत प्रबन्ध में अधिक सुचारु रूप से होता है। इन उद्योगों का प्रबन्ध राज्य को सौंपने से उस पर भार अधिक हो जायगा और उसकी कार्य-कुशलता में कमी हो जायगी। जहाँ प्रतियोगिता के लिये क्षेत्र नहीं है वहाँ उद्योगों में राज्य-प्रबन्ध के अनुभव से कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना खतरे से खाली नहीं है। जिन क्षेत्रों में प्रतियोगिता की गुञ्जायश है वहाँ भी राज्य-प्रबन्ध के अनुभव उत्साहप्रद नहीं हुए हैं। व्यक्तिवादियों का यह कथन भी सत्य है कि राज्य अपनी *प्रकृति के कारण अधिकांश मामलों में व्यवसायों एवं उद्योगों के* संचालन की अपेक्षा एकाधिकार के दोषों को रोकने के तथा समाज के हित में उनका नियमन करने के अधिक योग्य है।

समाजवाद के मिल तथा स्पैंसर जैसे विरोधियों का मत है कि समाजवाद से व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कमी होती है और वे राज्य के निर्देश से परिचालित यन्त्र मात्र बन जाते हैं। जब समस्त उद्योगों के संचालन के लिये एक विशाल नौकरशाही की आवश्यकता पड़ेगी तब यह उसका स्वाभाविक परिणाम होगा। वर्तमान् शताब्दी में भी कुछ लेखकों ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। उदाहरणार्थ, बैलॉक का विचार है कि स्वार्थ के अभाव में मनुष्यों को काम करने के लिये मजबूर करना पड़ेगा जिसका अर्थ होगा व्यक्तिगत चरित्र का ह्रास। सर एर्सकिन मे का भी मत है कि समाजवादी सिद्धान्त का स्वाभाविक प्रभाव "मानव-जाति की शक्तियों का दमन" हुआ है; समाजवाद का स्पष्ट ध्येय था "व्यक्तियों की समस्त शक्तियों तथा श्रेष्ठ ध्येयों का बहिष्कार।"

समष्टिवाद के विरुद्ध ये सब आक्षेप नहीं किये जा सकते। हम ऊपर बतला चुके हैं कि उसका उद्देश्य मानव-व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये व्यक्ति के लिये अधिकतम स्वतन्त्रता उपलब्ध करना है। महत्वपूर्ण सेवाओं के स्थानीय शासन के नियन्त्रण में आ जाने से शासन के 'लाल फीते' आदि से जो बुराइयाँ होती हैं, वे बहुत कुछ कम हो जायँगी। यदि केन्द्रीय शासन ही सब समाजीकृत उद्योगों का नियन्त्रण करे तो इस आक्षेप में

बहुत कुछ बल हो सकता है। किन्तु समष्टिवादी इस बात पर ज़ोर देता है कि महत्वपूर्ण सेवाओं पर स्थानीय स्वशासन का अधिकार होना चाहिये।

सिण्डिकेलिस्ट, गिल्ड-समाजवादी और साम्यवादी इनसे भिन्न आधारों पर समष्टिवाद पर आक्षेप करते हैं। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश या प्रतियोगिता के निवारण के प्रयत्न का विरोध नहीं करते। वे समष्टिवादी के साथ इस बात में सहमत हैं कि एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाय। परन्तु समष्टिवादी जिस माध्यम द्वारा इसकी स्थापना करना चाहता है, उसे वे उपयुक्त नहीं मानते। वे राज्य के उतने ही विरोधी हैं जितने कि समष्टिवादी राज्य के पक्ष में हैं। उनका मुख्य विचार यह है कि राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका निर्माण पूँजीपतियों ने मज़दूरों का शोषण करने के लिये किया है और इस कारण उसका (राज्य का) प्रयोग पूँजीवाद का नाश करने के लिये नहीं किया जा सकता। जब तक राज्य के स्थान पर कोई दूसरा सामाजिक सङ्गठन स्थापित न किया जाता, तब तक पूँजीपतियों द्वारा मज़दूरों के आर्थिक शोषण का अन्त नहीं हो सकता। इससे यह परिणाम निकलता है कि राजनीतिक उपाय द्वारा नवीन समाजिक व्यवस्था की स्थापना नहीं की जा सकती। वे किसी न किसी रूप में सीधी कार्यवाही के लिये सिफारिश करते हैं। इसके विषय में हम विस्तारपूर्वक आगे लिखेंगे।

इन आक्षेपों के अतिरिक्त उद्योगों के पूर्ण समाजीकरण के समष्टिवादी आदर्श की प्राप्ति में अन्य अनेकों कठिनाइयाँ हैं। चूँकि समस्त उद्योग इस योग्य नहीं हैं कि उनका समाजीकरण किया जा सके, अतः यह समस्या खड़ी हो जाती है कि कौन से उद्योगों का पहले समाजीकरण किया जाय और ऐसे उद्योगों का क्या हो जिनका समाजीकरण सम्भव नहीं है, जैसे कृषि तथा फुटकर व्यापार। जिस ढङ्ग से राज्य उद्योगों पर स्वाम्य प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करेगा उसके कारण भी एक दूसरी कठिन समस्या पैदा हो जाती है। क्या राज्य उन्हें खरीद लेगा या उन्हें ज़ब्त कर लेगा? इन दोनों विकल्पों में कठिनाइयाँ हैं। राज्य के प्रबन्ध में उद्योगों के उत्पादन की वस्तुओं की क़ीमतों का प्रश्न भी कुछ कम कठिन नहीं है।

आधुनिक राज्यों में समष्टिवादी प्रवृत्तियाँ—

यद्यपि आज के युग में रूस तथा इङ्गलैंड के अतिरिक्त अन्य किसी

भी राज्य ने समाजवाद या समष्टिवाद को अपना राजकीय आदर्श स्वीकार नहीं किया है* तथापि उसके सिद्धान्तों का अनेक देशों पर प्रभाव पड़ा है और प्रत्येक राज्य के व्यवस्थापन एवं नीतियों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने उत्पादन के साधनों के सामान्य या सामाजिक स्वाम्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है अथवा उन्होंने समस्त मजदूरों को सरकारी कर्मचारी बना दिया है। उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वाम्य है और प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता है कि वह अपने प्रयत्न से जिस प्रकार चाहे अपनी जीविका प्राप्त करे। अनेक सभ्य देशों में इस सीमा तक व्यक्तिवाद सरकारी कार्यों का अब भी आधार बना हुआ है। परन्तु परिस्थितियों के दबाव के कारण प्रत्येक राज्य कुछ ऐसे कार्यों का सम्पादन कर रहा है जो अपनी प्रकृति में समाजवादी हैं। आर्थिक व्यक्तिवाद का सिद्धान्तपूर्ण रूप से खंडित हो चुका है।

उद्योगों में राज्य का हस्तक्षेप अब सर्वत्र बढता जा रहा है। अधिकांश राज्यों ने उन उद्योगों पर जिनका राष्ट्र के लिये राजनीतिक, आर्थिक या सैनिक महत्व है, नियन्त्रण स्थापित कर लिया है। तार तथा डाक, रेलवे, जङ्गल, बैंक, शस्त्रों का निर्माण, खानों आदि पर अनेक देशों में राज्य का निरीक्षण एवं प्रबन्ध है और सरकारें प्रबन्ध कर रही हैं। कुछ राज्य तो इससे भी एक पग बढ गये हैं, वे साहित्य और कला को प्रोत्साहन देते हैं, बीमारी तथा आकस्मिक दुर्घटनाओं के लिये बीमे की व्यवस्था करते हैं और वृद्धावस्था के लिये पेन्शन देते हैं। कई राज्य रक्षणात्मक निर्यात-आयात करों (Protective Tariffs) तथा स्वदेशी धन्धों की उनकी विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करने के लिये आर्थिक सहायता देने की भी व्यवस्था करते हैं। वे समय-समय पर निर्यात तथा आयात की कुछ वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं। व्यापार तथा उद्योगों पर सरकार की ओर से जो नियन्त्रण लग रहे हैं, उनके अधिक उदाहरण देना व्यर्थ है; बात सर्वथा स्पष्ट है।

* रूस का समाजवाद समष्टिवाद नहीं है, वह साम्यवाद (Communism) कहलाता है जो ऊपर दिये हुए सिद्धान्तों से कई बातों में भिन्न है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड, यूगोस्लाविया, फिनलैण्ड आदि पूर्वी योरोप के देशों तथा अभी हाल ही में चीन की नवीन सरकार ने भी समाजवाद को अपना आदर्श स्वीकार कर लिया है।

हम उदारवादी विचारकों की इस राज्य-कल्पना से कि समाज प्रतियोगियों का एक मण्डल है और राज्य एक निर्णायक के रूप में है, दूर होते जा रहे हैं और समष्टिवादियों द्वारा अनुमोदित समाज-सेवी राज्य (Social Service State) की दिशा में अग्रसर होते जा रहे हैं। इसका एक दूसरा प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि प्रायः प्रत्येक राज्य में शिक्षा, गरीबों की सहायता, बेकारी का बीमा और दूसरे कार्यों पर जिनमे गरीबों का उद्धार होता है पर्याप्त धन व्यय किया जाता है। सामाजिक सेवाओं पर इङ्गलैण्ड में सन् १६०० में १६ शिलिंग २ पाई प्रति व्यक्ति व्यय होता था परन्तु सन् १६३४ में यह व्यय ८ पौंड १६ शिलिंग प्रति व्यक्ति था।

प्रत्येक देश में राज्य ऐसे रचनात्मक कार्यों का संचालन कर रहा है, जो केवल वर्तमान सन्तति के लिये ही लाभदायक नहीं है वरन् भावी सन्तति को भी लाभ पहुँचायेंगे। कृषि, वृक्ष तथा पशुओं की नस्ल सुधारने, पौधों तथा पशुओं की रक्षा के लिये हानिकारक कीटाणुओं के सम्बन्ध में खोज एवं रोगों के निवारण के सम्बन्ध में सफलतापूर्वक परीक्षण तथा प्रयोग किये जा रहे हैं। अनेक राज्यों में आर्थिक दृढ़ता प्राप्त करने तथा स्वाश्रयी बनने के लिये राष्ट्रीय नियोजन का विचार अपनाया जा रहा है। उन समस्त राज्यों में, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ (International Labour Organization of the United Nations) के सदस्य हैं, मजदूरों की अवस्था में अनेक प्रकार के सुधार के लिये कई क़ानून बनाये गये हैं। अनेक देशों में अनेक प्रकार के सामाजिक क़ानून भी बनाये गये हैं जैसे कारखाना-क़ानून, स्वास्थ्य-सम्बन्धी क़ानून, मजदूरों की चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता तथा उनके आवास की व्यवस्था-सम्बन्धी कानून, मजदूरों की क्षतिपूर्ति के क़ानून, मजदूरों की हानि के लिये मालिक की जिम्मेदारी तथा बेकारों की सहायता-सम्बन्धी क़ानून। ये सब इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि उद्योगों के समाजीकरण तथा आय सम्बन्धी समता के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना ही राज्य अपने को समाजवादी साँचे में ढालना जा रहा है।

अध्याय ६

फैसिज़्म

पिछले अध्यायों में आपने व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का वर्णन पढ़ा है। आप देख चुके हैं कि राज्य तथा समाज के आर्थिक तथा औद्योगिक जीवन के सम्बन्धों के विषय में न तो व्यक्तिवाद और न समाजवाद ही पूर्णतः सन्तोषजनक है। शासन के लिये यह असम्भव है कि वह सर्वथा पृथक् रहे और आर्थिक शक्तियों को उत्पादन एवं वितरण और मालिकों तथा मजदूरों के सम्बन्धों का निर्णय करने दे। हस्तक्षेप न करने की नीति के भयंकर परिणामों ने राज्य को बाध्य कर दिया है कि वह समाज की आर्थिक प्रक्रियाओं का अधिकाधिक नियन्त्रण एवं नियमन करे। कुछ व्यक्तियों की राय में यह भी असम्भव प्रतीत होता है कि राज्य समस्त उद्योगों का स्वामी बनकर उनका प्रबन्ध करे। रूस को छोड़कर अन्य किसी भी देश में समस्त उद्योगों का समाजीकरण नहीं हुआ है और उस देश में भी किसी-किसी बात में मौलिक सिद्धान्तों का त्याग कर दिया गया है। इसके साथ ही जो बात रूस में सम्भव हो सकी वह दूसरे देशों में भी सम्भव हो सकेगी यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता। इस कारण समाजवाद तथा व्यक्तिवाद के बीच का मार्ग ढूंढना आवश्यक है। ऐसा एक मध्यम मार्ग फैसिज़्म है जिसका उदय, जैसा आप प्रथम भाग में पढ़ चुके हैं, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इटली में हुआ। इसकी मोटी रूपरेखा का अध्ययन आप कर चुके हैं और देख चुके हैं कि फैसिज़्म अधिनायकतन्त्र तथा सर्वसत्तावादी राज्य का समर्थक है।

फैसिज़्म—

फैसिज़्म का संक्षेप में वर्णन करना कठिन कार्य है। कठिनाई कुछ तो इसलिये पैदा होती है कि यह एक राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणाली होने के साथ ही साथ जीवन की एक मनोवृत्ति, एक पद्धति है और एल्फ्रेडो रॉको के शब्दों में "नागरिक जीवन की एक नूतन कल्पना" भी है। वह

एक नवीन संस्कृति का आरम्भ है। इस कारण उसका थोड़े से शब्दों में वर्णन करना सम्भव नहीं है। एक जीवन की पद्धति के रूप में वह राष्ट्र के आत्मा को प्रकट करता है। फैसिज्म वास्तव में एक अत्यन्त तीव्र राष्ट्रीयतावादी मत है। चूँकि जर्मन आत्मा, इटालियन आत्मा से भिन्न है, जर्मन फैसिज्म अर्थात् नात्सीवाद इटालियन फैसिज्म का जर्मन संस्करण नहीं माना जा सकता। इन दोनों में कई बातों में भिन्नता अनिवार्य है। अतः ऐसा कोई विवेचन करना कठिन है जो फैसिज्म के सभी रूपों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू हो। दूसरी बाधा यह है कि विविध देशों में जो महान् राजनीतिक विकास हुए हैं, उनका वर्णन करने में इसी एक शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार सन् १६३३ ई० में ऑस्ट्रिया में डॉलफस के तथा स्पेन में रिवीयरा के अधिनायकतन्त्र को भी फैसिस्ट कहा जाता था। कुछ अविवेकी आलोचक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उच्च नेतावर्ग पर फैसिस्ट होने का अभियोग लगाते हैं। यह उचित होगा कि फैसिज्म के अर्थ को इतना व्यापक न करके जो आन्दोलन इटली में इस नाम से चला उसके तथा उससे मिलते-जुलते आन्दोलनों के वर्णन में ही हम इस शब्द का प्रयोग करें।

फैसिज्म के सिद्धान्त—

[अपने आरम्भ में फैसिज्म एक सिद्धान्त की अपेक्षा एक राजनीतिक कार्य-क्रम अधिक था।] उसका संस्थापक मुसोलिनी अपने अनुयायियों से कार्य चाहता था, कोरी बातें नहीं। उसकी यह उक्ति प्रसिद्ध थी—"किसी मत की कोई आवश्यकता नहीं है; अनुशासन ही पर्याप्त है।" एल्फ्रेडो रोक्को ने भी इसी प्रकार से घोषणा की कि फैसिज्म भावना तथा वार्ता से बढ़कर है और ऐसा ही उसे भविष्य में भी रहना चाहिये। इससे अनेक आलोचकों का यह विचार है कि फैसिज्म केवल व्यावहारिक है। यह सत्य है कि फैसिज्म के संस्थापकों ने उसे कोई सैद्धान्तिक आधार प्रदान नहीं किया जैसा मार्क्स ने समाजवाद तथा लेनिन ने बोल्शेविज्म को किया था। यद्यपि फैसिस्टों के कोई ऐसे निश्चित घोषणा-पत्र प्रकाशित नहीं किये गये जिनमें नागरिक तथा राजनीतिक जीवन की इस नवीन कल्पना के उद्देश्यों एवं नीतियों आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया हो, तथापि राज्य की प्रकृति, उसके लक्ष्यों तथा उसके व्यक्ति और समुदाय के साथ सम्बन्ध के विषय में फैसिज्म की अनेक मान्यताएँ हैं, जो मार्क्स के समाजवाद, बहुवाद, अथवा प्रजातन्त्रवाद से भिन्न हैं। इस प्रकार एक तरह का फैसिस्ट राज-

नीतिक दर्शन बन गया है। सेबाइन के अनुसार फ़ैसिज़्म अस्पष्ट है क्योंकि "यह ऐसे विचारों का संकलनमात्र है, जो विविधि स्रोतों से प्राप्त किये गये हैं और परिस्थिति की आवश्यकतों के अनुकूल होने के कारण एकत्रित कर लिये गये हैं।" उसने यह भी उल्लेख किया है कि यह सिद्धान्त विवाद द्वारा परिष्कृत नहीं है और प्रायः भावुकतापूर्ण भी है। यह नीत्शे के 'सत्ता की इच्छा' के सिद्धान्त (Will to Power), हेगल के राष्ट्रवाद और बर्गसन के बुद्धि-विरोधवाद को एक में शामिल करने का प्रयत्न है।* इसका राज्य का सिद्धान्त अधिकांश में आदर्शवादी है। इसकी शासन की कल्पना, जिसमें साधारण जनता से भिन्न कुछ देशभक्त, सुयोग्य और कर्तव्य भावना से युक्त योग्य पुरुषों के कुलीनतन्त्र को ही स्थान दिया गया है, अफलातून की याद दिलाती है। इस प्रकार विविध प्रकार के विचारों को लेकर, जिनमें प्रायः एक दूसरे से असङ्गति है, फ़ैसिज़्म का सिद्धान्त बनाया गया है। फ़ैसिस्ट दर्शन, वह जैसा भी है, उन तथ्यों तथा घटनाओं की, जो बीत चुकी हैं, व्याख्या है और उनका समर्थन है। इसके सिद्धान्त उन घटनाओं का औचित्य सिद्ध करते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्त—

प्रमुख फ़ैसिस्ट अपने राजनीतिक दर्शन में अपने समस्त राज्य की 'कल्पना' (Myth) रखते हैं और उसके प्रति भक्ति के महत्व पर अधिक ज़ोर देते हैं। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में उनका विचार व्यक्तिवादियों, उदारवादियों और प्रजातन्त्रवादियों के विचारों से सर्वथा भिन्न है। समाज या राज्य की अणुवादी (Atomistic) अथवा यान्त्रिक (Mechanistic) कल्पना की जगह, जिसमें व्यक्ति केवल पारस्परिक लाभ की दृष्टि से ही एकत्रित हुए माने जाते हैं, फ़ैसिज़्म राज्य को सेन्द्रिय कल्पना स्वीकार करता है। वह राज्य को एक आध्यात्मिक एकता मानता है, जिसके कारण तथा जिसके लिये उनके सदस्यों का जीवन है, जिसका व्यक्तित्व तथा जिसकी इच्छा है, जो सदस्यों (नागरिकों) की इच्छा तथा उनके व्यक्तित्व को प्रेरित करते हैं और उनसे ऊपर हैं। वह राज्य की एकता में विश्वास करता है और ऐसा नहीं मानता कि उसका विभाजन हो सकता है। उसका जीवन अधिक सतत, स्थायी तथा सदस्यों के जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है।

राज्य की इस कल्पना का कि वह एक आध्यात्मिक इकाई है, जो

*Crossman : Government and the Governed, p 257.

उसके नागरिकों के योग से भी अधिक है, व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धों की समस्या पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। राज्य की यान्त्रिक कल्पना के अनुसार, जिसका खण्डन कर फैसिज्म स्वयं अपनी प्रतिष्ठा करना चाहता है, राज्य का ध्येय उन व्यक्तियों के ध्येय से भिन्न नहीं हो सकता जिनसे मिलकर वह बना है; राज्य का सर्वोत्तम हित जनता के सुख तथा कल्याण में है; राज्य जनता के सुख के लिये है। व्यक्तिवाद और उदार प्रजातन्त्र व्यक्ति को ध्येय मानता है और राज्य को केवल साधन-मात्र जिसके द्वारा व्यक्ति अपने ध्येय को प्राप्त करता है। फैसिज्म इस सम्बन्ध को उलटा कर देता है। राज्य एक पूर्ण है और वह सदस्यों के योग से अधिक है; इस प्रकार वह उनके सुख का साधन-मात्र नहीं हो सकता। इच्छा तथा व्यक्तित्व से युक्त एक आध्यात्मिक इकाई होने कारण उसका अपना लक्ष्य या प्रयोजन भी है, जिसको उसे पूरा करना है। उसके सदस्यों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे उसे उस ध्येय की पूर्ति करने में सहायक हों।

राज्य अपने जीवित नागरिकों के योग से केवल उस अर्थ में ही अधिक नहीं है जिसमें एक पूर्ण उसके विधायक भागों से अधिक होता है, वह इस अर्थ में भी अधिक है कि उसमें वर्तमान नागरिकों के अतिरिक्त वे नागरिक भी सम्मिलित हैं जो इस समय नहीं हैं तथा जो भविष्य में जन्म लेने वाले हैं। राष्ट्र या समाज केवल उन व्यक्तियों से ही नहीं बनता, जो एक निश्चित प्रदेश में किसी समय रहते हैं; उसके अन्तर्गत असंख्य सन्ततियों का समावेश होता है। इस प्रकार राज्य केवल जीवित सदस्यों का ही नहीं होता, वह तो उन्हें एक उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का जीवन उसके सदस्यों के जीवन की अपेक्षा किस प्रकार अधिक सतत, स्थायी और महत्वपूर्ण होता है।

जब इस प्रकार के हितों तथा व्यक्ति, या समस्त व्यक्तियों के हितों में परस्पर विरोध होता है, तब राज्य के हितों को मान्यता मिलनी चाहिये। राज्य का सच्चा ध्येय तो राष्ट्र को शक्तिशाली और महान् बनाना है, व्यक्तियों के कल्याण के लिये प्रयत्न करना नहीं। राष्ट्र से पृथक् व्यक्ति का कोई भी व्यक्तित्व नहीं है। वह अपने व्यक्तित्व का विकास राज्य के विरोध में नहीं वरन् उसके प्रति अपने उचित कर्तव्य-पालन द्वारा करता है। राष्ट्रीय ध्येय की सिद्धि के लिये जो उसके ध्येय से कहीं बड़ा है अपने साथियों के सहयोग से प्रयत्न करके वह अपनी प्रकृति का

विकास करता है और जो कुछ वह बन सकता है बनता है। राष्ट्र की सेवा से विमुख वह अपनी प्रकृति का विकास नहीं कर सकता। राज्य की सेवा उसे उससे भी उच्च स्तर पर ले जाती है जिस पर वह अपने व्यक्तिगत ध्येय की प्राप्ति में लगा रहने पर पहुँच सकता है। सच्चा व्यक्तित्व इसी में है कि व्यक्ति अपने को राज्य जैसे अधिक विशाल व्यक्तित्व में मिला दे, केवल अपने व्यक्तिगत हितों की रक्षा में ही लगा रहने में नहीं। "मानव का समस्त मूल्य तथा उसकी समस्त आध्यात्मिक वास्तविकता उसे राज्य से ही प्राप्त होती है। इस प्रकार राज्य स्वयं अपना साध्य हो जाता है। "यही अन्तिम ध्येय है जिसको व्यक्ति के विरुद्ध जिसका सर्वोच्च कर्तव्य राज्य का सदस्य बनना है, सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं।" रोको ने लिखा है कि "समाज लक्ष्य है, व्यक्ति साधन है और राज्य का सम्पूर्ण जीवन व्यक्तियों को अपने ध्येय की सिद्धि के लिये साधन के रूप में प्रयोग करने में है।" इस प्रकार फैसिज्म राज्य के नाम पर व्यक्ति का निषेध करता है।

राष्ट्रीय तथा सामाजिक ध्येयों को प्राथमिकता देने में फैसिज्म स्पष्ट रूप से उदारवाद (Liberalism) के विरुद्ध है, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को शासन का मुख्य लक्ष्य मानता है; वह उपयोगितावाद (Utilitarianism) के भी विरुद्ध है जो अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक कल्याण चाहता है; वह सब प्रकार के समाजवाद के भी विरुद्ध है जो किसी एक वर्ग के आर्थिक हितों पर ध्यान देता है। इनमें से किसी ने सम्पूर्ण राष्ट्र का विचार नहीं किया और न किसी ने वर्तमान् के सिवाय भावी पीढ़ियों के प्रति वर्तमान् पीढ़ी के कर्तव्य का ही विचार किया।

प्रजातन्त्र की इस मान्यता के निषेध के साथ कि राज्य का लक्ष्य व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहायता देना है फैसिज्म व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार का भी निषेध करता है। विचार, भाषण तथा सभा की स्वतन्त्रता तथा अन्य स्वतन्त्राओं का आधार यह है कि वे मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिये अनिवार्य हैं। यदि यह राज्य का लक्ष्य नहीं है, तो इन स्वतन्त्रताओं की मान्यता की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। फैसिस्ट मत में स्वतन्त्रता प्रकृति की स्वाभाविक देन नहीं है, वह तो राज्य द्वारा प्रदत्त वस्तु है। वह व्यक्ति को उतनी ही स्वतन्त्रता दे देता है जितनी उसकी (राज्य की) सुविधा में बाधा नहीं डालती। राज्य को

ही यह निर्णय करने का पूर्ण अधिकार है कि व्यक्तियों को किस सीमा तक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। वह उन्हें शान्ति-काल में एक प्रकार की स्वतन्त्रता देगा और युद्ध-काल में दूसरी प्रकार की ; समृद्धि के समय वह उन्हें एक प्रकार की स्वतन्त्रता देगा तथा अभाव के समय दूसरी तरह की। कुछ फैसिस्ट तो यहाँ तक कहते हैं कि जनता को स्वतन्त्रता की नहीं वरन् कानून और व्यवस्था की आवश्यकता है। कुछ भी हो, फैसिज्म में व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये कोई स्थान नहीं है।

व्यक्ति के निषेध का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि इससे उसकी स्वतन्त्रता का निषेध होता है ; इसमें मानवीय समता का भी निषेध है जिसे प्रजातन्त्र अपने सिद्धान्त का आधारभूत अंग मानता है। फैसिज्म मानवीय समता के आदर्श को दुर्बल बनानेवाले मानता है और वह उसके स्थान पर मानवीय विषमता (असमता) में विश्वास करता है जिसका कोई इलाज नहीं है और जो लाभप्रद भी है। यह विषमता किसी सार्वलौकिक प्रौढ़ मताधिकार जैसी यान्त्रिक विधि से दूर नहीं की जा सकती। जनता सदैव कुछ प्रमुख व्यक्तियों के अधीन रहेगी। वह उन महान् व्यक्तियों के समक्ष झुकने के लिये सदैव प्रस्तुत रहती है जिनमें वह अपने विचारों तथा आदर्शों का साक्षात्कार करती है, जनता को नेतृत्व की आवश्यकता है और नेतृत्व के गुण कतिपय व्यक्तियों में ही मिल सकते हैं। राज्य में सत्ता तथा उत्तरदायित्व के पद ऐसे ही व्यक्तियों को मिलने चाहिये। जनता को जिसमें शासन तथा राष्ट्र के पथ-दर्शन की योग्यता नहीं होती इससे पृथक् ही रखना चाहिये। राज्य में उसका एकमात्र कार्य है राज्य के अधिकारियों से आदेश प्राप्त करना और जो कार्य उसे सौंपा गया है, उसका सम्पादन करना। इस प्रकार फैसिस्ट राज्य असमान इकाइयों का एक सोद्देश्यात्मक संगठन है। स्वतन्त्रता, समता और बंधुत्व के प्रजातन्त्रीय नारे के स्थान पर फैसिज्म का नारा है—उत्तरदायित्व, अनुशासन तथा उच्च अधिकारियों का शासन। फैसिज्म की राज्य तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध की इस कल्पना के साथ लोक-प्रभुत्व की कल्पना का भी निषेध है जो प्रजातन्त्र का आधार-स्तम्भ है। यदि राज्य ध्येय है और व्यक्ति उसकी महानता तथा गौरव प्राप्त करने के साधन मात्र हैं, यदि राज्य का जीवन इन व्यक्तियों का अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये एक साधन के रूप में प्रयोग करना है, यदि जनता में राष्ट्र के शासन तथा पथ-दर्शन की कोई योग्यता नहीं है, यदि

वह शासन को उन जटिल समस्याओं को नहीं समझ सकती जो उसके समक्ष हैं और यदि जनता का केवल यही कार्य है कि उसके नेता जैसा भी उसे आदेश दें, वह मौन होकर उनका पालन करती जाय तब यह सुस्पष्ट है कि जनता में प्रभुत्व नहीं रह सकता, वह तो राष्ट्र में ही रह सकता है।

सामान्य इच्छा का जो विश्लेषण फैसिज्म के अनुसार किया जाता है, वह भी लोक-प्रभुत्व का खण्डन करता है। उदार प्रजातन्त्रवादी मानते हैं कि राज्य सामान्य इच्छा का साकार रूप होता है और शासन को उसकी अभिव्यक्ति तथा सिद्धि करनी चाहिये। वह इस बात में भी विश्वास करता है शासन को सामान्य इच्छा के निकटतम लाने का सर्वोत्तम मार्ग है उसे सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार पर आधारित करना। जब यह प्रकट हो गया कि सार्वलौकिक मताधिकार से आशाजनक परिणाम नहीं निकला, तब जनता की शिक्षा पर ज़ोर दिया जाने लगा। जनता की शिक्षा से भी कोई सुधार नहीं हुआ और उसके परिणाम असन्तोषप्रद बने रहे। फैसिस्ट कहते हैं कि ऐसा इसलिये है कि सामान्य इच्छा प्रयोजन का प्रश्न है; प्रयोजन से पृथक् केवल व्यक्तियों की गणना का नहीं। चूँकि प्रयोजन जाने नहीं जा सकते, इस कारण मतदान से हम सामान्य इच्छा का पता नहीं चला सकते, विशेषकर तब तक जब तक कि अधिकांश लोग स्वार्थी रहते हैं। इसका केवल एक ही मार्ग है और वह है उन व्यक्तियों के निर्णय पर आश्रित रहना जिनके अहंकार पर साधारणतया उनकी सामाजिक भावना, देशभक्ति तथा उच्च नैतिक लक्ष्य का प्राधान्य रहता है तथा जिन्हें सामाजिक नियमों का ज्ञान एवं अनुभव है।*

इन आधारभूत विचारों का स्वाभाविक परिणाम यह है कि फैसिज्म प्रजातन्त्रीय जन-शासन के विरुद्ध बुद्धिमान् मनुष्यों के कुलीनतन्त्रीय शासन के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और उसी को उसने अपना लक्ष्य बनाया है। इसका यह अर्थ हुआ कि राज्य की जनता को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—स्वाभाविक शासकों का वर्ग तथा स्वाभाविक शासितों का वर्ग। पहले वर्ग में ऐसे व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जो देशभक्त, कर्तव्यपरायण तथा नैतिक होते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों का यह कार्य है कि वे कानून बनावें, जिनका शेष समाज को पालन करना पड़ता

* Barnes : Fascism (Home University Library Series) p. 109.

है और ऐसे व्यक्ति सदैव अल्पसंख्यक होते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, फैसिज्म जनता में राष्ट्र के शासन तथा पथ-दर्शन की योग्यता नहीं मानता। वह सदैव कुछ थोड़े से प्रधान व्यक्तियों के नेतृत्व में कार्य करती है। इस प्रकार जन-शासन का प्रजातांत्रिक आदर्श, अव्यावहारिक तथा काल्पनिक माना जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि लोक-प्रभुत्व के विचार को अस्वीकार करके फैसिज्म जनता को राज्य के शासन-कार्य में भाग लेने से सर्वथा वंचित नहीं रखता। जिस व्यक्ति में आवश्यक नैतिक तथा सामाजिक भावना तथा अन्य आवश्यक गुणों का विकास हो जाता है उसे प्रभुत्व-सत्ता में भाग लेने का अधिकार मिल जाता है। फैसिज़्म योग्यता के अनुसार उत्तरदायित्व प्रदान करता है, परन्तु इसका निश्चय कौन करेगा कि अमुक व्यक्ति में आवश्यक गुण विकसित हो गये हैं या नहीं। इस सम्बन्ध में फैसिज्म मौन है। उसके पास इस प्रश्न का कोई युक्तिसगत उत्तर नहीं है। व्यवहार में शासक स्वय-नियुक्त हैं, वे शासन करते हैं क्योंकि उन्हें शासन करना चाहिये।

निगमात्मक अथवा संहत राज्य (Corporative State)—

राज्य के फैसिस्ट सिद्धान्त के एक दूसरे पहलू पर भी विचार करना आवश्यक है। यह है उसका सहत (Corporative) राज्य का सिद्धान्त जो राज्य की प्रकृति की पुरानी अणुवादी (Atomistic) कल्पना का खण्डन करता है। फैसिज्म यह मानता है कि अन्त में, राज्य असम्बद्ध व्यक्तियों से मिलकर नहीं बना है परन् ऐसे व्यक्तियों से बना है जो समाज मे विविध कार्य करने वाले समुदायों के रूप में सङ्गठित हैं; वह व्यावसायिक समुदायों का सङ्गठन है। इस प्रकार के व्यावसायिक समुदाय स्वाभाविक तथा आवश्यक होते हैं। प्रत्येक ऐसा समुदाय राज्य के सङ्गठित जीवन में कुछ आवश्यक कार्य का सम्पादन करता है जिसके लिये वह राज्य के प्रति उत्तरदायी है। इस प्रकार का प्रत्येक समुदाय निगम (Corporation) कहलाता है। इस निगम के द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति राज्य के गतिशील जीवन में अपने कर्तव्य का सम्पादन करता है। उसी में और उसी के द्वारा वह दूसरों के साथ शामिल होता है जो समाज की यही सेवा करते हैं।

सामाजिक जीवन में इन व्यावसायिक समुदायों के महत्व पर फैसिज्म में जो जोर दिया गया है उसके कारण उसमें तथा गिल्ड-

समाजवाद और सिण्डीकेलिज्म में सादृश्य है। परन्तु चूँकि फैसिज़्म की यह मान्यता है कि व्यावसायिक समुदाय राष्ट्रीय सहयोग के लिये हैं, वर्गीय प्रतियोगिता के लिये नहीं ; इस कारण वह उनसे मौलिक रूप से भिन्न है। प्रत्येक समुदाय का इस प्रकार से संगठन होना चाहिये कि वह राज्य की सेवा में दूसरे समुदायों के साथ आसानी के साथ सहयोग कर सके। इस लक्ष्य को प्राप्ति के लिये निगमों का संगठन ट्रेड यूनियनों के संगठनों से भिन्न रीति से किया जाता है। निगम एक स्वतन्त्र संस्था नहीं है ; उसका ऊपर से राज्य द्वारा नियन्त्रण होता है। उसके अधिकारी राज्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, उसके सदस्यों द्वारा उनका चुनाव नहीं होता। उसका सदस्य भी हरेक नहीं बन सकता; उसे यह अधिकार है कि वह किसी को सदस्य बनने से रोक दे। "इस प्रकार निगम राज्यरूपी पूर्ण के अधीन अग हैं, विशिष्ट प्रणालियाँ हैं जिनमें होकर राज्य की सत्ता का विशिष्ट प्रयोजनों के लिये प्रवाह तथा प्रसार होना है।"* स्वयं मुसोलिनी ने राज्य के इस सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार कहा है : "फ़ैसिस्ट राज्य ने अपने अन्तर्गत राष्ट्र की आर्थिक क्रियाओं को भी शामिल कर लिया है और जिन सामाजिक तथा आर्थिक निगम-संस्थाओं को उसने जन्म दिया है उनके द्वारा वह अपना प्रभाव राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक भाग पर डालता है और राष्ट्र की समस्त आर्थिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को जो अपने संगठनों में सगठित है अपने मे सम्मिलित करता है।"† इस अवतरण से यह सर्वथा स्पष्ट है कि फैसिज़्म इन निगमों के द्वारा समाज के समस्त औद्योगिक एवं आर्थिक जीवन पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है और इस प्रकार इन क्षेत्रों में भी स्वराज्य का अधिकार जनता को नहीं देता। मजदूर तथा मालिक दोनों ही अपनी स्वतन्त्र संस्थाओं से हाथ धो बैठते हैं और निगमों में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं। निगमात्मक राज्य का यह सिद्धान्त किसी बड़ी सीमा तक इटली में स्थापित नहीं हो सका, यद्यपि फैसिस्ट लेखकों ने अपने लेखों में इसे बड़ा प्राधान्य दिया है। सन् १९३४ ई० तक इटली में एक भी निगम की स्थापना नहीं हुई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के कुछ वर्ष पूर्व तक केवल २२ निगमों की स्थापना हुई थी। मज़दूर तथा मालिक दोनों को समान रूप में उनमें प्रतिनिधित्व प्राप्त था।

* Joad: Guide to Philosophy of Morals and Politics, p. 653.
† Ibid. p. 653.

उपभोक्ता-समाज के प्रतिनिधित्व के लिये भी कुछ बाहरी व्यक्तियों को उनमें स्थान दिया गया था।

फैसिज्म का दूसरा मौलिक सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से सच्चा ध्येय सत्ता है, सम्पत्ति या सुख नहीं। इस सिद्धान्त के कारण भी फैसिज्म अनेक बातों का समर्थन और अनेक बातों का निषेध करता है। सबसे पहले वह इस बात का निषेध करता है कि व्यक्तियों की भौतिक समृद्धि, कल्याण एवं सुख राज्य के कार्यों का लक्ष्य हैं। फैसिज्म राजनीति में हर प्रकार के उपयोगितावाद का निषेध करता है। राज्य सत्ता है और उसे अपनी सत्ता में वृद्धि करनी चाहिये। दूसरे, इस दृष्टिकोण का परिणाम है इच्छा और युद्ध का गौरव-गान। वह सैनिक गुणों को प्रोत्साहन देता है और शिक्षा को सैनिक शिक्षण के अधीन कर देता है। मुसोलिनी के अनुसार "फैसिज्म न तो स्थायी शान्ति की सम्भावना में विश्वास करता है और न उसकी उपयोगिता में ही; युद्ध ही समस्त मानवीय शक्ति को उच्चतम शिखर तक पहुँचाता है और जो युद्ध का सामना करने का साहस रखते हैं, उन व्यक्तियों पर श्रेष्ठता की मुहर लगाकर देता है।" इसी प्रकार हिटलर ने भी अपना विचार प्रकट किया है: "सनातन युद्ध में ही मानव जाति महान् हो सकी है और सनातन शान्ति में उसका विनाश हो जायगा।" इस प्रकार युद्ध के गौरव-गान का अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह तो स्पष्ट है।

समाज का शासक तथा शासित इन दो वर्गों में विभाजन, जिसका पिछले पृष्ठों में विचार किया गया है, अपने महत्व के कारण फैसिज्म का तीसरा मुख्य सिद्धान्त है। 'इच्छा का बल' श्रेष्ठ वर्ग का एक लक्षण है, जिसके कारण वह आम जनता से भिन्न होता है। जनता स्वाभाविक रूप से उन लोगों का अनुसरण करती है।

स्वयं मुसोलिनी ने राज्य के फैसिस्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार किया है: "फैसिज्म के लिये राज्य निरंकुश है और व्यक्ति तथा समुदाय सापेक्ष हैं। फैसिस्ट राज्य रात का चौकीदार नहीं है जो जनता की व्यक्तिगत रक्षा के लिये ही लालायित हो और न राज्य का सङ्गठन इसलिये हुआ है कि वह नागरिकों के भौतिक कल्याण तथा शान्तिमय जीवन की व्यवस्था के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा

करे।] इतना सा कार्य तो निर्देशकों का बोर्ड भी कर सकता है। न राज्य पूर्णतया राजनीतिक ही है, जिसका वास्तविक स्थितियों से कोई सम्बन्ध न हो अथवा जो राष्ट्र तथा नागरिकों के विविध कार्यों से पृथक् हो। फैसिज़्म की कल्पना के अनुसार राज्य राष्ट्र के राजनीतिक, न्यायिक तथा आर्थिक सङ्गठन की प्राप्ति के लिये एक आध्यात्मिक सत्ता है। वह ऐसा सङ्गठन है जो अपनी उत्पत्ति तथा विकास में आत्मा की अभिव्यक्ति है। राज्य देश की आन्तरिक तथा वाह्य सुरक्षा की गारण्टी देता है; किन्तु वह जनता की आत्मा की भी रक्षा करता है जो युग-युग से उसकी भाषा, उसके लोकाचार और उसके धर्म द्वारा विकसित होती रही है। [राज्य केवल वर्तमान ही नहीं है, वह अतीत है और भविष्य भी है] व्यक्ति के अल्प जीवन का अतिक्रमण करके राज्य राष्ट्र के अन्तःकरण का प्रतिनिधित्व करता है। जिन रूपों में उसकी अभिव्यक्ति होती है वे परिवर्तित होते रहते हैं परन्तु राज्य के लिये आवश्यकता बनी रहती है। राज्य नागरिकों को नागरिकता की शिक्षा देता है, वह उन्हें उनका उद्देश्य बतलाता है; उन्हें एकता के लिये प्रेरित करता है; उसका न्याय उनके विविध हितों में एकता स्थापित करता है; वह भावी सन्तान को कला, विज्ञान, क़ानून तथा मानव-संगठन के क्षेत्रों में जो मस्तिष्क ने सफलताएँ प्राप्त की हैं उन्हें विरासत के रूप में देता है; वह उन्हें एक क़बीले के जीवन से मानव-शक्ति के उच्चतम रूप, साम्राज्य-शासन को पहुँचाता है। उसमें मानव के नैतिक तथा बौद्धिक जीवन की समस्त अभिव्यक्तियों का योग है। अतः राज्य का कार्य केवल इतना ही नहीं हो सकता कि वह नागरिकों में सुरक्षा तथा शान्ति कायम रखे। वह व्यक्ति के उस क्षेत्र का निर्देश करने के लिये जिसमें वह अपने कल्पित अधिकारों का प्रयोग कर सके कोई यान्त्रिक विधि नहीं है। फैसिस्ट राज्य व्यवहार तथा अनुशासन का अन्तरात्मा द्वारा स्वीकृत किया हुआ आदर्श है; सम्पूर्ण शरीर का अनुशासन है। उसका इच्छा तथा बुद्धि दोनों में प्रवेश है। [फैसिज़्म एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जो सभ्य समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य का, उसके व्यक्तित्व में गहरा समाकर, केन्द्रीय उद्देश्य बन जाता है] यह कर्मयोगी तथा विचारक के हृदय में तथा कलाकार और वैज्ञानिक की आत्मा में निवास करता है, वह उसकी आत्मा की भी आत्मा है।" (फैसिज़्म का सिद्धान्त)।
ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके आलोक में यह कहा जा सकता है कि

"प्रत्येक चीज राज्य के लिये है; राज्य के विरुद्ध कोई भी चीज नहीं है; राज्य के बाहर भी कुछ नहीं है।"

फैसिज्म के आर्थिक सिद्धान्त—

फैसिज्म के आर्थिक सिद्धान्त उसके राजनीतिक सिद्धान्त के ही अनुरूप हैं। वे आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद का उसी प्रकार खण्डन करते हैं जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद का उसके राजनीतिक सिद्धान्त खण्डन करते हैं। फैसिज्म व्यक्तिवाद के उतना ही विरुद्ध है जितना कि समाजवाद के। वह पूँजीवाद की समाजवादी आलोचना को स्वीकार करता है; परन्तु समाजवाद उसका जो समाधान बतलाता है, उसे स्वीकार नहीं करता। वह पूँजीवाद द्वारा मजदूरों के निर्दय शोषण, उनके अल्प वेतन, लम्बे घण्टों तक काम, पूँजीपतियों के अत्यधिक मुनाफे आदि पूँजीवादी प्रणाली के परिणामों की निन्दा करता है। वह समाजवाद की इस उक्ति को भी मानता है कि पूँजीवाद के गर्भ में उसके नाश के बीज हैं और यदि उसका नियन्त्रण नहीं किया गया तो उससे मानव जाति तथा सभ्यता का नाश हो जायगा। परन्तु वह समाजवाद के इस समाधान को स्वीकार नहीं करता कि पूँजीवादी वर्ग का नाश कर दिया जाय। वह यह मानता है कि देश में उत्पादन के चरमोत्कर्ष के लिये इस वर्ग की आवश्यकता है। वह पूँजी के राष्ट्रीयकरण तथा स्थानीयकरण को केवल सैद्धान्तिक मानता है जिसका व्यवहार में प्रयोग सम्भव नहीं है। उसके विचार में यह मानव शक्ति के बाहर की बात है। फैसिज्म वर्गहीन समाज की समाजवादी योजना को नहीं मानता। उसकी दृष्टि में सामाजिक अभिवृद्धि के लिये मजदूर-वर्ग तथा पूँजीपति वर्ग दोनों की आवश्यकता है। वह दोनों वर्गों की रक्षा करना और समाज के लक्ष्यों की पूर्ति में उनका सामंजस्यपूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिये उनके कार्यों का नियमन करना चाहता है। इस प्रकार वह मजदूर तथा उद्योगपति वर्ग दोनों के अधिकारों की रक्षा के लिये उत्सुक है। जहाँ एक ओर वह मज़दूरों को भूखों मरते नहीं देख सकता और न पूँजीपतियों द्वारा निर्दयतापूर्वक उनका आर्थिक शोषण ही होने देना चाहता है, वहाँ दूसरी ओर वह मज़दूरों द्वारा पूँजीपतियों का खात्मा कर देने तथा उद्योगों के मज़दूरों के हित में संचालन करने की नीति का भी विरोधी है। इस प्रकार फैसिज्म न तो उद्योगपतियों को अपने हित में उद्योगों पर आधिपत्य तथा नियन्त्रण करने देता है और न

उद्योगों को मज़दूर-सङ्घों (Trade Unions) के हाथों में ही जाने देता है। वह मज़दूरों तथा मालिकों दोनों को राज्य के नियन्त्रण एवं नियमन में रखता है। फैसिज़्म "राज्य का समाज के सामाजिक जीवन तथा आर्थिक जीवन के नियन्त्रण का अन्तिम अधिकार मानते हुए आर्थिक मामलों को जहाँ तक सम्भव है व्यक्तिगत उद्योगपतियों के हाथों में ही रहने देना चाहता है।"*

राष्ट्र में उत्पादन-शक्ति को उच्चतम स्तर पर बनाये रखने तथा आर्थिक स्वतन्त्रता की एक आवश्यक शर्त के रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में फैसिज़्म व्यक्तिवाद (Individualism) से सहमत है परन्तु वह इस अधिकार को बिलकुल निर्विवाद नहीं मानता। फैसिज़्म व्यक्तिवाद से इस बात में भिन्न है कि वह सब प्रकार की सम्पत्ति को एक प्रकार से सार्वजनिक निक्षेप (Trust) मानता है जो सदा राष्ट्रीय हितों की अधीनता में व्यक्ति के पास रहती है। इस प्रकार फैसिज़्म बड़े उद्योग-व्यवसायों पर नियन्त्रण करता है और समाजवाद के समीप आ जाता है। यह फैसिज़्म का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फैसिज़्म धनोपार्जन को मानवीय उद्योग का सच्चा लक्ष्य नहीं मानता। वह अधिकतम राष्ट्रीय सम्पत्ति की अभिवृद्धि को एक स्वस्थ सामाजिक प्रणाली की अभिवृद्धि की, जिस पर लोक-कल्याण निर्भर है, अधीनता में रखता है।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि इटली में उद्योगों का नियन्त्रण निगमों द्वारा होता था। कानून द्वारा हड़तालों तथा मिलबन्दी (Lock outs) का निषेध था।

फैसिज़्म का बुद्धिवाद-विरोध—

यहाँ यह उचित होगा कि फैसिज़्म के बुद्धिवाद-विरोध अथवा अबौद्धिकवाद (Anti Intellectualism of Irrationalism) के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डाला जाय जो फैसिज़्म का एक मुख्य लक्षण है और उसके राज्य के सिद्धान्त की आदर्शवादी प्रवृत्ति से असंगत है। इस अबौद्धिकवाद की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है। सबसे प्रथम, इसका यह अर्थ है कि फैसिज़्म का किसी निरपेक्ष सत्य या कुछ निरपेक्ष सत्यों में विश्वास नहीं है जिनकी तर्क द्वारा खोज की जा सके और जो दूसरों को बतलाये जा सकें। फैसिज़्म के निश्चित सिद्धान्तों के अभाव का एक

*Cole : Review of Europe Today, p. 633.

कारण शायद बुद्धि में अविश्वास भी है। उसके विचार मे जिसको राज्य सत्य कहे वही सत्य है। दूसरे, इस बुद्धिवाद-विरोध से यह प्रकट होता है कि कम से कम राजनीति में मनुष्य के विचारात्मक तथा विवेकात्मक पक्ष की अपेक्षा उसकी अन्तर्जात प्रवृत्ति तथा उसका अविवेकी पक्ष ही अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिये राजनीतिक सत्ता संस्थागत होने की अपेक्षा व्यक्तिगत होनी चाहिये। समस्त राजनीतिक प्रक्रिया बुद्धि की अपेक्षा भावना तथा इच्छा के क्षेत्र मे होनी चाहिये। इस प्रकार फैसिज्म इस प्रजातन्त्रीय विचार का खण्डन करता है कि शासन-सम्बन्धी समस्याओं का विवेकपूर्ण समाधान विचार-विमर्श तथा बहस के द्वारा सम्भव है। इस आधार पर वह शासन के सासद रूप पर आक्षेप करता है। वह पार्लमेंट का कार्य नहीं है कि वह सभा-भवन मे विचार, बहस तथा मतदान द्वारा साधारण इच्छा का निर्धारण तथा उसकी अभिव्यक्ति करे और उस इच्छा को कार्यपालक विभाग पर लादे। वास्तव में पार्लामेण्ट का कार्य तो राष्ट्रीय विचार के व्यक्तियों के भावों एवं विचारों को शासन के इस अङ्ग के सामने अभिव्यक्त करना है। राष्ट्र की इच्छा को प्रकट करने के माध्यम के रूप मे पार्लामेण्ट वृथा है। तीसरे, यदि राजनीतिक प्रक्रिया मनोभाव के क्षेत्र मे ही होती है, तो नेता को चाहिये कि वह बुद्धिपरक तर्कों द्वारा नहीं वरन् जनता के मनोभावों को स्पर्श करनेवाले साधनों से काम ले। जहाँ तक जनता से सम्बन्ध है, राजनीतिक आन्दोलन के पीछे जो शक्ति होती है, वह उसकी बुद्धि से नहीं वरन् उसके जोश से प्राप्त होती है। इस कारण फैसिस्ट नेता को लोगों के सामने सुझाव रखने, उन पर मोहन-मन्त्र का प्रयोग करने तथा प्रचार करने की कलाओं में पारंगत होना चाहिये। उसे विद्वान् तथा सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा एक व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक तथा एक अच्छा सङ्गठनकर्ता होना चाहिये।

फैसिस्ट रीतियाँ—

फैसिज्म अपने बुद्धिवाद विरोध और राज्य की एक सत्ता के रूप में कल्पना के कारण दमन तथा दबाव को राजकीय कार्य की सर्वोत्तम रीति समझता है। चूँकि उसके विचार में जनता मे बुद्धि बहुत कम होती है इसलिये वह यह सम्भव नहीं समझता कि बुद्धिवाद तथा नैतिक साधनों द्वारा कार्य हो सकेगा। फैसिज्म बल-प्रयोग के द्वारा शासन करता है और इसके लिये वह आवश्यकतानुसार जासूसों तथा इसी प्रकार की

अन्य रीतियों का प्रयोग करने में कभी नहीं हिचकता। यदि जनता शासन को प्रेम नहीं करती तो उसमें शासन के प्रति भय पैदा करना चाहिये। राजनीतिक नेता का सर्वोच्च कर्तव्य अपने पक्ष में लोक-समर्थन प्राप्त करना नही वरन् अपने प्रति सम्मान का भाव तथा जनता में आज्ञापालन की भावना का प्रादुर्भाव करना है और इसके लिये वह सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग कर सकता है।

यह समझना वास्तव में एक महान् भूल होगी कि फैसिस्ट लोग अपने ध्येय की पूर्ति के लिये विशुद्ध आतंकवाद और दमन का प्रयोग करते हैं। शक्ति और दमन उनके अन्तिम अस्त्र नहीं हैं और उनका प्रयोग तभी किया जाता है जब कि उनके दूसरे साधन विफल हो जाते हैं। साधारणतया वे एक बड़ी सीमा तक प्रचार (Propaganda) पर निर्भर रहते हैं जिसे उन्होंने एक ललित कला का रूप दे दिया है। समस्त फैसिस्ट देशों में एक विचार-सचिवालय होता है जिसका मन्त्री बहुत ही कार्यपटु व्यक्ति होता है। यही नहीं, वे बाल्यकाल से ही बालकों के मन पर फैसिज्म का प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। फैसिस्ट शासन की सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली का नियोजन इस प्रकार से किया जाता है कि बाल्यावस्था से ही उनमें फैसिस्ट विचारों के संस्कार पड़ जायें और उनमें राष्ट्रीय राज्य के आदर्श एवं सिद्धान्तों के लिये उत्कट भावना उत्पन्न हो जाये। उसका ध्येय बुद्धि का विकास करना नहीं वरन् सबल शरीर तथा चरित्र का निर्माण करना है। यह बात उनके किसी वस्तुगत तथा नित्य सत्य के निषेध के अनुकूल ही है।

फैसिज़्म के कुछ अन्य लक्षण

(१) फैसिस्ट राष्ट्रीयता—

फैसिज़्म अपनी प्रकृति में तीव्र रूप से राष्ट्रीय है। वह राष्ट्रीय राज्य को सर्वोच्च राजनीतिक सङ्गठन और प्रभुत्वसम्पन्न मानता है। वह राज्य के प्रति भक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की भक्ति को स्वीकार नहीं करता, चाहे वह अपनी अन्तरात्मा के प्रति हो या कम्युनिस्ट इण्टर-नेशनल जैसी किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के प्रति। जर्मन या इटालियन, चाहे जिस देश में वह रहे, वह प्रथम और अन्तिम रूप से जर्मन राइक का या इटालियन साम्राज्य का सदस्य है और उसके प्रति भक्ति रखता है। इस प्रकार की राष्ट्रीयता संकुचित है और वह अन्तर्राष्ट्रीयता की शत्रु बन जाती है।

(२) फैसिस्ट पार्लामेण्ट—

फैसिस्ट शासन में प्रजातन्त्रीय शासन की भाँति राष्ट्रीय पार्लामेण्ट को शासन पर नियन्त्रण तथा नियमन का कोई अधिकार नहीं होता। उसके कार्य तो (१) शासन द्वारा जो निर्णय उससे परामर्श किये बिना ही किये गये हैं उन्हें स्वीकार कर लेना तथा (२) समय-समय पर राजनीतिक नेता के वक्तव्यों तथा घोषणाओं के लिये मंच प्रदान करना है। पार्लामेण्ट की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है और वह फैसिस्ट मशीन के एक साधारण से अर्थात अङ्ग मात्र से अधिक कुछ नहीं है। वह ऐसी सभा नहीं है जहाँ राष्ट्रीय नीतियों पर विचार किया जाता हो तथा निर्णय किये जाते हों। वह राष्ट्र की आकांक्षा का निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है। उसके निर्माण के प्रश्न पर विचार करना हमारे लिये आवश्यक नहीं है परन्तु इतना तो कहा जा सकता है उसमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हो सकता जो फैसिस्ट पार्टी को स्वीकार न हो।

(३) फैसिस्ट पार्टी—

फैसिज्म ऐसे किसी भी राजनीतिक दल या दलों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता जिसके सिद्धान्त तथा कार्य-क्रम उसके विरुद्ध हों। इटली में राज-सत्ता प्राप्त करने के बाद जो पहला कार्य मुसोलिनी ने किया वह था समस्त विरोध का अन्त। इस प्रकार वहाँ फैसिस्ट पार्टी ही अकेली राजनीतिक पार्टी रह गई जिसने समस्त राष्ट्रीय जीवन पर ऐसा आधिपत्य स्थापित किया जिसका प्रजातन्त्रीय राज्य में कोई उदाहरण नहीं मिलता। यह फैसिस्ट राज्य की केन्द्रीय संस्था होती है; एक प्रकार से शासन तथा फैसिस्ट पार्टी एक ही वस्तु होती है। पार्टी के सगठन तथा कार्यक्रम के सम्बन्ध में हमें विस्तार के साथ विचार करना अभिप्रेत नहीं है।

(४) फैसिज्म मजदूरों द्वारा हड़ताल करने के अधिकार को नहीं मानता और न वह उद्योगपतियों द्वारा मिलबन्दी को ही स्वीकार करता है। राष्ट्रीय उत्पादन को अधिकतम करने के लिये वह इन दोनों में सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इस ध्येय की प्राप्ति का प्रयत्न निगमों द्वारा किया जाता है। उद्योगपतियों तथा मजदूरों के बीच जो विवाद होते हैं, वे पंचायती निर्णय के लिये एक न्यायालय को सौंप दिये जाते हैं।

(५) फैसिस्ट अधिनायकतन्त्र—

यद्यपि फैसिज्म व फैसिस्ट अधिनायकतन्त्र एक ही वस्तु नहीं है तो

भी व्यवहार में फैसिस्ट शासन अधिनायकीय होता है। इटली में मुसोलिनी की इच्छा सर्वोपरि थी और उसकी सत्ता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता था। जर्मनी में राज्य की समस्त सत्ता हिटलर के हाथों में केन्द्रित थी। फ़ैसिस्ट राज्य सर्वसत्तावादी होता है और एक सर्वसत्तावादी राज्य अधिनायकीय होता है। फैसिज़्म तथा नात्सीवाद को इटली तथा जर्मनी में जो सफलता मिली थी वह अधिनायकीय शासन का ही परिणाम था।

फैसिज़्म की सफलता और उसका भविष्य—

फैसिज़्म ने इटली के लिये तथा नात्सीवाद ने जर्मनी के लिये बहुत कुछ किया। उसने इटली को यह चीज़ दी जिसकी उसे बड़ी आवश्यकता थी—निपुण शासन-प्रबन्ध, आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा, राष्ट्रीय राजस्व में सुधार, अधिकतम औद्योगिक उत्पादन तथा देश के प्राकृतिक साधनों का सर्वोत्तम उपयोग, मज़दूरों एवं मालिकों के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध, यातायात के अच्छे साधन, अच्छे राजपथ, पुल तथा नालियाँ, विदेशों में सम्मान एवं गौरव, "संक्षेप में, इटालियन राष्ट्र के भाग्य में गौरव की अनुभूति"। उसने मरणासन्न राष्ट्र को जीवन-दान दिया है। उसने जनता में एक नवीन उत्साह तथा एक नवीन एकता को जाग्रत किया है। इन कारणों से फैसिज़्म का एक ऐसे अधिनायक के शासन के रूप में गौरव-गान किया जाता था जिसमें कार्य-सम्पादन कराने की क्षमता थी। फैसिज़्म ने अपनी कार्य करने की शक्ति में निस्सन्देह संसद प्रजातन्त्र की अपेक्षा श्रेष्ठता स्थापित कर ली थी। इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर को जो सफलता मिली थी उसके लिये उन्हें अवश्य श्रेय देना चाहिये। उनके जैसे उदाहरण इतिहास में नहीं मिलते।

किन्तु इस चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। फैसिज़्म के आलोचक समाज में बल तथा दमन की प्रतिष्ठा के दोषों की ओर संकेत करते हैं। यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक कार्य में फैसिज़्म बल को सबसे बड़ा साधन मानता है किन्तु केवल बल-प्रयोग से अच्छे स्थायी परिणाम प्राप्त नहीं होते। एक इटालियन विद्वान् की उक्ति है कि 'बल ने जिसका निर्माण किया है, उसका उसने नाश भी किया है।' यह सत्य है। मुसोलिनी और हिटलर ने बल के आधार पर जो ढाँचा तैयार किया था, उनके बाद नहीं रहा। कुछ विद्वानों की राय है कि फैसिस्ट राज्य एक इञ्जन के समान था जिसका निर्माण तेज़ गति तथा आक्रमण के लिये किया

गया था, स्थायित्व के लिये नहीं। बल तथा भय के आधार पर समाज अधिक समय तक संगठित नहीं रह सकता। केवल न्याय और सदाचार ही राज्य के स्थायी आधार हैं। बल राज्य का स्थायी आधार तभी बन सकता है जब कि मनुष्य जाति के विचारों तथा भावनाओं में ऐसा स्थायी परिवर्तन हो जाय कि वे स्वशासन के स्थान पर निरंकुश राज्य को पसन्द करने लगें। किन्तु यह मानने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि इस प्रकार का परिवर्तन जनता की मनोवृत्ति में हो गया है या हो रहा है।

बल तथा उससे उत्पन्न भय उस वातावरण को नष्ट कर देते हैं जिसमें कला और विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति की अभिवृद्धि होती है। कोकर ने कहा है कि 'अधिनायकतन्त्र एक सगठित दण्ड गृह के समान है जिसमें प्रत्येक निवासी को एक कार्य सौंप दिया जाता है और उसकी गतिविधि पर बड़ी सतर्कता से दृष्टि रखी जाती है। यह व्यवस्था समाज के अपराधी तथा दोषी व्यक्तियों के लिये तो ठीक है परन्तु सामान्य व्यक्तियों के लिये, विशेषकर उच्च व्यक्तियों के लिये, वह ठीक नहीं है। राष्ट्र के सार्वजनिक एवं सांस्कृतिक जीवन का केन्द्रीभूत तथा दमनकारी निर्देशन ज्ञान विज्ञान, साहित्य एवं कला के विकास की सम्भावना के लिये घातक है।'*

यह भी दावा किया जा सकता है कि जिन लोगों ने स्वतन्त्रता के फल का स्वाद लिया है वे इस प्रकार की राजनीतिक दासता में रहना पसन्द नहीं करेंगे। यह स्मरण रखना चाहिये कि अधिनायकतन्त्र ऐसी जनता में ही पनप सका है जिसमें संसद शासन-पद्धति ने जड़ नहीं पकड़ी थी। ऐसा विश्वास करना कि अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र के मुकाबले में जीवित रह सकेगा इस बात से इन्कार करना है कि हम सभ्यता में उन्नति कर रहे हैं जिस उन्नति का स्पष्ट अर्थ है भौतिक बल के स्थान पर तर्क-बुद्धि एवं अनुनय का प्रयोग। अधिनायकतन्त्र में कुछ ऐसे दोष भी हैं जो उसे अधिक दिन जीवित नहीं रहने देंगे। एक दोष तो इस तथ्य में पैदा होता है कि निरंकुश सत्ता उसका प्रयोग करने वाले व्यक्ति को बिगाड़ देती है और कर्तव्यभ्रष्ट कर देती है। अधिनायक इस सिद्धान्त के अपवाद नहीं है; समय की गति के साथ उनका भी पतन हो जायगा। एक दूसरी समस्या जिसका इस प्रणाली को सामना करना पड़ता है यह है कि एक अधिनायक की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी कौन होगा।

* Coker : Recent Political Thought, p. 490.

इटली में दूसरा कोई मुसोलिनी नहीं हो सकता और न जर्मनी में दूसरा हिटलर। अधिनायक एक निर्मूल वृक्ष है। उसकी सापेक्ष शक्ति के सम्बन्ध में निर्णय देने से पूर्व हमें उस स्थिति की कल्पना करनी चाहिये जो उसकी मृत्यु के बाद उपस्थित होगी। अन्त में, यह प्रणाली स्वतन्त्रता का विनाश कर देती है। इस प्रकार की स्थिति सब प्रकार की प्रगति के प्रतिकूल है। जनता इसके अत्याचारी शासन को उसी समय तक सहन करेगी जब तक कि उसका समर्थन करने वाला मनोभाव कायम रहेगा। यह कहना कठिन है कि उस मनोभाव के नष्ट हो जाने पर क्या स्थिति होगी। अधिनायक द्वारा अपने देश के नागरिकों को एक नमूने में ढालने का प्रयत्न भी सफल नहीं हो सकता। ऐसा करने का अर्थ होगा व्यक्तियों को पशु बना देना।

अतः हम कह सकते हैं कि कहीं-कहीं कुछ परिस्थितियों में फैसिज़्म उपयोगी सिद्ध हो सकता है परन्तु इस बात में सन्देह है कि वह अधिक समय तक सभी लोगों के लिये एक सामान्य शासन-प्रणाली बन सकता है। इसका कारण यह है कि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, आत्म-अनुशासन तथा मानवीय एकता के आदर्श का, जिसका प्रजातन्त्रीय देश आदर करते हैं, बहुत कम मूल्य समझता है। इस प्रकार फैसिज़्म संकट काल के लिये एक अच्छी अस्थायी व्यवस्था भले ही हो परन्तु सामान्य लोगों के लिये यह सामान्य राजनीतिक व्यवस्था नहीं बन सकता।

फैसिज़्म के विनाश के बाद जो कुछ इटली में हुआ है उससे इस मत की पुष्टि होती है कि अधिनायकीय शासन वैयक्तिक विकास के अनुकूल नहीं होता। मुसोलिनी के शासन के पतन के बाद इटली में जनता की रचनात्मक शक्ति आश्चर्यजनक रीति से फूट निकली है। इटली के शिल्पियों, चित्रकारों, लेखकों आदि ने युद्ध के बाद योरोप को अपनी कलाओं के चमत्कार दिखाये हैं। सिनेमा के एक निर्देशक ने कहा था, "यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि हम सुन्दर चल-चित्र बनाते हैं। फैसिज़्म के अधीन रहना तो शून्य में रहने के समान था। अब हम मुक्त हो गये हैं और हमारे लोग प्रगति कर रहे हैं।"

अध्याय १०

साम्यवाद

पिछले अध्याय में हमने फैसिज्म का वर्णन किया है जो अधिनायकतन्त्र का समर्थक है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद योरोप में इटली के फैसिस्ट अधिनायकतंत्र के अतिरिक्त रूस में भी एक अधिनायकतन्त्र की स्थापना हुई जिसका आधार साम्यवाद है। साम्यवाद समाजवाद का ही एक रूप है। समाजवाद की रूपरेखा का वर्णन करते समय हमने बतलाया था कि समाजवादी कई प्रकार के हैं और पूँजीवाद की आलोचना तथा पूँजीवादी व्यवस्था को हटाकर उसके स्थान पर एक नवीन सहकारी व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य में, जिसमें न व्यक्तिगत पूँजी और न स्वतन्त्र प्रतियोगिता के लिये ही कोई स्थान होगा, सभी समाजवादी सहमत हैं, किन्तु नवीन व्यवस्था को स्थापित करने के ढङ्ग तथा नवीन व्यवस्था के रूप के विषय में उनमें तीव्र मतभेद हैं। आप देख चुके हैं कि समष्टिवादी समाजवादी संसद प्रणाली के पक्षपाती हैं परन्तु अन्य समाजवादी इसके विरोधी हैं। इस अध्याय में हम साम्यवाद का वर्णन करेंगे। समाजवाद के एक रूप की दृष्टि से तो इसका अध्ययन आवश्यक है ही, इसने जो विशिष्ट सर्वसत्तावादी रूप रूस में धारण किया है उसके कारण इसका अध्ययन और भी महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है। इससे रूसी सर्वसत्तावाद तथा इटली के सर्वसत्तावाद का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो सकेगा। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। रूसी सर्वसत्तावाद को साम्यवाद कहने की अपेक्षा 'सोवियतवाद' (Sovietism) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

"साम्यवाद फैसिज्म के समान प्राथमिक रूप में सामाजिक एवं राजनीतिक सङ्गठन का रूप नहीं है; वह एक प्रकार का सामाजिक दर्शन है, जो सोवियतवाद का आधार है और जिससे उसे एक कार्यक्रम प्राप्त

होता है। कॉर्ल मार्क्स ने अपने समाजवादी दर्शन तथा सामाजिक क्रान्ति के कार्यक्रम के लिये साम्यवाद नाम रखा था। रूस में नये राज्य का सङ्गठन करते समय लेनिन ने इस नाम को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार साम्यवाद सोवियतवाद के पीछे काम करनेवाली सामाजिक तथा राजनीतिक विचारधारा है। साधारण वार्तालाप में हम जिस प्रकार फैसिस्ट इटली या प्रजातन्त्रीय इङ्गलैण्ड की बात करते हैं, उसी प्रकार साम्यवादी रूस की भी बात करते हैं। यदि सोवियतवाद तथा साम्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध का ध्यान रखा जाय तो ऐसा कहने में कोई हानि नहीं होगी।

रूसी साम्यवाद का सैद्धान्तिक आधार लेनिन के ग्रंथों तथा साम्यवादी पार्टी के अन्य नेताओं की पुस्तकों में है जो कॉर्ल मार्क्स को अपना आचार्य मानते हैं और 'साम्यवादी घोषणा' (Communist Manifesto) तथा 'पूँजी' (Capital) नामक ग्रन्थों को पवित्र ग्रन्थ मानते हैं। वे यह मानते हैं कि जिस रूसी राज्य-क्रान्ति ने रूस में जारशाही का अन्त और उसके स्थान पर साम्यवादियों द्वारा शासन की प्रतिष्ठा की वह उक्त घोषणापत्र में उल्लिखित आदर्श की सिद्धि करने का प्रयत्न है। अतः यह आवश्यक है कि यहाँ मार्क्स के सामाजिक दर्शन का सूक्ष्म विवेचन किया जाय।

कार्ल मार्क्स का सामाजिक दर्शन

इतिहास की आर्थिक व्याख्या—

मार्क्स जर्मनी के महान् दार्शनिक हेगल का शिष्य था और उसने हेगल के इस सिद्धान्त का खूब प्रचार किया कि "इतिहास राजनीतिक निश्चल-वस्तु-विज्ञान (Statics) का एक अंश नहीं है; वरन् राजनीतिक गति-विज्ञान का अंश है, जिसमें संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा साम्यावस्था (Equilibrium) की स्थापना होती है।" मार्क्स हेगल के इस विचार से सहमत था कि इतिहास एक तार्किक एवं क्रमबद्ध विकास है, परन्तु उससे उसका इस बात में मतभेद था कि इतिहास की यह द्वन्द्वात्मक गति किसी आध्यात्मिक सिद्धान्त के कारण नहीं वरन् जीवन की भौतिक अवस्थाओं का परिणाम है। इस प्रकार मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध "इतिहास की आर्थिक अथवा भौतिकवादी व्याख्या" के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्तियाँ जीवन की भौतिक अवस्थाओं के कारण अर्थात् उत्पादन तथा वितरण के तरीकों में परिवर्तन होने के कारण होती हैं, सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों

या भगवान की इच्छा के कारण नहीं। उनके कारण उनके युग की आर्थिक व्यवस्था में पाये जा सकते हैं, उसके दर्शन में नहीं। राजनीतिक संस्थाएँ, कानून, धर्म, दर्शन, मनुष्यों का समाज के विविध वर्गों में स्थान, इन सबका निर्णय मुख्यकर किसी समय समाज में प्रचलित उत्पादन तथा वितरण की प्रणाली द्वारा होता है। जब इस प्रणाली में परिवर्तन हो जाता है तो उसके साथ ही सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संस्थाओं में भी परिवर्तन हो जाते हैं। सामन्ती समाज की समस्त संस्थाएँ उसकी विशिष्ट लौकिक (Secular) एवं आर्थिक अवस्थाओं के अनुकूल बनाई गई थीं। जब सामन्तवाद का पतन हो गया और उसके स्थान पर राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हुई जिससे वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला तो नवीन आर्थिक सिद्धान्त, सदाचार के नये आदर्शों तथा नये कानूनों का निर्माण हुआ। राष्ट्रीय राज्य की नवीन भावना में भी आगे चलकर परिवर्तन हो गया क्योंकि अब उद्योग की अपेक्षा राजस्व पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। कौसमैन ने इस सिद्धान्त का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है "चर्खा, हल, मुद्रा, कारखाना-पद्धति आदि में से प्रत्येक ने अपने आविष्कार द्वारा दीर्घकाल से प्रतिष्ठित लोकाचारों, नैतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक पद्धतियों को अस्त-व्यस्त कर दिया। युद्ध विज्ञान, यातायात तथा सन्देशवाहन, कृषि, उद्योग और राजस्व के विकास ने भी हमारा जीवन-प्रणाली तथा विचार प्रणाली में परिवर्तन कर दिया है। उत्पादन तथा वितरण की रीतियों में जो परिवर्तन हुए हैं वे इतिहास के द्वन्द्व में प्रधान घटक है। व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों ने सिद्धान्त तथा नरेशों की तरंगें भी इन परिवर्तनों को गति दे सकती थीं या उन्हें शिथिल कर सकती थीं परन्तु वे उन आर्थिक शक्तियों के सामने गौण थीं जिनका इस प्रक्रिया पर नियन्त्रण था।"*

सामाजिक संस्थाओं के प्रति हमारे विचारों तथा हमारी मनोवृत्तियों में परिवर्तन हमारे भौतिक वातावरण की वास्तविक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित होता है; अमूर्त विचारों द्वारा नहीं। यह बात कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो सकती है। यह कहा जाता है कि इङ्गलैण्ड में जिस कारण महिलाओं को राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा मताधिकार प्राप्त हुआ, वह उनकी माँग के औचित्य अथवा उनकी माँग की न्यायता के कारण नहीं, (क्योंकि मिल जैसे प्रभावशाली लेखकों ने उसकी न्यायता पर बहुत

* Government and Governed p. 212.

पहले बड़ा ज़ोर दिया था) वरन् उनके एक बड़ी संख्या में औद्योगिक जीवन में प्रवेश हो जाने के कारण मिला था। इसी प्रकार इंगलैण्ड में धार्मिक सहिष्णुता को जो मान्यता दी गई वह उसकी नैतिक तथा बौद्धिक उपयुक्तता के तर्क के कारण नहीं थी। वास्तविक कारण तो यह था कि उस समय यह बात समझ मे आ गई थी कि धार्मिक अत्याचारों के रहते वाणिज्य-व्यापार मे उन्नति नहीं हो सकती। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में दासत्व का अन्त मानववादी भावना की विजय के कारण नहीं, आर्थिक कारणों से हुआ था। अपने ही युग तथा देश के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि समय-समय पर ब्रिटिश सरकार ने जो शासन-सुधार किये वे भारतीयों को वास्तव मे स्वराज्य पथ पर अग्रसर करने के लिये नहीं वरन् इसलिये किये गये थे कि सन्तुष्ट भारत ब्रिटेन का तैयार माल अधिक खरीदेगा।

यदि इस सिद्धान्त का यह अर्थ निकाला जाय कि आर्थिक तथ्य सामाजिक परिवर्तन के महत्वपूर्ण कारण हैं, तो यह अखण्डनीय है। यह वास्तव में सत्य है कि देश में प्रचलित आर्थिक व्यवस्था एक बड़ी सीमा तक उसकी सामाजिक, क़ानूनी एवं राजनीतिक संस्थाओं पर प्रभाव डालती है। जलवायु का प्रभाव, मिट्टी, देश की भौगोलिक अवस्था आदि का प्रभाव किसी भी देश की राजनीतिक अवस्था पर पड़ता है। इस बात पर अरस्तू के समय से आजपर्यन्त राजनीतिक लेखक लिखते आ रहे हैं। परन्तु यह मानना बड़ी ज़्यादती होगी कि परिवर्तन केवल इन बातों के कारण ही होते हैं और कानून, सदाचार, धर्म आदि जो समाज के सांस्कृतिक जीवन तथा उसकी संस्थाओं का निर्माण करते हैं वे समाज के आधारभूत आर्थिक ढाँचे के ही प्रतिफल हैं। मानवीय कार्य इतने सरल नहीं हैं कि उनकी व्याख्या किसी एक प्रयोजन द्वारा ही की जा सके। उन पर मानवों के अच्छे-बुरे विचारों, मनोविकारों तथा सामाजिक वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। जैसा कि रसल ने कहा है, 'हमारे राजनीतिक जीवन की बड़ी घटनाएँ भौतिक अवस्थाओं तथा मानवीय मनोभावों के घात-प्रतिघात द्वारा निर्धारित होती हैं।' राज-प्रासादों में होने वाले षडयन्त्र-प्रपञ्च, व्यक्तिगत राग-द्वेष तथा धार्मिक विरोध ने अतीत काल में इतिहास के क्रम में बड़े-बड़े परिवर्तन किये हैं। इतिहास के निर्माण में अन्-आर्थिक कारणों को भी उचित स्थान देना चाहिये। इस स्वीकृति का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या सर्वथा ग़लत है।

साधारणतया वह सही है परन्तु उसे आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं देना चाहिये। मार्क्स के सामाजिक दर्शन की यह प्रथम आवश्यक प्रतिज्ञा है।

(२) वर्ग-युद्ध—अपने इस सिद्धान्त के साथ कि सामाजिक विकास आर्थिक परिस्थितियों के कारण होता है, मार्क्स ने वर्ग संघर्ष (Class Struggle) का सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया। सामाजिक दर्शन में इसका महत्व कितना है यह इसी से जाना जा सकता है कि उसकी राय में वर्ग-संघर्ष का इतिहास ही मानव-जाति का इतिहास है। मार्क्स की दृष्टि में सामाजिक परिवर्तन की समस्त प्रक्रिया इसी संघर्ष में होती है। समाज की एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर प्रगति उत्पादन-प्रणाली के आधार पर संगठित समाज के दो मुख्य वर्गों के बीच सत्ता के लिये संघर्ष द्वारा हुई है। इनमें से एक वर्ग थोड़े से विशेषाधिकारयुक्त व्यक्तियों का वर्ग रहा है जिसके हाथ में उत्पादन के साधनों का स्वाम्य रहा है। दूसरा वर्ग उन बहुसंख्यक श्रमजीवियों का रहा है जो अपने श्रम से कच्चे माल का (जो प्रथम वर्ग की सम्पत्ति होती है) तैयार माल में परिणत करते हैं। इन दोनों वर्गों के हित सदैव एक दूसरे के विरोधी रहे हैं। पहला वर्ग-पूँजीपति वर्ग—अपने लाभ के लिये दूसरे वर्ग-मज़दूरों-का शोषण करता है। मज़दूर उस सम्पत्ति के बड़े अंश से वंचित कर दिये जाते हैं जिसका उत्पादन करने में वे सहायता करते हैं और उन्हें बाध्य होकर केवल जीवित रहने योग्य मज़दूरी पर ही रहना पड़ता है। उत्पादन के साधनों के स्वामी समाज के केवल आर्थिक जीवन का ही नियन्त्रण नहीं करते वरन् सामाजिक, क़ानूनी और धार्मिक संस्थाओं को भी अपने स्वार्थों की पूर्ति के उपयुक्त बना लेते हैं। वे जिस व्यवस्था को जीवित रखते हैं, उससे वे ही सर्वाधिक लाभ उठाते हैं। श्रमजीवियों के वर्ग पर उस सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ता है और वह उसे बदलने का प्रयत्न करता है। इन दोनों वर्गों के बीच में सत्ता के लिये जो संघर्ष होता है उसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन होता है। भूमि के स्वामी सामन्ती सरदारों तथा मध्यम वर्ग में, जिसका सामन्ती समाज में ही पोषण हुआ था, होने वाले संघर्ष ने ही सामन्तवाद का अन्त कर दिया। पूँजीपति-वर्ग और क्रान्ति भावना से अनुप्रेरित सर्वहारा वर्ग (Proletariat) के बीच होने वाला संघर्ष जिसका अस्तित्व वर्तमान् औद्योगिक व्यवस्था द्वारा हुआ है पूँजीवाद के ढाँचे को निर्बल

करके अन्त में नष्ट कर देगा। "साम्यवादी घोषणा-पत्र" में मार्क्स और एँगेल्स ने इस वर्गयुद्ध के सिद्धान्त का वर्तमान् समाज के समस्त नियमों को समझने की कुञ्जी के रूप में प्रयोग किया है। इस घोषणा-पत्र में पूँजीपति वर्ग (Bourgeoisie) तथा सर्वहारा वर्ग (Proletariat) के बीच १९वीं सदी के संघर्ष का सर्वोत्तम वर्णन है। उसमें केवल इस संघर्ष का ही वर्णन नहीं है वरन् क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के लिये एक कार्यक्रम की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई है और उन्हें पूँजीवादी वर्ग पर अन्तिम विजय का भी आश्वासन दिया गया है। इस संघर्ष की मोटी रूप-रेखा का, जिसका इस घोषणा-पत्र में वर्णन है, यहाँ उल्लेख किया जायगा।

इस घोषणा-पत्र में यह घोषणा की गई है कि वर्तमान् युग में वर्ग-विरोध बहुत ही सरल हो गया है। हमारा समाज दो विशाल विरोधी वर्गों में विभक्त होना जा रहा है—पूँजीवादी वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग। दोनों वर्ग विकास की विविध अवस्थाओं में से गुज़रते हैं। पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों का विकास तथा बाज़ारों का विस्तार किये बिना जीवित नहीं रह सकता। पूँजीपतियों के उत्पादन के ढङ्ग का एक दूसरा लक्षण उसकी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति है। ज्यों-ज्यों व्यवसाय अधिकाधिक बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम होती जाती है जो कारोबार में काफी पूँजी लगा सकें। इस प्रकार बड़े पूँजीपति छोटे पूँजीपतियों को बाहर निकाल फेंकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पूँजी थोड़े से बड़े पूँजीपतियों के हाथों में एकत्रित हो जाती है और कारोबार एकाधिपत्य का रूप धारण कर लेते हैं। बाजार संसारव्यापी हो जाते हैं और प्रत्येक देश में उत्पादन तथा उपभोग अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है।

पूँजीवादी उत्पादन स्वयं ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिनमें उसके विनाश के बीज होते हैं। पूँजीवाद के गर्भ में उसके विनाश के बीज रहते हैं। उत्पादन के ढङ्ग में जो परिवर्तन होते हैं उनके कारण आगे चलकर उत्पादन में लगे हुए विविध वर्गों के सम्बन्धों में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। उससे कभी-कभी अत्यधिक उत्पादन भी होता है, जो आधुनिक समाज का एक विशिष्ट लक्षण है। अत्यधिक उत्पादन की बुराइयाँ जनता की उपभोग-शक्ति के उत्तरोत्तर क्षीण होते जाने से, जो पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण का अनिवार्य परिणाम होता है, बढ़ती जाती हैं। पूँजीवादी वर्ग के लिये सबसे गम्भीर संकट सर्वहारा वर्ग

की ओर से पैदा होता है, जिसका जन्म पूँजीवाद के विकास से होता है और जिसका विकास भी उसके साथ-साथ होता चलता है। सर्वहारा वर्ग समाज में अपनी निम्न और अधीन स्थिति से सन्तुष्ट नहीं रह सकता और वह लड़कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। सर्वप्रथम संघर्ष व्यक्तिगत पूँजीपतियों तथा व्यक्तिगत मज़दूरों के बीच होता है। परन्तु शीघ्र ही यह संघर्ष दोनों वर्गों के संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। मज़दूर अपना संगठन समुदायों के रूप में करने लगते हैं, जिन्हें मज़दूर संघ (Trade Unions) कहते हैं और जिनका उद्देश्य मज़दूरों के हितों की रक्षा तथा मजदूरों की अवस्थाओं में सुधार करने के लिये उद्योग-पतियों को मजबूर करना होता है। यातायात तथा संचार के साधनों में उन्नति होने के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में काम करनेवाले मज़दूरों का सम्पर्क सरल हो जाता है और उनके राष्ट्रीय संगठन बन जाते हैं। इस प्रकार श्रमजीवी-वर्ग में वर्गीय चेतना का विकास होता है, जिससे उसकी शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग की शक्ति में वृद्धि होने के कारण पूँजीवादी वर्ग के विरुद्ध संघर्ष कटुतर होता जाता है और अन्त में वह क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है जो पहले राष्ट्रीय होती है और बाद में अन्तर्राष्ट्रीय बन जाती है। 'घोषणा-पत्र' में इस क्रांति के परिणामों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी की गई है। उसमें कहा गया है कि अन्त में, पूँजीपतियों का विनाश हो जायगा और सर्वहारा वर्ग अपनी अस्थायी अधिनायकशाही स्थापित कर लेगा। सर्वहारा वर्ग की अधिनायकशाही का मुख्य कार्य पूँजीपतियों को उत्पादन के साधनों से वंचित कर देना और इस प्रकार बलपूर्वक उन्हें सम्पत्तिविहीन कर देना होगा। उत्पादन के समस्त साधन राज्य के नियन्त्रण में आ जायँगे, जो केवल एक वर्ग अर्थात् मज़दूर वर्ग का होगा। यह कहना अधिक सत्य होगा कि सर्वहारा क्रान्ति के बाद जिस समाज की स्थापना होगी वह वर्गरहित समाज होगा। उस समय समस्त वर्गीय संघर्ष का अन्त हो जायगा और उसके साथ ही इस दमनकारी राज्य का भी अन्त हो जायगा जिसका हमें अनुभव है।

'साम्यवादी घोषणा-पत्र' में समाज के भावी रूप के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन नहीं है वरन् इतना ही कहा गया है कि समाज में कोई भेदभाव नहीं होंगे और न कोई केन्द्रीय दमनकारी सत्ता ही रहेगी। उसमें वस्तुओं का उत्पादन उपभोग के लिये किया जायगा; मुनाफे के साथ बिक्री के लिये नहीं। दूसरे शब्दों में, उसमें सर्वाधिक सामाजिक उपयोगिता की वस्तुओं

के उत्पादन पर ज़ोर दिया गया है। घोषणा-पत्र में भावी राज्य के विषय में इस प्रकार उल्लेख किया गया है: 'जब विकास-क्रम में वर्गीय भेद-भाव मिट जायँगे और समस्त उत्पादन समस्त राष्ट्र को विशाल संस्था के हाथों में केन्द्रित हो जायगा, तो लोक-सत्ता राजनीतिक नहीं रहेगी। राज-सत्ता (Political Power) एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर अत्याचार करने की संगठित सत्ता का नाम ही है। यदि सर्वहारा वर्ग पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष के समय मे परिस्थितियों-वश अपने वर्ग का संगठन करने के लिये मजबूर होता है और यदि क्रान्ति के साधन द्वारा वह शासक-वर्ग बन जाता है और पुरातन उत्पादन-व्यवस्था का बलपूर्वक अन्त कर देता है, तो इस प्रकार वह इन अवस्थाओं के साथ ही वर्ग-विरोध के अस्तित्व के लिये आवश्यक अवस्थाओं का तथा सामान्यतया वर्गों का ही विनाश कर देगा और स्वयं इस प्रकार अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा। पुराने पूँजीवादी समाज के स्थान पर (जिसमें वर्ग-भेद तथा वर्ग-विद्वेष मौजूद होते) हैं हम एक ऐसी संस्था स्थापित करेंगे जिसमें सबके स्वतन्त्र विकास का आधार प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास होगा।"

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का मूल्यांकन—

साधारणतया यह सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त की भाँति सत्य है। इतिहास में शायद ही ऐसे कोई उदाहरण मिलते हों कि समाज के शोषित वर्ग की ओर से संघर्ष हुए बिना ही शासक-वर्ग ने अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया हो। जो कुछ भी अधिकार शोषित वर्ग ने प्राप्त किये हैं वे कठिन संघर्ष के ही फलस्वरूप किये हैं। इस कारण हम इस सिद्धान्त की आलोचना उसकी साधारण रूपरेखा की जगह संघर्ष की विभिन्न मंजिलों के, जिनका उसमें वर्णन है और जो भविष्यवाणियाँ उसमें की गई हैं, उनके आधार पर करेंगे।

मार्क्स तथा ऐंगेल्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवादी उत्पादन की विधि से धीरे-धीरे व्यवसायों का रूप विशाल हो जायगा और अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट तथा कार्टेल (Cartel) बन जाँयगे तथा इस प्रकार पूँजी उत्तरोत्तर थोड़े से व्यक्तियों के पास संचित होती जायगी। इस सिद्धान्त के विरोधी लोगों का कहना है कि यद्यपि इस भविष्यवाणी का प्रथम भाग तो सिद्ध हो चुका है क्योंकि आजकल बड़े विशाल औद्योगिक एवं व्यापारिक संगठन बन गये हैं तथापि पूँजी थोड़े व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित नहीं हो रही है। बड़े पूँजीपतियों के साथ-साथ छोटे

पूँजीपति भी बने हुए हैं। मध्यम वर्ग का अन्त नहीं हो रहा है और सर्वहारा वर्ग में इस मध्यम वर्ग के लोगों के शामिल होने से वृद्धि नहीं हो रही है जैसा कि घोषणा-पत्र में उल्लेख है। आधुनिक काल के मध्यम वर्ग का सर्वहारा वर्ग की अपेक्षा पूँजीवादी वर्ग के प्रति अधिक मैत्री-भाव है। इस प्रकार घोषणा-पत्र में वर्गयुद्ध के विकास की एक बात के सत्य के सम्बन्ध में सन्देह किया जा सकता है।

दूसरे, अनेक आलोचक कहते हैं कि पूँजीवाद के विकास के साथ मज़दूरों की अवस्था अधिक दुःखदायी नहीं होती जा रही है। पूँजीपतियों की बढ़ती हुई समृद्धि में मज़दूरों को भी कुछ भाग मिल रहा है। मज़दूर वर्ग के भौतिक कल्याण में जो सुधार घोषणा-पत्र के प्रकाशित होने के बाद देख पड़ता था वह आज पर्यन्त जारी है। इससे मज़दूरों के अधिक समृद्ध वर्ग में जैसे क्लर्कों, सरकारी कर्मचारियों और अध्यापकों आदि में क्रान्तिकारी वर्गीय चेतना के विकास में बाधा पड़ी है। इस वर्ग का वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के साथ, जिससे उसका भाग्य जुड़ा हुआ है, मैत्रीभाव है। इस प्रकार एक दूसरी महत्वपूर्ण दिशा में भी घोषणा-पत्र की भविष्यवाणियों की सत्यता सिद्ध नहीं हुई है।

तीसरे, इस मान्यता के विरुद्ध भी गम्भीर आक्षेप किया जाता है कि अन्त में मज़दूर-वर्ग की पूँजीवादी वर्ग पर विजय होगी और सर्वहारा वर्ग की अधिनायकशाही कायम हो जायगी। यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि मज़दूरों तथा पूँजीपतियों के बीच वर्ग-युद्ध बढ़ेगा और पूँजीवादी वर्ग का पतन हो जायगा, तो भी यह आवश्यक नहीं है कि सत्ता औद्योगिक मज़दूरों के हाथ में ही पहुँचे; फैसिस्ट अधिनायकशाही जैसे अन्य विकल्प भी तो हैं। इसके मानने के लिये भी कोई आधार नहीं है कि समस्त देशों में वर्ग-युद्ध के एकसे परिणाम ही होंगे। जो कुछ रूस में सम्भव हुआ वह इंगलैण्ड या फ्रांस में सम्भव नहीं हो सकता। फॅसिज़्म तथा नात्सीवाद का जन्म मार्क्स तथा ऐंगेल्स की शिक्षा के विरुद्ध हुआ है। साम्यवाद की विजय उतनी निश्चित नहीं है जितनी मार्क्स तथा उसके साथी सोचते थे।

इस प्रकार यद्यपि मार्क्स तथा ऐंगेल्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के सामान्य सत्य को तो स्वीकार किया जा सकता है परन्तु उन्होंने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणी की है, उसे स्वीकार

नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक विकास से इस कथन की सत्यता सिद्ध नहीं होती।

रूसी साम्यवाद का सर्वसत्तावादी रूप—

मार्क्स तथा ऐंगेल्स के उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर सङ्गठित पहला राज्य सोवियत रूस ही है। उसके शासक मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या और वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को सामाजिक विकास के आधारभूत तथ्य मानते हैं। उन्होंने पुरानी ज़ारशाही के स्थान पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व भी स्थापित कर लिया है। इस नवीन शासन को आन्तरिक तथा बाहरी अनेक बाधाओं में से होकर निकलना पड़ा। अपने शासन को क़ायम रखने में सोवियत रूस ने संसार के प्रथम सर्वसत्तावादी राज्य (Totalitarian State) की स्थापना की। रूसी साम्यवादियों ने संसार के सामने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये नवीन राज्य की निपुणता प्रकट कर दी है। रूस ने अन्य आधुनिक राज्यों की अपेक्षा अपने राज्य को अधिक केन्द्रीयभूत तथा शक्तिशाली राज्य बना लिया है। इटालियन फैसिस्टों तथा जर्मन नात्सियों ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये, अर्थात् पश्चिमी सभ्यता के समक्ष उपस्थित साम्यवादी खतरे के नाश के लिये, साम्यवादी कार्यपद्धति को ही अपनाया था।

रूस के साम्यवादी शासक सर्वहारा राजनीतिक-समाजवाद का एक नवीन परीक्षण कर रहे हैं। ये नवीन आर्थिक आधार पर एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें कोई भी मानव दूसरे मानव के श्रम को खरीद नहीं सकेगा और न पूँजी पर जीवित रह सकेगा। दूसरे शब्दों में, नये समाज में पूँजी का स्वाम्य समाज के हाथ में होगा, व्यक्तियों के हाथों में नहीं। इस प्रकार पूँजीवादी शोषकों तथा वेतनभोगी शोषितों का भेदभाव मिट जायगा। इस ध्येय की प्राप्ति के प्रयत्न में उन्हें पूँजीवादी वर्ग के विरोध का सामना अपने देश के अन्दर तथा बाहर दोनों ओर से करना पड़ा है। रूस में गृह-युद्ध हुआ और श्वेत सेनाओं का सैनिक आक्रमण भी हुआ जिसमें इङ्गलैंड तथा फ्रांस जैसे पूँजीवादी देशों ने सहायता दी। इस कारण उन्होंने अपने दाव-पेंच तथा कार्य-प्रणाली में परिवर्तन अवश्य किये परन्तु उनके ध्येय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यह ध्येय है—"जनता के लिये अधिक सुखदायी जीवन की अवस्थाएँ तथा व्यापक सांस्कृतिक सुयोग प्राप्त करना और, इन सबसे ऊपर, आर्थिक तथा राजनीतिक नियन्त्रण उन

अल्पजनों के हाथों में रखना जो अन्तिम समाजवादी विजय की ओर बढ़ने में अधिक संलग्न और दृढाग्रही हैं।"*

समस्त सत्ता को क्रान्तिकारियों के एक छोटे से दृढ़प्रतिज्ञ सुसङ्गठित दल के हाथों में कायम रखने की प्रवृत्ति के कारण रूस में ऐसी संस्थाओं एवं आचरणों का विकास हुआ जो अधिनायकतन्त्र के मुख्य लक्षण हैं। इन संस्थाओं में सबसे महत्वपूर्ण है—ऑल-यूनियन कम्युनिस्ट पार्टी। रूस में शासन-यन्त्र का नियन्त्रण इस पार्टी द्वारा ही होता है। इस पार्टी की सदस्य-संख्या जानबूझकर कम रखी जाती है; उसके नियम कठोर हैं जिसके कारण सदस्यता में वृद्धि नहीं हो सकती। परीक्षाएँ कड़ी होती हैं और परीक्षा-काल भी बड़ा लम्बा होता है। जो सदस्य शिथिल अथवा अकुशल होते हैं या जिनकी श्रद्धा में सन्देह होता है उन्हें निकाल दिया जाता है। उसमें उन बुद्धिजीवियों के लिये स्थान नहीं है जो साम्यवाद के आलोचक हैं या धर्म के पुजारी हैं। ट्रॉटस्की जैसा प्रसिद्ध साम्यवादी नेता भी पहले अंतरङ्ग-मण्डल से, फिर साम्यवादी पार्टी से और अन्त में देश से निर्वासित कर दिया गया क्योंकि उसने शासन द्वारा पूँजीपतियों तथा जमींदारों को जो रियायतें दी गई थीं, उनकी आलोचना करके साम्यवादी दल की उपेक्षा की और उसका अनुशासन भंग किया। ऑल-यूनियन साम्यवादी दल ही देश की एकमात्र राजनीतिक पार्टी है। अन्य किसी भी राजनीतिक दल को, जिसका दूसरा कोई सिद्धान्त हो, वहाँ कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है। इस पार्टी के कार्यों का नियमन एक केन्द्रीय समिति द्वारा होता है जिसका चुनाव पार्टी के वार्षिक अधिवेशन में होता है। यह केन्द्रीय समिति पार्टी के कार्य-सञ्चालन के लिये तीन छोटी उपसमितियों का चुनाव करती है जिनमें से एक राजनीतिक समिति (Political Bureau) कहलाती है। इसमें पार्टी के कुछ प्रमुख नेता होते हैं जो पार्टी की नीति आदि निर्धारित करते हैं। देश की प्रमुख शासन-संस्थाओं, जैसे स्थानीय सोवियत, प्रान्तीय कांग्रेसों, राष्ट्रीय विधान-सभाओं एवं प्रशासनीय संस्थाओं आदि के निर्वाचन पर परोक्ष रूप से इस राजनीतिक समिति का नियन्त्रण होता है। सन् १९३६ ई० के विधान से देश में राजनीतिक प्रजातन्त्र की मशीनरी स्थापित की गई है; समस्त व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की सत्ताएँ सुप्रीम कौंसिल के हाथों में है जिसमें दो सदन

* Coker : Recent Political Thought, p. 159.

है जिनमें से प्राय: प्रत्येक में १६०० सदस्य हैं जिनका चुनाव गुप्त मतदान द्वारा सार्वभौम प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर होता है; परन्तु इतना होते हुए भी सत्य तो यह है कि शासन का वास्तविक नियन्त्रण साम्यवादी दल (Communist Party) के हाथों में ही है। साम्यवादी दल के अतिरिक्त दो और साम्यवादी संगठन हैं, जो साम्यवादी व्यवस्था क़ायम रखने में सहायक होते हैं। एक का नाम है साम्यवादी युवक-संघ जिसमें १४ से २२ वर्ष के युवक-युवतियाँ सदस्य हैं। दूसरा साम्यवादी बाल-संघ है जिसमें १० से १४ वर्ष के बालक-बालिकाएँ सदस्य हैं। इनमें से ही लोग साम्यवादी पार्टी के नये सदस्य बनते हैं।

यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि साम्यवादी दल के सदस्यों को अपनी कार्य-प्रणाली की आलोचना करने में काफी स्वतन्त्रता रहती है। वे अपने सुझाव भी पेश कर सकते हैं। परन्तु विचार तथा बहस के बाद जब दल द्वारा कोई नीति स्वीकार कर ली जाती है, तब उसे सब सदस्यों को स्वीकार करना पड़ता है। उसके बाद किसी को उसकी आलोचना करने का अवसर नहीं दिया जाता अथवा उसके विरुद्ध विचार प्रकट करने का अधिकार नहीं रहता। उसका अनुशासन बड़ा कठोर है; वह सर्वथा सैनिक ढंग का है। दल ने अपने सदस्यों की सेवा तथा चरित्र एवं सत्यता का आदर्श बहुत ऊँचा रखा है।

सोवियत रूस में साम्यवादी शासन सर्वहारा वर्ग की अधिनायकशाही के नाम से प्रसिद्ध है। यह नाम आंशिक रूप से सही है और ग़लत भी। यह सही इसलिये है कि राज्य उन सब लोगों को कोई राजनीतिक एवं आर्थिक विशेषाधिकार नहीं देता जो मज़दूर नहीं हैं और शासन-सत्ता का आधार दमन-शक्ति है। सोवियत राज्य अधिनायकतन्त्रीय अथवा सर्वसत्तावादी है क्योंकि उसने सफलतापूर्वक समस्त अन्दरूनी विरोधी तत्वों का ख़ात्मा कर दिया है और वह एकदलीय राज्य बन गया है, जैसा कि नात्सी तथा फैसिस्ट इटली में था। परन्तु यह नाम अनुपयुक्त इसलिये है कि रूसी शासन सर्वहारा वर्ग के बहुमत का नहीं है। देश का शासन औद्योगिक मज़दूरों के हाथों में नहीं वरन् कुछ थोड़े से उच्च कोटि की वर्गीय चेतना-युक्त, सुयोग्य तथा अनुशासन के कठोर नियन्त्रण में रहने वाले क्रान्तिकारियों के हाथों में है। इस प्रकार रूसी सरकार को सर्वहारा वर्ग के हित में अधिनायकतन्त्र कहा जा सकता है।

अधिनायकतन्त्र का अर्थ है राजनीतिक कार्य के सर्वोच्च साधन या

अस्त्र के रूप में बल या दमन का प्रयोग। साम्यवादियों की यह दृढ धारणा है कि पूँजीपतियों में तर्क या बहस द्वारा परिवर्तन नहीं किया जा सकता। अतः उनके विरोध को नाश बल-प्रयोग से करना चाहिये। वे जिन लाभों का भोग करते हैं, उन्हें स्वतः शान्तिपूर्वक त्यागने के लिये वे तैयार नहीं होंगे। पूँजीपतियों को सम्पत्तिविहीन बनाने के लिये और क्रान्ति के विरोधियों के अपने खोये हुये लाभों को पुनः प्राप्त करने के प्रयत्नों के दमन के लिये सर्वहारा राज्य की ओर से सशस्त्र हिंसा की आवश्यकता है। यदि सत्ता हस्तगत करने के लिये आक्रमणात्मक साधन के रूप में बल की आवश्यकता है, तो विरोधियों के विरुद्ध आत्मरक्षा के लिये बलप्रयोग की निन्दा करना मूर्खता होगी। जैसा कि ट्रॉटस्की ने उचित ही कहा है—"एक क्रान्तिकारी वर्ग को जिसने शस्त्रों द्वारा सत्ता प्राप्त की है, उन सभी प्रयत्नों को, जिनके द्वारा इस सत्ता से उसे वंचित करने का प्रयत्न किया जायगा, बल-प्रयोग से व्यर्थ करना पड़ेगा और वह ऐसा अवश्य करेगा।" इस प्रकार साम्यवादी लोग राजनीति को स्थायी युद्ध समझते हैं और राज्य को विशुद्ध दमन का अस्त्र। इस प्रकार वे लोह-हस्त द्वारा शासन-यन्त्र का प्रयोग करते हैं और जो देशद्रोह या राजद्रोह के अपराधी हैं या उनके कामों में बाधा डालते हैं उन्हें कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता है। अपने विरोधियों के दमन के लिये बल-प्रयोग को एक मुख्य अस्त्र के रूप में मानने के कारण उनका नात्सियों तथा फैसिस्टों से बड़ा सादृश्य है। इस प्रकार सर्वसत्तावादी राज्य को अधिनायकतन्त्र होना पड़ता है और उसे हिंसा तथा बल-प्रयोग पर आश्रित रहना ही पड़ता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि साम्यवादी लोग जनता को अपने पक्ष में करने के सम्बन्ध में उदासीन रहते हैं। वे स्कूल, रेडियो, सिनेमा आदि प्रचार के समस्त साधनों द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। वे शैशव-काल से ही जनता को अपने सिद्धान्तों का पाठ पढ़ाते हैं। उनके युवक-संघ जनता को साम्यवाद के इतिहास तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में शिक्षा देने के लिये ही हैं। वे उन्हें क्रान्ति के दाव-पेंच के सम्बन्ध में भी शिक्षा देते हैं।

रूसी साम्यवादी लोग पूँजीवादी देशों के प्रजातन्त्र तथा प्रजातन्त्रीय संस्थाओं का उपहास करते हैं। राजनीतिक कार्य के साधन के रूप में बल-

प्रयोग की सर्वोच्चता में विश्वास करने तथा शासन की समस्याओं के बौद्धिक समाधान की सम्भावना में अविश्वास के कारण वे प्रजातन्त्र को अव्यवहार्य समझते हैं। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में उनके जैसे विचार हैं वे भी उन्हें इसी परिणाम की ओर ले जाते हैं। बोल्शेविकों ने विधान-परिषद् के कार्य में बाधा डालकर उसे असम्भव कर दिया था।

किन्तु यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि साम्यवाद तथा प्रजातन्त्र में कोई सैद्धान्तिक असंगति नहीं है। साम्यवादी लेखक जिस प्रजातन्त्र की आलोचना करते हैं और जिसे अवास्तविक कहते हैं, वह है पूँजीवादी देशों में प्रचलित प्रजातन्त्र। उनकी यह मान्यता है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत, जिसमें औद्योगिक मज़दूरों को कोई आर्थिक सुरक्षा नहीं होती और जिसमें उन लोगों के हाथों में अनुचित राज्यसत्ता होती है जो समाज के आर्थिक जीवन का नियन्त्रण करते हैं, राजनीतिक लोकतन्त्र नाममात्र का है, *उसमें कोई तत्व नहीं होता। उसमें जिन व्यक्तियों के पास सम्पत्ति* नहीं है उनके लिये न स्वतन्त्रता है और न समानता ही; उन्हें केवल उन व्यक्तियों को अपना श्रम बेचने की स्वतन्त्रता है जो उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं। *इस प्रकार के व्यक्ति शासन पर कोई नियन्त्रण नहीं रख* सकते। एक उम्मीदवार के लिये चुनाव में एक बार मतदान करने का अधिकार कोरा अधिकार है। इसी प्रकार शासन के कार्यों की आलोचना का अधिकार एक प्रकार का विलास है जिससे अधभूखे तथा अधिक काम से थके-मांदे मज़दूरों में लाभ उठाने की क्षमता नहीं। मज़दूर तो यह चाहता है कि उसे भरपेट भोजन मिले और जीवन की सह्य अवस्थाएँ प्राप्त हों और उसे अपना जीवन अपनी इच्छानुसार सुख से बिताने के लिये पूर्ण सुयोग मिले, केवल शासन की आलोचना तथा उम्मीदवार को राय देने का निरर्थक अधिकार ही नहीं। साम्यवादी का यह दृढ़ विश्वास है कि शासन का ढाँचा कितना ही प्रजातान्त्रिक क्यों न हो, वास्तविक सत्ता उन्हीं लोगों को प्राप्त होगी, जिनके पास आर्थिक सत्ता है। इस प्रकार पूँजीवादी समाजों में वास्तविक प्रजातन्त्र कार्य नहीं कर सकता। वह सर्वहारा वर्ग के संक्रमणकालीन अधिनायकतन्त्र में भी अव्यवहार्य होता है। किन्तु फैसिज्म के उदय के कारण तथा फैसिस्ट शासन में साम्यवादियों को भाषण तथा सभा-सम्मेलन के स्वातन्त्र्य का निषेध होने के कारण राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र के प्रति साम्यवादियों के दृष्टिकोण में थोड़ा परिवर्तन अवश्य हुआ है। सन् १९३६ ई० के

सोवियत-विधान का रूप, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, सर्वथा प्रजातान्त्रिक है।

रूसी साम्यवादियों ने सबसे पहले संसार को यह बतला दिया कि आर्थिक नियोजन सर्वसत्तावादी राज्य का एक अनिवार्य लक्षण है। वह उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य के स्वाम्य तथा समाज के औद्योगिक जीवन पर राज्य के नियन्त्रण का आवश्यक परिणाम है। यदि उत्पादन की प्रकृति तथा परिणाम का निश्चय व्यक्तिगत उद्योगपतियों पर ही नहीं छोड़ देना है वरन् राज्य द्वारा उसका निश्चय होना है तो नियोजन राज्य की आर्थिक पद्धति का एक आवश्यक अंग होगा। गृहयुद्ध के समय में भी रूस में नियोजन की व्यवस्था करनी पड़ी जिससे लाल सेना को रसद मिलती रहे। वह असन्तोषप्रद रही तथा लेनिन के सामने आर्थिक विनाश का भय आ खड़ा हुआ। उसने नवीन आर्थिक नीति की घोषणा की, जिसने पूँजीपतियों को अनेक रियायतें दीं। देश की आर्थिक व्यवस्था पर उसके अच्छे परिणाम निकले। जब स्टालिन ने सत्ता ग्रहण की तो उसने उस नीति का अन्त कर दिया और राज्य ने व्यापार तथा उद्योग पर फिर से राज्य का नियन्त्रण स्थापित कर लिया। प्रथम पंच-वर्षीय योजना की समाप्ति पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अनुसार कार्य किया गया और उसके फलस्वरूप रूस के उद्योगों में काफी प्रगति हुई। जर्मनी तथा इटली ने भी उसका अनुसरण किया। संसार-व्यापी मन्दी तथा बाद में जर्मनी के विरुद्ध छिड़ जानेवाले युद्ध ने इङ्गलैंड को आर्थिक नियोजन करने के लिये बाध्य किया। हमारे देश में भी कांग्रेस ने आर्थिक नियोजन कमीशन की स्थापना की, जो कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के त्यागपत्रों के कारण अपना कार्य नहीं कर सका। संसार आर्थिक नियोजन के विचार के लिये सोवियत रूस का ऋणी है।

साम्यवाद ने रूस की जनता के केवल राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर ही प्रभावकारी नियन्त्रण नहीं किया है वरन् जीवन के अन्य क्षेत्रों पर भी प्रभाव डाला है। धर्म, क़ानून तथा शिक्षा आदि सभी वस्तुओं का साम्यवाद के लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रयोग किया जाता है। साम्यवादी लोग धर्म के विरोधी हैं और धर्म को "जनता के लिये अफीम" मानते हैं क्योंकि धर्म हमारे कष्टों को ईश्वरीय विधान बताकर उन्हें सहन करने और शासकों की अधीनता का पाठ पढ़ाता है। साम्यवादी दल के सदस्य अनीश्वरवादी हैं। रूस में पादरी आदि मताधिकार से

वंचित है। रूस में साम्यवादी शासकों ने शिक्षा, साहित्य, विज्ञान, संगीत और कला की कार्यवृद्धि के लिये प्रयत्न किया है किन्तु इन क्षेत्रों में उनके काम राज्य की आर्थिक एवं राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही हैं। वे ऐसे विज्ञान या दर्शन की शिक्षा की अनुमति नहीं देते, जो साम्यवादी विचारधारा के विरुद्ध हों। रूस की पाठशालाओं तथा विद्यालयों के लिये पाठ्य ग्रन्थ इस उद्देश्य से निर्धारित किये जाते हैं कि तरुणों तथा बालकों के मन पर साम्यवाद के गौरव की छाप पड़ जाय। रूस के कानून से भी यही कार्य लिया जाता है।

साम्यवादी सिद्धान्त

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, साम्यवाद का आधार मार्क्स तथा उसके मित्र एंगेल्स के वे सिद्धान्त हैं जिनका वर्णन उन्होंने अपने 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' में किया है। यह घोषणापत्र एक पद्धति का सिद्धान्त है, एक कार्य-क्रम है, जिसके द्वारा पूँजीवादी समाज से भावी समाजवादी समाज की ओर अग्रसर हो सकते हैं। उसमें उस भावी समाज का पूर्ण चित्र अंकित नहीं किया गया है। यह कार्य-क्रम राज्य के उस सिद्धान्त के आधार पर है जिसका विवेचन मार्क्स ने किया है और जिसे साम्यवादियों ने स्वीकार कर लिया है। यह सिद्धान्त राज्य के उस परम्परागत सिद्धान्त के विपरीत है जिसका समर्थन प्रजातन्त्रवादी तथा आदर्शवादी करते हैं। परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक संहत समुदाय (Corporate group) है, जिसमें विविध वर्ग सामान्य हित के लिये परस्पर सहयोग करते हैं। उसका अस्तित्व प्रत्येक नागरिक को ऐसे सुयोग प्रदान करने के लिये है जिससे उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास हो सके। यह एक ऐसा स्तर प्रदान करता है जिस पर मनुष्य बिना किसी भेदभाव के नागरिकों के रूप में मिल सकें और सर्वोच्च कल्याण की प्राप्ति करने में एक दूसरे की सहायता कर सकें।

राज्य—एक वर्गीय संगठन—

साम्यवाद इस सिद्धान्त को बिलकुल अस्वीकार कर देता है। उसके अनुसार राज्य कभी संहत समाज नहीं रहा, जिसका कार्य सामान्य हित की वृद्धि हो। राज्य तो सदैव से ऐसी संस्था रहा है और रहेगा जिसमें एक आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्गों पर आधिपत्य रखता है और उनका शोषण करता है। शासकों का मुख्य और जानबूझकर स्थिर किया हुआ लक्ष्य समाज का कल्याण कभी नहीं रहा। उन्होंने राज्य-सत्ता का प्रयोग

अपने तथा अपने समर्थकों के हितों की अभिवृद्धि के लिये ही किया है। राज्य की समस्त संस्थाएँ इसी उद्देश्य से स्थापित हैं कि उनके द्वारा शासक अपनी सत्ताओं को क़ायम रखें तथा उनका उपभोग करते रहें और शोषित एवं अत्याचार-पीड़ित जनता के लिये उन्हें सत्ताविहीन करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाय। वर्तमान पूँजीवादी राज्य इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। उनकी समस्त संस्थाएँ एक ही उद्देश्य से सञ्चालित हैं—उन विचारों तथा सिद्धान्तों का रक्षण जिनके आधार पर वर्तमान पूँजीवादी समाज खड़ा हुआ है अर्थात् व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता। पूँजीपति का अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर अधिकार क़ायम रहना चाहिये और उसका स्वतन्त्रता के साथ भोग कर सकने की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। क़ानून, पुलिस, मजिस्ट्रेट तथा देश का सशस्त्र बल भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये हैं। "साधारणतया दण्ड-विधान सम्पत्ति-सम्बन्धी अपराधों के सम्बन्ध में व्यक्ति-सम्बन्धी अपराधों की अपेक्षा अधिक कठोर रहा है क्योंकि पूँजीवाद मानवों के हितों की अपेक्षा सम्पत्ति के हितों की रक्षा के लिये अधिक व्यग्र है।"* जिस ढङ्ग से विदेशी शासन अपने विजित देशों में आधिपत्य क़ायम रखते हैं उससे भी यह सत्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है। इस प्रकार साम्यवादी यह मानते हैं कि राज्य एक वर्गीय संगठन है; वह एक विशुद्ध बल की संस्था है; वह समस्त समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करती और न सामान्य जन-कल्याण की सिद्धि की चेष्टा ही करती है।

साम्यवाद उत्पादन एवं वितरण की वर्तमान् पद्धति में आमूल परिवर्तन करना चाहता है। वह उत्पादन के समस्त साधनों को मज़दूरों के नियन्त्रण में लाना चाहता है, जो अपने श्रम द्वारा कच्चे माल को उपभोग्य वस्तुओं में परिणत करते हैं और इस प्रकार सम्पत्ति के एकमात्र स्रोत हैं। मज़दूरों के कल्याण का एक ही मार्ग है और वह यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश कर भूमि, पूँजी तथा उद्योगों का समाजीकरण कर दिया जाय। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक मज़दूरों की दशा में सुधार नहीं हो सकेगा और वे जीवन-संग्राम का अतिक्रमण नहीं कर सकेंगे। सर्वहारा लोग पूँजीवादी राज्य के शासन-यन्त्र पर अधिकार जमा कर पार्लामेण्ट के बहुमत द्वारा समाजवाद के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकते। वह यन्त्र तो पूँजीवाद के पोषण के लिये ही ठीक है; उसमें विपरीत

* Laski : Communism, p. 127.

उद्देश्य के लिये उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। समाजवादी समाज की स्थापना के लिये वह व्यर्थ है। क्रान्तिकारी उद्देश्यों के लिये उसका प्रयोग नहीं हो सकता।

"सर्वहारा वर्ग को पूँजीवादी राज्य का खात्मा करके उसके स्थान पर नये ढंग का सामाजिक संगठन स्थापित करना चाहिये जो समाजवाद की आवश्यकताओं के अनुकूल हो। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक वर्गीय चेतनायुक्त क्रान्तिवादी सर्वहारा वर्ग को दमनकारी राज्य के यन्त्र का प्रयोग करना होगा जिससे वह पूँजीपतियों को उनके उच्च स्थान से गिरा सके और उन्हें सम्पत्तिहीन कर सके। संक्रमण-काल में राज्य एक वर्गीय संगठन तथा सशस्त्र हिंसा की संस्था बना रहेगा जैसा वह अब तक रहा है। पूँजीवादी राज्य तथा संक्रमणकालीन इस राज्य में जो सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र होगा केवल इतना ही अन्तर होगा कि वह केवल सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करेगा, पूँजीपतियों का नहीं। राज्य का प्रयोग श्रमिकों के हितों की अभिवृद्धि के लिये किया जायगा, उसके विरोधियों के हितों के लिये नहीं। वह समस्त समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करता और न सामान्य जन-कल्याण की अभिवृद्धि के लिये ही प्रयत्न करता है। साम्यवादियों के लिये मज़दूरों तथा पूँजीपतियों के सामान्य हितों जैसी कोई वस्तु नहीं है।"

सर्वहारा राज्य का उद्देश्य पूँजीवादी राज्य के उद्देश्य से भिन्न है, अतः उसकी संस्थाएँ भी भिन्न होनी चाहिये। प्रत्यक्षतः उसमें ऐसी संस्थाओं के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता जो व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचारों पर आधारित हैं। उसकी शासन-समितियाँ मज़दूरों का मज़दूरों के रूप में उनके हितों के अनुसार संगठित समुदायों के रूप में प्रतिनिधित्व करती हैं, सामान्य निवास के आधार पर संगठित व्यक्तिगत नागरिकों के रूप में नहीं। दूसरे शब्दों में, जहाँ उदार प्रजातन्त्र अपनी संस्थाओं का निर्माण व्यक्तियों के अधिकारों के आधार पर करता है, वहाँ साम्यवाद उनका आधार मज़दूर वर्गों के सामूहिक अधिकारों पर रखता है। इस सिद्धान्त के आधार पर रूस में अनेकों 'सोवियतों' का निर्माण किया गया। 'सोवियत' रूसी राज्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। साम्यवादी अधिनायकतन्त्र का एक दूसरा महत्वपूर्ण अङ्ग रूस की साम्यवादी पार्टी है। "वह एक सुसंगठित राजनीतिक संस्था है जिसमें ऐसे कर्मठ सदस्य हैं जिनको उनकी योग्यता तथा भक्ति के कारण

श्रमिकों द्वारा निर्वाचित सरकारी संस्थाओं के सामने प्रस्तुत करने के लिये प्रस्ताव, योजनाएँ तथा नीतियाँ बनाने का भार निश्चिन्ततापूर्वक सौंपा जा सकता है।"*

राज्य—एक हिंसात्मक संस्था—

चूँकि सर्वहारा वर्ग इस नये राज्य का पूँजीवादी वर्ग के दमन तथा उसे सम्पत्तिहीन बनाने के लिये प्रयोग करेंगे, अतः यह स्पष्ट है कि वह दमनकारी तथा स्वेच्छाचारी होगा। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, उसे अपनी सत्ता का प्रयोग पूँजीपतियों के दमन के लिये करना होगा जिससे वे उस मजदूर वर्ग के द्वारा किये गये निर्णयों को स्वीकार करें जिसका वे शताब्दियों से शोषण करते रहे हैं। यह शासन न इस अर्थ में प्रजातान्त्रिक हो सकता है कि वह समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है और न इस अर्थ में स्वतन्त्र ही हो सकता है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये क़ायम है। ऐंगेल्स के निम्नलिखित कथन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जायगा : "चूँकि राज्य केवल अस्थायी संस्था है जिसका प्रयोग क्रान्ति में विरोधियों के बलपूर्वक दमन के लिये किया जाता है, इसलिये स्वतन्त्र तथा लोकप्रिय राज्य की बात करना सर्वथा हास्यप्रद होगी। जब तक सर्वहारा वर्ग को राज्य की आवश्यकता है, उसे उसकी आवश्यकता स्वतन्त्रता के हितों के लिये नहीं वरन् विरोधियों का दमन करने के लिये है; और जब स्वतन्त्रता की बात करना सम्भव हो जाता है, तब राज्य का अस्तित्व ही नहीं रह जाता।"

राज्य एक अस्थायी संस्था है—

उक्त अवतरण में ऐंगेल्स ने राज्य को 'अस्थायी' संस्था कहा है। उसने उस समय की ओर भी संकेत किया है जब कि राज्य का अन्त हो जायगा। इस भाषा का प्रयोग राज्य के सम्बन्ध में साम्यवादी सिद्धान्त की एक दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। वह राज्य को एक स्थायी सामाजिक सङ्गठन का रूप नहीं मानता और न उसे सर्वोच्च तथा सर्व प्रकार से पूर्ण सामाजिक सङ्गठन ही मानता है जैसा आदर्शवादी मानते हैं। साम्यवादी एक ऐसे समय की कल्पना करते हैं जब समाज राज्यविहीन (Stateless) हो जायगा और वे हर प्रकार से ऐसे समाज की स्थापना के लिये प्रयत्न करते हैं। उनके दृष्टिकोण को समझना सरल है। उनके अनुसार राज्य सारतः एक ऐसा

* Coker : Recent Political Thought, p. 169.

सङ्गठन है जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे वर्ग का अपने स्वार्थ के लिये शोषण करता है। पूँजीपतियों पर सर्वहारा वर्ग की विजय हो जाने के उपरान्त उसके (राज्य के) अस्तित्व के लिये कोई आधार ही नहीं रह जाता; उस समय राज्य का क्षय हो जायगा। साम्यवादियों का आदर्श एक वर्ग-हीन समाज है। उसमें वर्गों का स्थान स्वेच्छापूर्वक निर्मित समुदाय ले लेंगे। ऐसे समाज में राज्य की दमनकारी सत्ता के लिये कोई स्थान नहीं होगा, उसमें पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। राज्यविहीन तथा वर्गविहीन समाज के सम्बन्ध में "अराजकतावाद" पर विचार करते समय विशद रूप से विचार किया जायगा। जैसा हम आगे देखेंगे, यह आदर्श फैसिज्म के आदर्श से सर्वथा भिन्न है। राज्य का साम्यवादी सिद्धान्त फैसिस्ट सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि साम्यवादी रूस में राज्य के क्षय होने के कोई लक्षण नहीं देख पड़ते। शायद क्षय होने की प्रक्रिया बड़ी लम्बी होती है, उसके लिये कोई अवधि नियत नहीं की जा सकती। राज्य का विनाश एक पल भर में नहीं हो सकता।

साम्यवाद : एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन

साम्यवाद द्वारा एक सर्वोपरि सामाजिक सगठन के रूप में राष्ट्रीय राज्य के निषेध का उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति से सम्बन्ध है। यह स्मरण रखना चाहिये कि साम्यवाद वास्तव में एक सच्चा अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है। उसकी कोई राष्ट्रीय सीमाएँ नहीं हैं। प्रत्येक देश की साम्यवादी पार्टी अपने आप को दूसरे देश की साम्यवादी पार्टी से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध समझती है। सभी राष्ट्रीय साम्यवादी दल अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सङ्घ (Communist International) के अधीन हैं और उसके आदेश को मानने के लिये वचनबद्ध हैं। साम्यवादी घोषणापत्र के अन्तिम शब्द निम्न प्रकार हैं : "सर्वहारा वर्ग को अपने बन्धन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खोना है वरन् उसे विश्व को विजय करना है। सब संसार के मज़दूरो, परस्पर मिल जाओ।" इन शब्दों ने इस आन्दोलन को अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे दिया है। एक सच्चे साम्यवादी की अपने राष्ट्र की अपेक्षा अपने दल के प्रति अधिक भक्ति होती है; उसका सर्वप्रथम कर्तव्य कॉमिण्टर्न (Commintern) के प्रति है, उस देश के प्रति नहीं जहाँ उसका आवास है। इस दृष्टि से भी साम्यवादी दृष्टिकोण फैसिस्ट दृष्टि[illegible] से, जो उग्र रूप में राष्ट्रीय है, सर्वथा भिन्न है। [illegible] यह ध्यान रखना उचित है कि सोवियत रूस अब राष्ट्रीय आदर्श की [illegible] झुकता जाता है।

ऐसा भी सुना गया था कि कई देशों की साम्यवादी पार्टी ने कॉमिण्टर्न की अधीनता को अस्वीकार कर दिया है। द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में कॉमिण्टर्न का भङ्ग कर दिया गया था। बाद में 'कॉमिनफॉर्म' (Comminform) के नाम से उसका पुनर्जन्म हुआ परन्तु हाल ही में उसका भी भंग कर दिया गया है।

साम्यवाद के अन्तर्गत मजदूरों की अवस्था

यदि सोवियत रूस के आधार पर इस सम्बन्ध में कुछ परिणाम निकाले जायँ, तो यह कहा जा सकता है कि साम्यवादी समाज में कार्य अथवा श्रम को दायित्व तथा सम्मान की बात दोनों ही समझते हैं। ऐसे समाज का एक प्राथमिक नियम यह है—"जो काम नहीं करता, उसे खाना भी नहीं मिलता।" परन्तु मज़दूर को अपने काम का चुनाव करने की स्वतन्त्रता नहीं है; उसे वही काम करना पड़ता है जो उसके लिये राज्य निश्चय करता है। उसके हितों का संरक्षण उन विविध श्रम-सङ्घों द्वारा होता है, जिसका वह सदस्य होता है। इन सङ्घों को कार्य करने की कोई वास्तविक स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उन पर साम्यवादी पार्टी का आधिपत्य है और वे केवल उसकी सहायक संस्था जैसी हैं। वेतन व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर दिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में आदर्श यह है—"प्रत्येक अपनी योग्यतानुसार कार्य करे और प्रत्येक को अपने परिश्रम के अनुसार मिले।" इस उद्देश्य से सब औद्योगिक श्रमिकों को योग्यता के अनुसार कई समुदायों में विभाजित कर दिया गया है।

साम्यवाद का मूल्यांकन

साम्यवादी रूस की सफलताओं तथा असफलताओं पर यहाँ विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम तो अपना ध्यान उसके सैद्धान्तिक मूल्यांकन तक ही सीमित रखेंगे। सबसे प्रथम हम इस साम्यवादी विचार को स्वीकार नहीं करते कि राज्य एक वर्ग का सङ्गठन है और वह हिंसात्मक संस्था है। वर्तमान राज्यों के सम्बन्ध में यह बात कितनी ही सत्य क्यों न हो और उसने उनके दोषों तथा त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित करने में चाहे कितनी ही बड़ी सेवा क्यों न की हो, वास्तव में राज्य का वही सिद्धान्त समुचित है जो प्राचीन सिद्धान्त (Classical Theory) के नाम से विख्यात है और जिसके अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है जिसका लक्ष्य नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास है। यह इच्छा पर कायम है, बल पर नहीं; साम्यवादी विचार दूषित राज्यों के सम्बन्ध में ही सत्य है।

दूसरे, यह स्वीकार करते हुए भी कि आजकल का राज्य पूँजीवादी वर्ग के पक्ष में अधिक है और मज़दूर वर्ग के प्रति अत्याचारी तथा दमनकारी है तथा इसमें सुधार की आवश्यकता है, हमें उन दोषों को दूर करने तथा उसमें परिवर्तन करने के जो उपाय साम्यवादी बतलाते हैं उनके औचित्य पर सन्देह है। इसमें सन्देह है कि हिंसात्मक आन्दोलन तथा तीव्र वर्गीय संघर्ष, जिसकी क्रान्तिकारी साम्यवादी कल्पना करते हैं, आदर्श समाज की स्थापना कर सकेंगे। हिंसा की बार-बार चर्चा, उसका प्रोत्साहन तथा उसका प्रयोग जंगलीपन के बन्धनों को शिथिल कर देगा जिससे एक न्याय्य, सुव्यवस्थित तथा शान्तिमय समाज की स्थापना असम्भव हो जायगी। गत दोनों महायुद्धों के बाद मित्र-राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की अभिवृद्धि के प्रयत्नों की असफलता से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। क्रान्तियों के द्वारा उनके प्रारम्भिक उद्देश्यों की प्राप्ति में कभी-कभी ही सफलता मिलती है। वे समाज को एक अस्त-व्यस्त स्थिति में छोड़ देती हैं और कोई यह नहीं कह सकता कि उस स्थिति में कैसे समाज का जन्म होगा। प्रायः क्रान्तियों में से जिस समाज का जन्म होता है, उसका रूप उससे भिन्न होता है जिसकी हम आशा करते हैं। क्रान्ति की सफलता के बाद जिन व्यक्तियों के हाथों में सत्ता होती है, वे आवश्यक रूप से क्रान्ति के संचालक नहीं होते; वे उनकी अपेक्षा कम आदर्शवादी तथा अधिक स्वार्थी और महत्वाकांक्षी होते हैं। मोर्ले ने लिखा है कि "क्रान्तिकारी नेता अग्नि-पथ पर चलता है।" वह यह नहीं जानता कि उसका मार्ग उसे किधर ले जायगा। अतः इसकी सम्भावना नहीं है कि साम्यवादियों के ढङ्ग उन्हें अपने चरम ध्येय तक पहुँचा देंगे।

इस संबन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आजकल के समय में क्रान्तिकारी विप्लव उतना आसान नहीं है जितना कि पैरिस कम्यून (Paris Commune) के समय था। किसी भी प्रजा को उस शासन के विरुद्ध सफलता के सुयोग प्राप्त नहीं हो सकते जिसे सुशिक्षित तथा यांत्रिक सैन्य बल का समर्थन प्राप्त है।

इसके बाद एक दूसरी कठिनाई और भी पैदा होती है। साम्यवादियों की यह कल्पना है कि पूँजीवादी वर्ग के हाथों से सत्ता प्राप्त करने के बाद साम्यवादी दल सत्ता का परित्याग कर देगा और राज्यविहीन तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना हो जायगी। मानव अनुभव में

ऐसी कोई बात नहीं है जिससे इस त्याग की सम्भावना सत्य प्रमाणित हो सके। जिन लोगों के हाथों में सत्ता आ जाती है, वे उस समय तक उसे अपने हाथ में रखते हैं जब तक उनमें उसकी सामर्थ्य होती है। ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है कि साम्यवादी दल ऐसा नहीं करेगा। यह भी समझ में नहीं आता कि जो शासन बल-प्रयोग एवं हिंसा के आधार पर टिका हुआ है वह कैसे ऐसे नये समाज की स्थापना कर सकेगा जिसमें बल-प्रयोग तथा हिंसा का सर्वथा अभाव हो। जितना ही हम इस पर विचार करते हैं, उतनी ही हमारी यह धारणा पुष्ट होती जाती है कि सशस्त्र क्रान्ति वैसे नये प्रकार के समाज को जन्म नहीं दे सकती जिसकी साम्यवादी कल्पना करते हैं। हिंसा की प्रणाली 'न्याय की घात्री' नहीं हो सकती।

अन्त में, यह भी सन्देहास्पद है कि वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना वांछनीय है अथवा इसकी मानव प्रकृति से कुछ संगति भी है। वर्गीय भेदभाव मानव-प्रकृति में जड़ पकड़ गये हैं; ऐसा कोई मानव-समाज नहीं है जिसमें उनका विकास न हुआ हो। राज्य भी मानव प्रगति की एक अनिवार्य शर्त है; सभ्यता, संस्कृति, कला, दर्शन, धर्म, क्षेत्रों में, वे सभी तत्व जो मानव जीवन को श्रेष्ठतम एवं सुन्दर बनाते हैं राज्य की छत्रछाया में ही उपलब्ध हो सके हैं। साम्यवादी आदर्श मानव-जाति के बहुमत को आकर्षक प्रतीत नहीं होता।

फैसिज़्म के साथ तुलना

साम्यवाद और फैसिज़्म की रीतियों (पद्धतियों) में अनेक समानताएं हैं तथापि वे दोनों अपने आदर्शों में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। अनेक मामलों में उनके शासन की रीतियाँ समान हैं, यद्यपि उनके उद्देश्य विभिन्न हैं। साम्यवादियों तथा फैसिस्टों दोनों ने हिंसा द्वारा सत्ता हस्तगत की और दोनों ने एक ही प्रकार का शासन अर्थात सर्वसत्तावादी शासन स्थापित किया। इटली तथा रूस दोनों ही देशों में एक दल जनता के नाम पर अधिनायकीय सत्ता का प्रयोग करता है और प्रचार, हिंसा तथा आतङ्कवाद द्वारा जनता पर अपनी एकरूप विचारधारा थोपते हैं। दोनों समाचार-पत्र, स्कूल आदि प्रचार के साधनों पर अपना एकाधिकार रखते हैं और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दमन करते हैं। दोनों ही स्वतंत्र विचार-विनिमय से भयभीत रहते हैं और आलोचना को सहन नहीं कर सकते। दोनों में से कोई भी अपने विरोधी दल को कायम नहीं रहने

देता। दोनों ही सांसद प्रजातन्त्र तथा सांसद संस्थाओं का उपहास करते है। दोनों के नेता बहुत ही वीर, पराक्रमी, साहसी, चतुर और लोक-भावना । पूर्ण रहे हैं जिनका उद्देश्य अपने-अपने राष्ट्र को क्षयग्रस्त एवं मरणासन्न ासनों के अत्याचारों से रक्षा करना था। युद्धोपरान्त उनके देशों में ो अव्यवस्था फैली ; उससे उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया। अल्पमत-ासनों के रूप में उन्होंने सत्ता प्राप्त की और अपने विरोधी दलों के वेनाश के लिये कठोर उपायों का प्रयोग किया। इन दोनों ने अपने-पने राष्ट्रों के नवयुवकों में अपने-अपने सिद्धान्तों के संस्कार डालने के लये बड़ी ज़बरदस्त युवक-संस्थाएँ स्थापित की हैं। यद्यपि फैसिज़्म के ार्थिक सिद्धान्त पूर्ण रूप से साम्यवाद के आर्थिक सिद्धान्तों के विरुद्ध , तो भी फैसिस्ट दृष्टिकोण में व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में जो रिवर्तन हुआ है (यह बात नात्सीवाद के सम्बन्ध में भी सत्य है) उनसे ह साम्यवादी व्यवहार के निकट पहुँच गया है।

इन समानताओं के होने पर भी दोनों पद्धतियाँ सर्वथा भिन्न हैं। साम्यवादी एक वर्ग के रूप में पूँजीपतियों का अन्त कर देना चाहता है और एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था का स्वप्न देखता है, जिसमें मज़दूर तथा मालिक का भेदभाव नहीं रहेगा किन्तु एक फ़ैसिस्ट मज़दूर वर्ग तथा मालिक वर्ग दोनों के अस्तित्व को आवश्यक मानता है और उनकी रक्षा करना चाहता है। उसे पूँजीपतियों तथा मज़दूरों के हितों में कोई सनातन विरोध नहीं दिखाई देता और वह इन दोनों के सम्बन्धों को सामंजस्यपूर्ण बनाकर राष्ट्रीय ध्येय की सिद्धि चाहता है। इससे दोनों सिद्धान्तों के अनुयायियों में जो कटुता है, उसका और पश्चिम के प्रजातन्त्रीय राष्ट्रों की साम्यवाद की अपेक्षा फैसिज़्म के साथ समझौता करने के लिये जो तत्परता है उसका कारण मालूम हो जाता है।* वे यह मानते हैं कि साम्यवाद से फैसिज़्म की अपेक्षा वर्तमान् सभ्यता

* द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ में इङ्गलैण्ड बहुत समय तक जर्मनी से बात-चीत करता रहा और उसने साम्यवादी रूस के साथ मित्रता करने की कोई इच्छा प्रकट नहीं की। बाद में इङ्गलैण्ड तथा रूस में जो मित्रता हुई वह केवल सांग्रामिक आवश्यकताओं के कारण थी। शत्रु का शत्रु मित्र होता है। युद्ध की समाप्ति के बाद से जो कुछ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हो रहा है उससे भी हमारा विचार सत्य प्रकट हो रहा है। योरोप में रूस के विरुद्ध मोर्चाबन्दी को मज़बूत करने के लिये अब स्पेन को भी जिसे फ़ैसिस्ट कहकर अभी तक बहिष्कार हो रहा था, पश्चिमी प्रजातन्त्र संयुक्त राष्ट्र में शामिल करने जा रहे हैं।

के लिये बड़ा खतरा है। साम्यवाद वर्तमान् सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक व्यवस्था के लिये महान् खतरा है; फैसिज्म सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था में कोई भयङ्कर हस्तक्षेप नहीं करता, वह तो एक नवीन राजनीतिक सङ्गठन की स्थापना करता है और आर्थिक क्षेत्र में भी काफी परिवर्तन करता है परन्तु क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं।

दूसरे, साम्यवाद सिद्धान्त की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय है। वह एक वर्गविहीन तथा राज्यविहीन विश्व-समाज की स्थापना करना चाहता है; वह राष्ट्रीय सीमाओं को नहीं मानता। दूसरी ओर फैसिज्म अत्यन्त उग्र रूप में राष्ट्रीय है; वह राष्ट्रीय राज्य को एक सर्वोपरि सामाजिक सङ्गठन मानता है और व्यक्ति को उसकी पूर्ण अधीनता में रखता है। इस प्रकार साम्यवाद की विचारधारा सर्वथा नवीन है। फैसिज्म की कोई नई विचारधारा नहीं है, वह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का ही नया रूप है। लेनिन ने फैसिज्म को पूँजीवादी साम्राज्यवाद की अन्तिम अवस्था कहा है। इस प्रकार राष्ट्रीय राज्य के प्रति फैसिस्ट तथा साम्यवादी दोनों का दृष्टिकोण विभिन्न है। साम्यवाद अपने को विश्वव्यापी क्रान्ति का अग्रदूत मानता है जो वर्तमान् राष्ट्रीय सीमाओं का विध्वंस कर देगी। फ़ैसिज्म राष्ट्रीय राज्य का अनन्य भक्त है और उसके गौरव तथा उसकी महानता को बढ़ाना चाहता है।

तीसरे, साम्यवाद अनीश्वरवादी है; उसका ईश्वर एवं धर्म में विश्वास नहीं है। उसका अपना कोई राजधर्म नहीं है। फ़ैसिज्म जीवन में से धर्म का बहिष्कार नहीं करना चाहता और न वह धर्म को विष के समान ही मानता है। अभी हाल ही में साम्यवादी रूस तथा नात्सी जर्मनी और फैसिस्ट इटली तथा उनके साथियों के बीच जो संहारकारी युद्ध हो चुका है उससे इन दोनों सिद्धान्तों का विरोध सिद्ध हो जाता है।

अध्याय ११
सिन्डीकेलिज़्म

पहले हम बतला चुके हैं कि समष्टिवाद की नीतियाँ एवं कार्यक्रम समस्त समाजवादियों को मान्य नहीं है। उनमें बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो समष्टिवादियों की राज्य-भक्ति के बड़े विरोधी हैं। वे उनके वैधानिक साधनों को पसन्द नहीं करते और न राज्य द्वारा उद्योगों के नियन्त्रण की नीति को ही पसन्द करते हैं। वे यह मानते हैं कि राज्य एक ऐसा माध्यम नहीं है जिसके द्वारा वे अभीष्ट सामाजिक परिवर्तन कर सकें। ऐसे परिवर्तनों को तो आवश्यकतानुसार उपयुक्त साधनों द्वारा मज़दूर-सङ्घों में संगठित मज़दूर ही सीधी कार्यवाही द्वारा कर सकते हैं। वे यह भी कहते हैं कि मज़दूरों की दशा राज्य द्वारा नियन्त्रित उद्योगों के अन्तर्गत भी बुरी बनी रहेगी। उसमें सुधार उसी समय सम्भव होगा जब कि स्वयं मज़दूरों का उन अवस्थाओं पर नियन्त्रण हो जिनमें उन्हें काम करना पड़ता है। राजनीतिक या विकासवादी समाजवाद के विरुद्ध यह विद्रोह दो समाजवादी सम्प्रदायों—सिन्डीकेलिज़्म तथा गिल्ड-समाजवाद, में प्रगट हुआ। इन दोनों में सिन्डीकेलिज़्म पहले का है और वह अधिक उग्र भी है। सिन्डीकेलिज़्म का जन्म फ्रांस में हुआ। गिल्ड-समाजवाद का जन्म ब्रिटेन में हुआ। वह सिन्डीकेलिज़्म का ही सशोधित रूप है जिसमें सिन्डीकेलिज़्म की अच्छी बातों का समावेश कर लिया गया है।

सिद्धान्त का वर्णन—

सिन्डीकेलिज़्म भी समाजवाद के अन्य रूपों की भाँति सामाजिक सङ्गठन का एक सिद्धान्त और साथ ही एक कार्यक्रम भी है। किन्तु उसने भावी समाज का चित्र स्पष्ट अंकित नहीं किया है। उसके सिद्धान्तकारों ने इस समस्या पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इसके कई कारण

हैं। सिन्डीकेलिज्म का अवसरवादी तथा व्यावहारिक रूप ही इसके लिये उत्तरदायी है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि सिन्डीकेलिज्म का जन्म एक सिद्धान्त के रूप में नहीं; बल्कि फ्रान्स में एक मजदूर-आन्दोलन के रूप में हुआ और इस सिद्धान्त का विकास उस आन्दोलन में से ही हो गया। इस मामले में यह समाजवाद, साम्यवाद और अराजकतावाद के विरुद्ध है, जिनके संस्थापक कार्ल मार्क्स, ऐंगेल्स, लेनिन तथा प्रिंस क्रोपॉटकिन जैसे उच्च कोटि के विद्वान् थे। सिन्डीकेलिज्म के इतिहास में ऐसे कोई बड़े नाम नहीं आते। उसके सिद्धान्तकार ऐसे व्यक्तियों में से हैं जिन्हें शारीरिक श्रम का अनुभव था। यह एक सच्चे अर्थ में मज़दूर वर्ग का आन्दोलन है; समाजवाद के अन्य रूपों का प्रादुर्भाव मध्य-वर्ग के सिद्धान्तकारों के मस्तिष्कों में हुआ, जिनमें से किसी को शारीरिक श्रम का व्यक्तिगत अनुभव नहीं था। इस व्यापक भावना के कारण कि जब मज़दूर समाज के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेंगे, तब स्वयं ही नवीन सामाजिक सङ्गठन का विकास हो जायगा, इस आन्दोलन के सिद्धान्तकारों ने उस भावी रूप के प्रश्न पर विचार नहीं किया जिसे भावी सिन्डीकेलिस्ट समाज धारण करेगा। फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस समाज में उत्पादन के समस्त साधनों पर सामाजिक स्वाम्य होगा परन्तु उनका वास्तविक प्रयोग मज़दूरों के हाथों में होगा जो मज़दूर-संघों के रूप में सङ्गठित होंगे। फ्रेंच भाषा में मज़दूर-संघ को 'सिन्डीकेट' कहते हैं। ये सिन्डीकेट ही अपने-अपने क्षेत्र में माल के उत्पादन तथा सेवाओं की व्यवस्था करेंगे। समस्त उद्योगों के स्थानीय सिन्डीकेट 'बूर्स डु ट्रेवेल' में सङ्गठित किये जायेंगे जिसके द्वारा उनका परस्पर एक दूसरे से सम्बन्ध होगा और जो राज्य के विभिन्न भागों के बीच पण्यों के विनिमय की व्यवस्था करेंगे। प्रत्येक व्यापार या उद्योग के लिये एक 'राष्ट्रीय फेडरेशन' होगा परन्तु उद्योग पर नियन्त्रण स्थानीय 'बूर्स' का होगा। इस सङ्गठन का फ्रांस के वर्तमान् मज़दूर-आन्दोलन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये सिन्डीकेलिज्म को भली-भाँति समझने के लिये उसको समझ लेना परम आवश्यक है।

भावी समाज में, जिसकी सिन्डीकेट कल्पना करते हैं, राजनीतिक राज्य जैसी कोई वस्तु नहीं होगी। सिन्डीकेलिस्ट केन्द्रीय शासन का सर्वथा विनाश चाहता है। केन्द्रीय शासन की सत्ता का विनाश करने और औद्योगिक आत्म-साहाय्य तथा व्यक्तिवाद पर ज़ोर देने में सिन्डी-

केलिज़्म अराजकता का अनुसरण करता है जिसका एक प्रमुख व्याख्याकार प्रोधों (Proudhon) है जिससे सिन्डीकेलिस्टों ने प्रेरणा प्राप्त की। सिन्डीकेलिज़्म के अनुसार भावी समाज किसान-मज़दूरों के छोटे-छोटे समुदायों का, जो सहकारी पद्धति के अन्तर्गत उत्पादन पर नियन्त्रण करेंगे (उसमें कोई केन्द्रीय शासन नहीं होगा), एक शिथिल संघ होगा। इस कल्पना के लिये भी सिन्डीकेलिज़्म अराजकतावाद का ऋणी है। एक अंग्रेज़ लेखक ने तो उसे "सङ्गठित अराजकता" कहा है।

सिन्डीकेलिज़्म की प्रमुख विशेषताएँ हैं केन्द्रीय दमनकारी सत्ता का विरोध तथा सिन्डीकेलिस्ट समाज की स्थापना मे वैधानिक उपायों के प्रयोग से घृणा। इसके उपयुक्त कारण मालूम करना वांछनीय है। इसका आंशिक कारण तो यह है कि फ्रेंच मज़दूरों के प्रति राज्य का व्यवहार बहुत ही शत्रुतापूर्ण और उद्योगपतियों के साथ अत्यन्त मैत्रीपूर्ण रहा है। फ्रेंच राज्य ने बड़ी अनिच्छापूर्वक मज़दूरों के अपने वैध अधिकारों एवं हितों की रक्षा के लिये सङ्गठन तथा कार्य करने के अधिकार को स्वीकार किया है। १६वीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी तथा २०वीं शताब्दी के आरम्भ में बहुत से फ्रेंच राजनीतिज्ञों ने जिन्होंने समाजवादी के रूप में राजनीति में प्रवेश किया मज़दूर हड़तालियों के दमन में सैन्य दलों का प्रयोग किया। समाजवादी मिलराँ का उदाहरण प्रसिद्ध है जिसने सन् १८६६ ई० में वाल्डेक-रूसो के मन्त्रि-मण्डल में पद-ग्रहण किया था। इस प्रकार के अनुभवों से सिन्डीकेलिस्टों में यह विश्वास पैदा हो गया कि राज्य आवश्यक रूप से पूँजीवादी या मध्यवर्गीय संस्था है जिसका मुख्य कार्य शान्तिकाल में राष्ट्र के भीतर मज़दूरों के विरुद्ध और युद्ध-काल मे बाहरी शत्रु से पूँजीवादी समुदायों की रक्षा करना है। इस प्रकार वे मार्क्स की इस उक्ति को मानते हैं कि राज्य पूँजीवादी शोषण का एक यन्त्र है जो अपनी प्रकृति के कारण ही मज़दूरों के हितों के प्रति सहानुभूति नहीं रख सकता। उस सामाजिक सङ्गठन का रूप चाहे जो कुछ हो जिसमें राज्य विद्यमान है, उसकी यह प्रकृति क़ायम रहेगी। इस प्रकार अनुभव तथा सिद्धान्त दोनों ही से राज्य के विरुद्ध अविश्वास उत्पन्न हुआ।

सिन्डीकेलिस्टों के राज्य के विरोध का एक दूसरा कारण यह है कि सिन्डीकेलिस्ट उपभोक्ता के दृष्टिकोण की अपेक्षा उत्पादक के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है जब कि राज्य उपभोक्ता का प्रतिनिधित्व करता

है—उत्पादक का नहीं ; जो अधिकार एवं सत्ता राज्य में निहित होगी वह उपभोक्ताओं की ही सत्ता होगी। सिन्डीकेलिज्म के अनुसार मज़दूरों को न केवल आर्थिक व्यवस्था पर वरन् राजनीतिक व्यवस्था पर भी नियन्त्रण करना चाहिये क्योंकि वे ही सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं।* समाज के जीवन में उनके महत्व के कारण सिन्डीकेलिस्ट लोग मज़दूरों को राष्ट्रीय जीवन में एक नया उच्च, गौरवपूर्ण और स्वतन्त्र स्थान देना चाहते हैं, जिसके वे अपने कार्य के कारण उपयुक्त हैं। समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन पर मज़दूरों के नियन्त्रण पर वे जो जोर देते हैं उससे उनकी समष्टिवाद से भिन्नता प्रकट होती है। इसी से उसे शक्ति और उसका विशिष्ट रूप मिलता है। सिन्डीकेलिस्टों का ध्येय मज़दूरों की दशा में केवल सुधार करना ही नहीं है, वे केवल मज़दूरी बढ़ाने, काम के घण्टे कम कर देने या उद्योग में सुधार से ही सन्तुष्ट नहीं होते। साधारण समाजवादियों ने मज़दूरों को मुनाफे में हिस्सा देने, उद्योगों का मालिकों तथा मज़दूरों की समितियों द्वारा प्रबन्ध और इन दोनों के बीच विवादों के पंचायती निर्णय आदि की जिन योजनाओं को प्रस्तुत किया है, उनमें सिन्डीकेलिस्टों को कोई आकर्षण नज़र नहीं आता। सिन्डीकेलिस्ट मज़दूरों को ऐसी स्थिति में रख देना चाहता है, जिसमें वे स्वयं अपने काम तथा जीवन की अवस्थाओं का निर्णय कर सकेंगे जिनमें उनकी रचनात्मक शक्ति का प्रदर्शन तथा व्यक्तित्व का विकास हो सकेगा। दूसरे शब्दों में, सिन्डीकेलिज्म मज़दूरों को समाज में सत्ता के पद पर देखना चाहता है। यह सब उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक उत्पादन के भौतिक साधनों पर पूँजीपति का अधिकार एवं नियन्त्रण है। जब तक पूँजी पर से व्यक्तिगत स्वामित्व न उठा दिया जायगा तब तक मज़दूरों का सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा शोषण होता रहेगा।

इस प्रकार सिन्डीकेलिज्म पूँजीपतियों तथा मजदूरों के बीच वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को जा पहुँचता है जो कार्ल मार्क्स का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह इस धारणा पर चलता है कि मज़दूरों तथा पूँजीपतियों

*सिन्डीकेलिज्म के अनुसार समाज सारतः सम्पत्ति के उत्पादकों का एक समुदाय है। 'उत्पादक की हैसियत में मनुष्य का जो प्राथमिक काम है, उसी से उसकी सामाजिक मनोवृत्ति का निर्माण होता है।' (Wasserman : op. cit., p. 123.)

में कोई भी समझौता सम्भव नहीं है; उनमें सनातन संघर्ष रहेगा। अपने सुधार के लिये मज़दूरों को उत्पादन के साधनों पर अधिकार प्राप्त करना होगा। इसके लिये पूँजीपतियों का निष्कासन तथा उसके समर्थक राज्य का विनाश आवश्यक है।* इस प्रकार सिन्डीकेलिज़्म के सिद्धान्त का एक भाग अर्थात् समाज के आर्थिक आधार-सम्बन्धी धारणा तथा वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त, कार्ल मार्क्स की देन। इसे हम मार्क्सवाद, अराजकतावाद और क्रान्तिकारी मज़दूर-संघवाद का मिश्रण कह सकते हैं। इन तीनों के कुछ अंशों से एक नये सिद्धान्त का निर्माण हुआ।

सिन्डीकेलिज़्म की प्रणाली—

सिन्डीकेलिस्टों ने अपने ध्येय की प्रकृति पर इतना ज़ोर नहीं दिया जितना उसकी प्राप्ति के साधनों पर। राज्य के प्रति मज़दूरों तथा पूँजीपतियों में समझौते की सम्भावना में अविश्वास के कारण ही उन्होंने वैधानिक मार्ग को अस्वीकार करके सीधी कार्यवाही की प्रणाली को ग्रहण किया है। सामाजिक संगठन में शान्तिमय क्रांति पैदा करने के लिये संसद में बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से वे चुनावों का समर्थन नहीं करते। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, फ्रान्स में समाजवादी मन्त्रियों के सम्बन्ध में उनका अनुभव बड़ा कड़ुआ था। उनके लिये अपने उद्देश्य में सफलता-प्राप्ति के लिये वर्गीय चेतना तथा क्रान्तिकारी भावना को तीव्र रूप देना अनिवार्य है। यदि संसद-प्रणाली को स्वीकार किया जाय तो ये दोनों ही कुंठित हो जायँगी। संसद का मज़दूर-सदस्य अपनी क्रान्तिकारी भावना खो बैठेगा और उसमें वैधानिक सुधार की भावना जाग्रत हो जायगी। वह संसद में अपने निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने जाता है, मज़दूरों के हितों की लड़ाई लड़ने नहीं। ऐसे प्रतिनिधियों से मज़दूरों को अधिक आशा नहीं रखनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं है कि सब मज़दूर एक साथ मिलकर मत दें, राजनीतिक प्रश्नों पर उनके विचार भिन्न हो सकते हैं। सांसद कार्यों में सफलता प्राप्त करना आसान बात नहीं है। इन कारणों से सिन्डीकेलिस्टों ने संसद-प्रणाली को त्याग दिया है जिसका समष्टिवादी बड़े प्रबल रूप से अनुमोदन करते हैं और वे आर्थिक क्षेत्र में सीधी कार्यवाही (Direct Action) के पक्ष में हैं।

---

* पश्चिमी प्रजातन्त्रीय राज्य, जैसे इंग्लैण्ड, फ्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका प्रायः पूँजीवादी प्रजातन्त्र कहे जाते हैं। राजसत्ता पूँजीपतियों के हाथ में है, अतः राज्य भी पूँजीपतियों के पक्ष में रहता है।

हड़ताल तथा सेबोटाज़ (Sabotage) सीधी कार्य-प्रणाली के दो रूप हैं। लेबल (Label) और बहिष्कार (Boycott) भी दो छोटे अस्त्र हैं। 'लेबल' का प्रयोग केवल सिन्डीकेलिस्ट ही नहीं करते, इसका प्रयोग समस्त संसार के देशों में सङ्गठित मज़दूरों द्वारा किया जाता है। 'लेबल' से यह मालूम होता है कि अमुक पण्य ऐसे कारखानों में तैयार किया गया है, जिसमें मजदूर-सङ्घ के मज़दूर काम करते हैं। उपभोक्ता ऐसे माल को खरीदने से इंकार करके जिस पर निश्चित मज़दूर-सङ्घ का लेबल न हो मिल-मालिकों पर भारी प्रभाव डाल सकते हैं। बहिष्कार के भी अनेक रूप हो सकते हैं। माल की निन्दा, गलत समाचारों का प्रचार तथा कारोबार के गुप्त भेदों को प्रकट कर देना भी ऐसे तरीक़े हैं जिनका सीधी कार्यवाही में प्रयोग किया जाता है। 'सेबोटाज़' का अर्थ है उद्योग की सुव्यवस्थित प्रक्रिया में गुप्त रूप से बाधा डालना। मालिक के कारखाने में काम करते हुये, मज़दूर अनेक उपायों से मालिक के मुनाफे में कमी कर सकता है और उसे घाटा दे सकता है। 'जैसी तेरी कोमरी, वैसे मेरे गोत' के सिद्धान्त पर वह ठीक काम नहीं करता। वह तैयार माल को नष्ट कर देता है तथा मशीनों को अस्तव्यस्त कर देता है। वह समस्त नियमों का इस प्रकार से अक्षरशः पालन करता है कि उत्पादन के परिमाण में कमी हो जाय। सेबोटाज के कुछ रूप तो नैतिक दृष्टि से उचित नहीं हैं किन्तु उनके समर्थक उनका यह कहकर अनुमोदन करते हैं कि ये युद्ध के अङ्ग हैं।

सीधी कार्यवाही का सबसे प्रभावकारी ढंग है हड़ताल। सिन्डीकेलिस्ट हड़ताल को सबसे अधिक महत्व देते हैं। हड़ताल एक ही कारखाने तक या एक ही उद्योग तक सीमित हो सकती है। वह स्थानिक, प्रादेशिक अथवा राष्ट्रीय भी हो सकती है। सबसे उत्तम हड़ताल सामान्य हड़ताल (General Strike) है जिसका आशय है किसी महान् आधारभूत उद्योग या उद्योगों में बड़ी विशाल संख्या में मज़दूरों द्वारा हड़ताल जिससे वह उद्योग अस्तव्यस्त हो जाय और इस प्रकार समाज मजदूरों की शक्ति का अनुभव करे। इक्के-दुक्के कारखानों में हड़ताल से सामान्य हड़ताल के लिये तैयारी होती है। उनसे मज़दूर-वर्ग में संगठन बढ़ता है, चेतना एवं उत्साह पैदा होता है और मज़दूरों तथा पूँजीपतियों में भेद तीव्रतम हो जाता है। यदि हड़तालें असफल भी रहें, तब भी इनसे ये लाभ तो होते ही हैं। 'सामान्य हड़ताल' के सिद्धान्त का

विकास सोरेल ने किया है जो सिन्डीकेलिज़्म का दार्शनिक माना जाता है। वह उसे एक कल्पना (Myth) मानता है; इस कारण उस पर विचार या विवाद नहीं हो सकता।

सीधी कार्यवाही के किसी भी कार्य-क्रम को सम्भव या सफल बनाने के लिये सिन्डीकेलिस्टों को मज़दूरों का सङ्गठन मज़दूर-संघों या सिन्डीकेटों के रूप में करना चाहिये। *सिन्डीकेट के सदस्य के रूप में* ही मज़दूरों में वर्ग-चेतना का विकास हो सकता है जो अत्यन्त आवश्यक है।

सिन्डीकेलिज़्म का मूल्यांकन—

सिन्डीकेलिज़्म के विरुद्ध आपत्तियाँ दो विभिन्न वर्गों की ओर से की गई हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनको समाज की औद्योगिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का नियन्त्रण पूर्ण रूप से मज़दूरों के हाथ में देने में खतरा दिखाई देता है। वे कहते हैं कि उपभोक्ताओं के कुछ उचित हित हैं जिनका संरक्षण होना चाहिये। इसका कोई निश्चय नहीं कि औद्योगिक मज़दूर सत्ता का दुरुपयोग करके उपभोक्ताओं के हितों पर आघात नहीं करेंगे। गिल्ड-समाजवादी इस खतरे का अनुभव करके उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिये उन्हें प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था करते हैं। अनेक समाजवादी लेखकों ने सुधार-प्राप्ति के लिये वैधानिक उपायों का मूल्य बतलाया है। यदि मज़दूरों में अनुशासन और एकता हो, जिनके *बिना साधारण* हड़ताल कभी सफल नहीं हो सकती, तो इन गुणों की सहायता से वैधानिक उपायों द्वारा ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है; हाँ, वह धीरे-धीरे अवश्य होगी। वास्तव में, यदि मज़दूर संसद में बहुमत प्राप्त कर लें तो सफलता की सम्भावना अधिक है (जैसा हाल में इंगलैंड में हुआ है) और वह सफलता स्थायी भी होगी। वे इन दोनों रीतियों को शामिल करने पर जोर देते हैं; इस सम्बन्ध में भी, गिल्ड-समाजवादी *सिन्डीकेलिज़्म के सिद्धान्त में जो मूल्यवान् बात है*, उसे ग्रहण कर लेता है और जिस वस्तु का वह निषेध करता है उसे स्वीकार करके उसकी एक-पक्षीयता को दूर कर देता है।

हड़तालों की सफलता या कार्य-साधकता के सम्बन्ध में भी सन्देह किया जाता है। असफल हड़तालों से मज़दूरों का नैतिक पतन हो जाता है; उनसे मज़दूरों में वर्ग-संघर्ष की चेतना तीव्रतम होने के स्थान पर शिथिल हो जाती है। उनसे निर्दोष तीसरे पक्ष की हानि होती है

जिसकी सहानुभूति मजदूर इस प्रकार खो देते हैं। बहुत से समाजवादियों का यह भी विश्वास है कि समस्त मजदूरों को चुनाव में मत देने के लिये एकत्रित करना सामान्य हड़ताल के लिये उनका समर्थन प्राप्त करने से अधिक आसान है।

सिन्डीकेलिस्टों ने इन आलोचनाओं के औचित्य को स्वीकार करना आरम्भ कर दिया है। अब यह सिद्धान्त धीरे-धीरे नरम होता जा रहा है जिससे सिन्डीकेलिज़्म तथा समाजवाद के बीच का भेद अस्पष्ट होता जा रहा है। जब प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ, तो फ्रान्स के राष्ट्रीय मजदूर-संघ (French General Federation of Labour) ने राज्य-विरोध और सैन्य विरोध का परित्याग कर दिया, समाजवादियों से मिलकर सरकार के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया और युद्ध-प्रयत्न में सहायता दी। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त अधिकांश सिन्डीकेलिस्टों ने मजदूरों को यह सलाह दी कि वे सिन्डीकेलिज़्म की वर्ग-युद्ध की पुरानी भावना का परित्याग करके उद्योगों के विशेषज्ञों, प्रबन्धकों तथा वैज्ञानिकों के साथ सहयोग करके आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करें। इन बातों से सिन्डीकेलिस्ट विचारधारा में नवीन प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है।

— - —

अध्याय १२

गिल्ड-समाजवाद (श्रेणि-समाजवाद)

सिन्डीकेलिज्म का सिद्धान्त अपने जन्म-स्थान फ्रान्स से इङ्गलैण्ड पहुँचा जहाँ उसने कुछ परिवर्तन के बाद गिल्ड-समाजवाद (Guild Socialism) का रूप ग्रहण किया। अपने प्रारम्भिक रूप में सिन्डीकेलिज़्म इतना क्रान्तिकारी एवं अराजक था कि वह इंगलैण्ड के वातावरण के अनुकूल नहीं था। परन्तु उसमें ऐसे विचार हैं जिनकी कोई भी व्यक्ति, जो समाज की नवीन व्यवस्था करना चाहता है, उपेक्षा नहीं कर सकता। समष्टिवाद पूँजीवाद के दोषों को दूर करने में असफल रहता है; कुछ विचारकों के अनुसार तो वह पूँजीवादी नौकरशाही से स्थान पर राज्य की नौकरशाही को बिठा देता है। वह मज़दूरों को उनकी अभीष्ट वस्तु अर्थात् वह सत्ता नहीं दे सकता जिससे वे अपने जीवन तथा कार्य की अवस्थाओं का निर्धारण कर सकें। सिन्डीकेलिज़्म यही बात चाहता है। परन्तु वह उपभोक्ताओं के हितों की उपेक्षा करता है और राजनीतिक प्रणाली या वैधानिक पद्धति का परित्याग करके बड़ी भूल करता है। उसकी स्थिति उस मल्ल के समान है जो अपने प्रतिद्वन्द्वी के साथ मल्लयुद्ध में अपने हाथ को पहले ही से पीठ पीछे बाँध लेता है। गिल्ड-समाजवाद सिन्डीकेलिज़्म तथा समष्टिवाद में जो श्रेष्ठ तत्व हैं, उन्हें ग्रहण कर लेता है। वह एक के श्रेष्ठ तत्वों को ग्रहण कर दूसरे के दोषों का परिहार कर देता है। इस प्रकार गिल्ड-समाजवाद इन दोनों के मध्य का मार्ग है। यद्यपि वह सिन्डीकेलिज़्म तथा समष्टिवाद के विरोधी दृष्टिकोणों में एक सामंजस्य स्थापित करता है तो भी उसकी मूल प्रेरक शक्ति उसे सिन्डीकेलिज़्म से ही प्राप्त होती है।

गिल्ड-समाजवाद के मूल तत्व—

गिल्ड-समाजवाद का ध्येय उद्योग में उन लोगों के स्वराज्य की स्थापना करना, जो उसमें संलग्न हैं तथा वर्तमान् वेतन-प्रथा का अन्त

करता है ! सिन्डीकेलिज़्म की भाँति वह यह मानता है कि मज़दूरों को जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह अधिक भौतिक कल्याण ही नहीं वरन् ऐसी अवस्था का निर्माण है, जिसमें उनकी रचनात्मक प्रवृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण हो सके। समाज के एक सर्वथा नवीन आधार पर नव-निर्माण की आवश्यकता है, जिसके द्वारा वर्तमान् अत्याचारों एवं दोषों के सभी स्रोतों का नाश हो सके। इसके लिये व्यक्तिगत पूँजी का नाश ही आवश्यक नहीं है वरन् समाज के राजनीतिक संगठन में आमूल-चूल परिवर्तनों की भी आवश्यकता है। गिल्ड-समाजवादी समष्टिवादी की इस बात को तो स्वीकार कर लेता है कि राज्य या समाज का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होना चाहिये परन्तु उससे इस बात में सहमत नहीं है कि उद्योगों का वास्तविक संचालन सरकार के हाथों में हो। वह उसे प्रत्येक उद्योग में, गिल्डों (Guilds) के रूप में संगठित मज़दूरों के हाथों में रखना चाहता है। इस प्रसंग में, उसमें और सिन्डीकेलिस्टों में मतैक्य है। एक गिल्ड में एक उद्योग में काम करनेवाले सभी व्यक्ति सम्मिलित होंगे—एक चपरासी से लेकर एक विशेषज्ञ तथा प्रबन्धक तक। प्रत्येक कारखाना अपने प्रबन्धक का चुनाव करने में स्वतन्त्र होगा और प्रत्येक कारखाना राष्ट्रीय गिल्ड द्वारा किसी उद्योग के लिये निर्धारित नीति के अनुसार उत्पादन की रीतियों पर नियन्त्रण करने में भी स्वतन्त्र होगा। प्रत्येक स्थानिक गिल्ड के प्रतिनिधि प्रादेशिक गिल्ड में भेजे जायेंगे और प्रत्येक प्रादेशिक गिल्ड अपने प्रतिनिधि राष्ट्रीय गिल्ड के लिये चुन कर भेजेगा। स्थानिक, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय सभी गिल्डों का संगठन प्रजातान्त्रिक आधार पर होगा। राष्ट्रीय गिल्ड उद्योगों के साधारण हितों तथा वस्तुओं के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में व्यवस्था करेगा। इस प्रकार गिल्ड-समाजवादी लोग उद्योग में स्वराज्य की स्थापना करेंगे। परन्तु यह सब सिन्डीकेलिस्ट योजना का ही विशद रूप है। उसके प्रस्तावों में जो कुछ भी नवीन वस्तु है वह है समस्त उपभोक्ताओं एवं उत्पादन करने वालों के बराबर प्रतिनिधियों की एक सर्वोच्च संयुक्त समिति (Supreme Joint Committee) स्थापित करना। इस संयुक्त समिति का काम प्रत्येक गिल्ड के लिये कर निर्धारित करना, जो उसे राज्य को अदा करना पड़ेगा, वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करना और यह निर्णय करना होगा कि किसी गिल्ड ने अपने हितों को अधिक महत्त्व देकर समाज के हित की उपेक्षा करके अपने निक्षेप (Trust) का उल्लंघन तो नहीं

किया है। इस संयुक्त समिति के द्वारा उपभोक्ता उन विषयों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर सकेंगे जिनसे उनका सम्बन्ध है। इस प्रकार सिन्डीकेलिस्ट योजना में जो भारी कमी है वह गिल्ड-समाजवादी योजना में नहीं है। इसमें उत्पादन करने वालों के हाथों में उद्योगों का नियन्त्रण सौंपने के सिद्धान्त को छोड़े बिना उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिये व्यवस्था की गई है। गिल्ड-समाजवादी व्यवस्था में राज्य समाजवादियों के दृष्टिकोण का जो मनुष्यों को केवल उपभोक्ता के रूप में ही देखते हैं सिन्डीकेलिस्टों के दृष्टिकोण के साथ जो मनुष्यों को केवल उत्पादन करने वालों के रूप में ही देखते हैं सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। इस प्रकार गिल्ड-समाजवाद सिन्डीकेलिज़्म तथा राज्य समाजवाद के बीच में सन्तुलन स्थापित करता है।

ऊपर जिस योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है उसका सार समाज की उत्पादन-सम्बन्धी क्रियाओं को राजसत्ता से स्वतन्त्र कर देना और मज़दूरों को पूँजीपतियों के शोषण से भी मुक्त कर देना है। अब प्रश्न यह उठता है कि गिल्ड-समाजवादी की कल्पना में राज्य की क्या स्थिति होगी और उसके क्या कार्य होंगे। इस सम्बन्ध में गिल्ड-समाजवादी लेखकों के विचारों में मतैक्य नहीं है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि वे सिन्डीकेलिस्टों अथवा अराजकतावादियों के समान राज्यविरोधी नहीं है। वे यह मानते हैं कि देश-रक्षा, अपराधों आदि से रक्षा, शिक्षा, क़ानून, कर-निर्धारण, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और अन्य राजनीतिक कार्यों का नियमन तो वर्तमान् पार्लामेंट के समान सङ्गठित संस्था द्वारा ही सम्भव है, जिसमें नागरिकों के प्रतिनिधि होते हैं। इस प्रकार की संस्था राजनीतिक मामलों में स्वतन्त्र होगी और राष्ट्रीय गिल्ड-कॉंग्रेस समस्त औद्योगिक मामलों में सर्वोपरि होगी। इन दोनों संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में भी लेखकों में मतभेद हैं। इस समस्या पर जो दो विभिन्न विचारधाराएँ हैं इनके प्रतिनिधि हॉब्सन और कोल हैं।

हॉब्सन के अनुसार राज्य समाज के विभिन्न अंशों के प्रतिनिधि समुदायों से भिन्न समाज का प्रतिनिधि है। अतः सैद्धान्तिक रूप से उसे उन सबके ऊपर होना चाहिये। वह सत्ता का आदि स्रोत बना रहेगा और विभिन्न समुदायों के बीच जो विवाद होंगे उनके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देगा। राज्य को सर्वोच्च स्थान अथवा प्रभुत्व देने में हॉब्सन के विचार राज्य-समाजवादियों के समान हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना

ही है कि राज्य-समाजवादियों की अपेक्षा हॉब्सन ने राज्य को बहुत कम कार्य सौंपे हैं। उसके अनुसार औद्योगिक गिल्ड समस्त आर्थिक कार्यों को अपने हाथ में लेकर राज्य के लिये केवल राजनीतिक कार्य ही छोड़ देगा। राज्य उद्योग के नियन्त्रण एवं नियमन का कार्य नहीं करेगा परन्तु जब कोई सार्वजनिक नीति से सम्बद्ध ऐसा प्रश्न उपस्थित होगा जिसका नागरिकों पर प्रभाव पड़ता हो जैसे, सस्ते विदेशी मजदूरों की भर्ती या वेतन प्रणाली की प्रतिष्ठा, तो वह अपनी सत्ता का प्रयोग करेगा। इस प्रकार हॉब्सन राज्य को केवल राजनीतिक कार्य ही प्रदान करता है। वह केवल उसके कार्यों को सीमित करता है।

कोल बहुवादी है। वह राज्य को सब समुदायों के ऊपर नहीं मानता। उसके विचार में वह एक आवश्यक संस्था है, जो उपभोक्ताओं की प्रतिनिधि है परन्तु किसी प्रकार भी उसका उन संस्थाओं पर प्रभुत्व नहीं है जो उत्पादन करनेवालों, समान धर्मवालों अथवा अन्य प्रकार से समान लोगों की प्रतिनिधि हैं। उसे अन्य संस्थाओं के समकक्ष ही स्थान मिलना चाहिये। उसे अपने विशेष कार्यों के सम्पादन के लिये आवश्यक सत्ता ही मिल सकती है। परन्तु वह सर्वोच्च या प्रभुतासम्पन्न नहीं हो सकता जिस स्थिति में हॉब्सन ने उसे रखा है।

यदि हम, हॉब्सन तथा कोल के बीच जो मतभेद है उस पर ध्यान न दें और केवल उन कार्यों पर विचार करें जिन्हें गिल्ड-समाजवाद राज्य को सौंपता है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि गिल्ड-समाजवाद का मार्ग समष्टिवाद और सिन्डीकेलिज्म के बीच का मार्ग है। समष्टिवाद के सिद्धान्त के द्वारा राज्य पर जो ज़ोर दिया गया है, उसका वह परित्याग कर देता है और सिन्डीकेलिज़म के द्वारा राज्य का जो निषेध किया गया है, उसे वह स्वीकार नहीं करता। वह राज्य को कायम रखता है परन्तु उसके कार्य बहुत कम कर देता है।

जब हम गिल्ड-समाजवाद द्वारा उद्योगों पर मज़दूरों के नियन्त्रण को स्थापित करने और उसकी भावना के अनुसार मज़दूरों की एक सहयोगी संस्था (Commonwealth) स्थापित करने के सम्बन्ध में गिल्ड-समाजवाद की रीतियों पर विचार करते हैं तब भी हम उसमें सिन्डीकेलिज़्म और समष्टिवाद के बीच के मार्ग को स्वीकार करने की प्रवृत्ति देखते हैं। गिल्ड-समाजवादी भी संसद प्रणाली की व्यर्थता का अनुभव करते हैं और राजनीतिक कार्य का विरोध करते हैं; परन्तु वे उसका पूर्ण रूप से

त्याग नहीं करते। वे उसे मज़दूर-वर्ग को शिक्षा देने और पूँजीवादी वर्ग के कार्यों के अवरोध के लिये एक साधन के रूप में क़ायम रखते हैं। जब तक वर्तमान राज्य का सङ्गठन और उसकी कार्य-पद्धति जैसी इस समय विद्यमान है, वैसी ही बनी रहेगी, तब तक केवल व्यवस्थापन-विधि द्वारा वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में गिल्ड-समाजवादी व्यवस्था की ओर अग्रसर होना सम्भव नहीं है। इस कारण वे आर्थिक साधनों एवं रीतियों पर निर्भर रहते हैं। परन्तु ये आर्थिक साधन हड़ताल या सेबोटाज नहीं है, जिनका सिन्डीकेलिस्ट समर्थन करते हैं। अधिकांश गिल्ड-समाजवादी वर्तमान पूँजीवादी समाज को हिंसात्मक ढङ्ग से उलट देने के सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका यह विश्वास है कि वर्तमान व्यवस्था से नवीन व्यवस्था की ओर परिवर्तन क्रमशः विकासवादी ढङ्ग से होगा, यद्यपि वह नियोजित और नियमित रूप में होगा। इस प्रक्रिया में सबसे प्रथम पग के रूप में वे वर्तमान मजदूर-सभाओं का सङ्गठन इस प्रकार करना चाहते हैं जिससे वे आकार में बड़ी तथा संख्या में कम हो जाँय। उनके सङ्गठन में किसी भी एक उद्योग में लगे सभी व्यक्ति एक गिल्ड में सम्मिलित किये जाँयगे। उनका सङ्गठन समाज की ओर से उद्योगों के संचालन के निमित्त किया जायगा, पूँजीपतियों से लड़ाई लड़ने के लिये नहीं। ये सुसङ्गठित मजदूर-सभाएँ उत्तरोत्तर बढ़ते हुये नियन्त्रण की नीति (Encroaching Control) स्वीकार करेंगी जिसका उद्देश्य 'थोड़ा-थोड़ा करके नियन्त्रण के उन समस्त कार्यों को मज़दूरों के हाथों में सौंप देना है जो इस समय पूँजीपतियों के हाथों में हैं।' इससे उन्हें अपने पर्यवेक्षक (Foreman) का चुनाव करने, मज़दूरों को नियुक्त करने तथा अलग कर देने और अनुशासन के नियमन का अधिकार प्राप्त हो जायगा। इन मजदूर-सभाओं का दूसरा कार्य सामूहिक ठेके (Collective Contract) के सिद्धान्त को लागू करना है। इसका अर्थ यह है कि उद्योगपति प्रत्येक मजदूर को उसके काम के लिये मज़दूरी देने की जगह पूरे काम के लिये एक मुश्त रकम दे देगा और मज़दूर अपने नियमों के अनुसार उसे परस्पर बाँट लेंगे। उद्योगपति जब इन दोनों विधियों को स्वीकार कर लेंगे तो इन से मज़दूरों को नियन्त्रण एवं प्रबन्ध का बहुमूल्य अनुभव प्राप्त होगा। उद्योगों पर पूँजीवादी नियन्त्रण को धीरे-धीरे हटाकर मज़दूरों का नियन्त्रण क़ायम करने में यह एक अग्रगामी पग होगा

यद्यपि गिल्ड-समाजवादी शान्तिमय तथा विकासवादी परिवर्तन चाहते हैं, तथापि वे पूँजीपतियों की ओर से विरोध होने पर या अन्य किसी स्थिति में आवश्यकतानुसार हिंसा के प्रयोग का निषेध नहीं करते। गिल्ड-समाजवाद की रीतियों की प्रकृति कोल के निम्नलिखित शब्दों द्वारा भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। "जिस ध्येय की पूर्ति करनी है, वह प्रारम्भ में ही क्रान्ति नहीं है वरन् विकासवादी ढङ्ग से समस्त शक्तियों का सङ्गठन इस प्रकार कर लेना है जिससे क्रान्ति, जो एक अर्थ में अवश्य होगी, गृह-युद्ध का कम से कम रूप धारण कर सके और जो सिद्ध तथ्यों की स्वीकृति तथा पहिले से ही क्रियाशील प्रवृत्तियों की अन्तिम परिणति के रूप में ही यथासम्भव अधिक से अधिक प्रकट हो।"*

व्यावसायिक सिद्धान्त—

भावी गिल्ड-समाजवादी समाज के सम्बन्ध में अपने विचारों का विकास करने के सम्बन्ध में कोल और हॉब्सन दोनों ने व्यावसायिक सिद्धान्त (Functional Principle) का विस्तृत रूप से प्रयोग किया है। उन्होंने वर्तमान प्रजातांत्रिक संस्थाओं की आलोचना करने में भी उसका प्रयोग किया है। गिल्ड-समाजवाद के दर्शन में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। आजकल की प्रणाली के अनुसार राष्ट्रीय पार्लामेंट में एक या दो प्रतिनिधियों को एक नियत प्रादेशिक क्षेत्र से चुनकर भेज देने से सच्चा प्रजातंत्र कार्यान्वित नहीं हो सकता। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर उपार्जित प्रतिनिधि-संस्थाएँ वास्तव में सच्चे रूप में प्रतिनिधि-संस्थाएँ नहीं होतीं। इसका कारण यह है कि ऐसा समझा जाता है कि यह प्रतिनिधि एक प्रादेशिक क्षेत्र में निवास करनेवाले समस्त व्यक्तियों के विविध हितों का प्रतिनिधित्व करता है। यह सर्वथा परिहासजनक तथा असम्भव बात है। कोई व्यक्ति दूसरे किसी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, कई व्यक्तियों का तो और भी नहीं। वह केवल उसी हित का प्रतिनिधित्व कर सकता है, जो दूसरों का भी समान हित हो। क, जो एक अध्यापक है, ख, ग तथा घ का यदि वे अध्यापक हैं, और जहाँ तक वे अध्यापक हैं वहीं तक, प्रतिनिधि बन सकता है। परन्तु यदि वे आर्यसमाजी, मद्यनिषेधी, जमींदार या सर्वोदय-समाजी हैं तो, यदि वह स्वयं उक्त मत का नहीं है, उनका उन रूपों में प्रतिनिधि नहीं हो सकता। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति के हित अनेक प्रकार के होते हैं,

* Quoted by Coker : Recent Political Thought, p. 271.

अतः अपने हितों के प्रतिनिधित्व के लिये उसे उतने ही प्रतिनिधियों की आवश्यकता होगी जितने कि उसके हित हैं। इस प्रकार सच्चा प्रतिनिधित्व भौगोलिक या प्रादेशिक आधार पर नहीं वरन् व्यावसायिक आधार पर होना चाहिये। "समाज उसी समय सच्चे रूप में प्रजातांत्रिक होगा जब कि वह ऐसी व्यावसायिक प्रतिनिधि-संस्थाओं का एक जाल सा बन जायगा, जिनमें से प्रत्येक उसके सदस्यों के विशिष्ट उद्देश्य का प्रतिनिधित्व करता है।"* वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत जनता कई विभिन्न प्रयोजनों के लिये कुछ प्रतिनिधियों को चुनती है। ऐसे प्रतिनिधि जनता के कुछ सीमित उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं, सबका नहीं। इस प्रणाली का अन्त कर देना ही उचित है।

व्यावसायिक सिद्धान्त के आधार पर सगठित समाज के लिये प्रतिनिधित्व के प्रादेशिक आधार का पूर्ण रूप से परित्याग करने की आवश्यकता नहीं है। वह उन हितों के प्रतिनिधित्व की प्राप्ति के लिये आवश्यक है, जो एक ही समाज के सदस्य होने के कारण लोगों में सामान्य होते हैं; जैसे, क़ानून, कर, रक्षा, शिक्षा आदि। इसलिये हमें व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के नवीन सिद्धान्त के साथ-साथ पुराने प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को भी उचित स्थान देना चाहिये। इन दोनों में से कोई भी एक सिद्धान्त पूर्ण नहीं है; प्रत्येक के लिये दूसरे की एक पूरक के रूप मे आवश्यकता है।

उक्त दोनों सिद्धान्तों के आधार पर स्थापित गिल्ड-समाज में निम्न प्रकार की तीन संस्थाएँ होंगी: (१) एक राष्ट्रीय पार्लामेण्ट जिसका संगठन प्रादेशिक आधार पर होगा और जो उन मामलों का प्रबंध करेगी जिनका समूचे राष्ट्र से सम्बन्ध है और जिनमें समस्त नागरिकों के सामान्य हित हैं, जैसे देश-रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, कर-निर्धारण, यातायात, न्याय-प्रबन्ध। यह संस्था वर्तमान पार्लामेण्ट से भिन्न नहीं होगी। (२) कुछ स्थानिक प्रादेशिक संस्थाएँ जिनका संगठन भारत में म्युनिसिपल बोर्ड या नगरपालिका या ज़िला बोर्डों या इग्लैंड की काउण्टी और बरो कौंसिलों के समान होगा। ये संस्थाएँ जल, प्रकाश, स्वास्थ्य, सफ़ाई, नगर-रक्षा आदि का कार्य करेंगी। इनका निर्माण भी भौगोलिक आधार (Geographical basis) पर होगा। (३) तीसरी प्रकार की संस्थाएँ कई व्यावसायिक सभाएँ या संघ (Pro-

* Joad : Modern Political Theoy, p. 77.

fessional Guilds) होंगे जो तीन प्रकार के होंगे—स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय। गिल्ड उत्पादन सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय करेंगे, जैसे कारखानों में काम की अवस्थाएँ, काम के घण्टे, वेतनों की दर, बनाये जानेवाले माल की मात्रा तथा वस्तुओं के मूल्यों का निश्चय। इन गिल्डों की स्थापना व्यावसायिक आधार पर की जायगी। उत्पादन की मात्रा तथा वस्तुओं के मूल्यों के प्रश्नों पर, जिनका सम्बन्ध उपभोक्ताओं से भी है, निर्णय करते समय गिल्ड उपभोक्ता-समितियों से भी मन्त्रणा करेंगे।

इस प्रकार के समाज की स्थापना का स्वाभाविक परिणाम होगा समाज में विविध संस्थाओं के बीच सत्ता तथा कार्यों का विभाजन। स्थानीय तथा प्रादेशिक संस्थाओं और व्यावसायिक गिल्डों को अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से कार्य करने का अधिकार होगा। केन्द्रीय पार्लामेण्ट केवल अपने क्षेत्र के अंतर्गत राजनीतिक प्रश्नों पर ही विचार करेगी और उनके कामों में हस्तक्षेप बिलकुल नहीं करेगी। सत्ताओं और कार्यों का इस प्रकार का वितरण कागज़ पर सुन्दर भले ही प्रतीत हो किन्तु यह सन्देहास्पद है कि यह सुचारु रूप से कार्य रूप में परिणत हो सकेगा। आधुनिक जटिल समाज की विविध क्रियाओं की अन्योन्याश्रितता के कारण इस प्रकार का विभाजन असम्भव है। आर्थिक समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। इस प्रकार उत्पादन पर नियन्त्रण गिल्डों को सौंपना और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का नियमन राज्य के अधीन रखना सम्भव नहीं है। इस प्रकार के वितरण से इस सिद्धान्त का स्वयं नाश हो जायगा।

गिल्ड-समाजवादी लोग समाज के वर्तमान संगठन और रचना की आलोचना केवल आर्थिक तथा राजनीतिक आधार पर ही नहीं वरन नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर भी करते हैं। राजनीतिक प्रजातन्त्र की उन्होंने जो आलोचना की है, उस पर विचार किया जा चुका है। उनकी आर्थिक आलोचना पूँजीवाद के विरुद्ध समाजवादी तर्क की पुनरावृत्ति ही है। उनका नैतिक तर्क इस दोष के उद्घाटन का एक प्रयत्न है कि सम्पत्ति के स्वामी को बिना किसी समाज सेवा के ही मुनाफा मिलता है। यह नैतिक दृष्टि से सर्वथा गलत है कि समाज को एक ऐसे सिद्धान्त पर आधारित किया जाय जिसमें कर्तव्य की अपेक्षा धन प्राप्ति पर विशेष जोर दिया जाता हो। सम्पत्ति पर स्वामित्व का किसी सामाजिक प्रयोजन से सम्बन्ध नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उत्पादन की वर्तमान

प्रणाली इसलिये गलत है, कि वह मज़दूरों को मानवत्व से हीन बना देती है; उसे मशीन का एक पुर्ज़ा मात्र बना देती है और अपना कार्य करने में उसे गौरव अनुभव करने से वंचित कर देती है। वह उसमें कारीगरी को प्रोत्साहन देने के स्थान में उसका दमन करती है। उनकी मुख्य समस्या एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिससे मज़दूर में कार्यकुशलता ही नहीं बढ़ेगी वरन् वह अपने कार्य में गौरव का भी अनुभव करने लगेगा और कला एवं कौशल का पुनर्जीवन होगा। वे आर्थिक क्षेत्र में मज़दूर-मालिक के सम्बन्धों का अन्त कर देना चाहते हैं या कम से कम उनमें परिवर्तन कर देना चाहते हैं। गिल्ड की रचना इसी प्रयोजन से की गई है। उसका उद्देश्य उद्योगपतियों द्वारा अतिक्रमण के विरुद्ध मज़दूरों के हितों की रक्षा करना नहीं है। उसका सङ्गठन ट्रेड यूनियन (मजदूर-संघ) अथवा सिन्डीकेट की भाँति संघर्ष तथा आत्मरक्षा के लिये नहीं है। उसका ध्येय अधिक निश्चित एव श्रेष्ठ है। उसकी व्यवस्था का लक्ष्य समाज की ओर से उद्योग का नियन्त्रण तथा मज़दूर की रचनात्मक प्रवृत्ति को विकसित करना है, जिससे वह अपने सामाजिक कार्यों का सर्वोत्तम रूप से सम्पादन कर सके। व्यक्तियों में समाज-सेवा के आदर्श की प्रतिष्ठा करके, जिसका आजकल अभाव है, वह उत्पादन की वृद्धि और उसके आदर्श को ऊँचा करना चाहता है।

गिल्ड-समाजवाद आवश्यक रूप से एक ऐसा सिद्धान्त है जिसकी बुद्धिमान व्यक्तियों ने स्थापना की है; यह मजदूर वर्ग के आन्दोलन के रूप में विद्यमान नहीं है। इस बात में, यह सिन्डीकेलिज्म से भिन्न है, जो प्राथमिक रूप में एक आन्दोलन है और जिसका लक्ष्य मजदूरों में एक क्रान्तिकारी भावना का प्रादुर्भाव करके क्रान्तिकारी रूप से वर्तमान प्रणाली का अन्त कर देना है। इसका इङ्गलैंड में सङ्गठन हुआ परंतु आर्थिक मंदी तथा बेकारी के कारण यह पनप नहीं सका। गिल्ड-समाजवाद की असफलता का दूसरा कारण यह था कि उसके नेताओं के विचारों में विभिन्नता होने के कारण कोई स्थायी संगठन कायम करना कठिन हो गया। एक संगठन के रूप में गिल्ड समाजवाद का अन्त हो चुका है परन्तु इसके कई बड़े प्रभाव हुए हैं। इसने मजदूर-संघों, समाजवाद तथा युद्धोत्तर-कालीन सिन्डीकेलिज़्म की नीतियों में स्थायी परिवर्तन कर दिये हैं।

इस सिद्धान्त के इतिहास के विषय में कुछ उल्लेख कर देना उचित होगा। इसके आधारभूत विचार सर्वप्रथम पेंटी ने सन् १६०६ ई० अपने

लेखों में प्रकट किये, जिसने मध्य-कालीन दस्तकारी के पुनर्जीवन के लिये सलाह दी, जिसमें कारीगर उन यंत्रों का स्वामी होता था जिससे उत्पादन किया जाता था तथा वही उत्पादन की मात्रा का भी निश्चय करता था। परन्तु इस सम्प्रदाय का सङ्गठन सन् १९१४ ई० में हॉब्सन तथा ओरेज ने किया जिन्होंने National Guild नामक अपनी पुस्तक में गिल्ड-समाजवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के प्रसिद्ध व्याख्याकार कोल, टॉनी और बर्ट्रेण्ड रसल हैं। सन् १९२० ई० में गिल्ड की कल्पना के सम्बन्ध में क्रियात्मक परीक्षण भी किये गये जब कि मजदूरों के लिये एक बड़ी संख्या में मकान बनाने के लिये आवश्यकता अनुभव हुई जो व्यक्तियों के निजी प्रयत्नों द्वारा पूरी नहीं हो सकती थी। यह परीक्षण पर्याप्त रूप में सफल रहा। परन्तु सरकारी सहायता बन्द हो जाने, मजदूरों के वेतन में कमी हो जाने तथा बेकारी बढ़ जाने के कारण मकान निर्माण करने वाले गिल्डों का खात्मा हो गया।

अध्याय १३

अराजकतावाद

सामाजिक पुनर्निर्माण के आधुनिक सिद्धान्त का विवेचन अराजकतावाद के प्रतिपादन के बिना अधूरा रहेगा। अराजकतावाद (Anarchism) का केन्द्रीय विचार बहुत ही सरल है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीतिक सत्ता या एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर किसी भी रूप में शासन अनावश्यक एवं अवाञ्छनीय है। राज्य एक अनावश्यक अभिशाप है; आदर्श समाज में इसका कोई भी स्थान नहीं हो सकता। इस अर्थ में अराजकतावाद कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है। इसका वर्णन प्राचीन चीनियों और यूनानियों के लेखों में मिलता है। ईसा के जन्म से ३०० वर्ष पूर्व चीनी लेखक चुआग त्जू ने लिखा था कि "एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर शासन मानव प्रकृति के उसी प्रकार विरुद्ध है जैसे कम्पास और स्क्वायर का प्रयोग मिट्टी या लकड़ी के सम्बन्ध में।" इसी प्रकार कुछ यूनानी स्टॉइक् दार्शनिक भी मानते थे कि सुखी एवं श्रेष्ठ जीवन के लिये राज्य की सदस्यता आवश्यक नहीं है। किन्तु इन प्राचीन लेखकों ने आधुनिक लेखकों के समान इस विचार का प्रयोग एक नवीन शासन-सत्ता-विहीन सामाजिक संगठन के निर्माण के आधार के रूप में नहीं किया। इङ्गलैण्ड में हॉजस्किन और गॉडविन ने, फ्रान्स में प्रौंतेस्क्यू और प्रोधों ने, संयुक्त राज्य अमेरिका में थोरो, वारेन तथा टकर ने और रूस में बाकूनिन तथा प्रिन्स क्रोपॉटकिन ने अपने-अपने ढङ्ग से यह दिखालने का प्रयत्न किया है कि बिना राजकीय सत्ता के प्रजा किस प्रकार शान्ति और सुख का जीवन बिता सकती है। अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में उनकी योजनाओं में भेद है। उन पर यहाँ विस्तार के साथ विचार नहीं किया जायगा।

पुराने विचार तथा नवीन विचार में एक दूसरी बात में भी भेद है। आधुनिक अराजकतावाद का इस विश्वास से घनिष्ठ सम्बन्ध है कि भूमि

तथा पूँजी पर समाज का स्वामित्व हो और इस प्रकार अराजकतावाद का साम्यवाद (Communism) से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अराजकतावाद का एक महत्वपूर्ण रूप 'साम्यवादी अराजकतावाद' भी कहलाता है। हम इसी रूप के सम्बन्ध में आगे विचार करेंगे। परन्तु इस प्रसंग पर विचार करने से पूर्व साम्यवाद तथा अराजकतावाद के पारस्परिक सम्बन्धों पर, जिसके कारण उसका नाम साम्यवादी अराजकतावाद पड़ा है, विचार कर लेना उचित होगा।

अराजकतावाद और साम्यवाद—

"इन दोनों सिद्धान्तों का एक ही लक्ष्य है। वे राज्यहीन तथा वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। परन्तु उसकी प्राप्ति के साधनों के सम्बन्ध में अराजकतावाद के पूर्व आचार्यों का साम्यवादियों से मतभेद था। बाकुनिन ने, जिसने अराजकतावाद को एक निश्चित रूप दिया और इस सम्प्रदाय का सङ्गठन भी किया, राज्य को समाजवादी क्रान्ति के साधन के रूप में अस्वीकार करने पर जोर दिया जब कि कार्ल मार्क्स और उसके जर्मन तथा अंग्रेज अनुयायी उसे किसी रूप में कायम रखने के पक्ष में थे। इन दोनों में मतभेद यहाँ तक बढ गया कि बाकुनिन और उसके अराजकतावादी अनुयायियों को सन् १८७२ में अन्तर्राष्ट्रीय संघ (International) से निकाल दिया गया। इन दोनों में जो मतभेद है उसका सार यह है। साम्यवादियों का विचार है कि वर्तमान व्यवस्था तथा भावी राज्यविहीन समाज के मध्य में श्रमिक वर्ग का अधिनायकतन्त्र काफी लम्बी अवधि तक अवश्य रहेगा ; अराजकतावादी कहते हैं कि हिंसा तथा दबाव के आधार पर कायम अधिनायकतन्त्र स्वतन्त्रता तथा ऐच्छिक सहयोग के सिद्धान्त पर आधारित समाज की स्थापना नहीं कर सकता। अराजकतावाद की दृष्टि से राज्य का न तो संक्रमण-काल में और न नये समाज की स्थापना के बाद ही कोई उपयोग है।

प्रो० जोड ने अपनी Modern Political Theory नामक पुस्तक में लिखा है कि पूर्वकालीन मतभेदों के बावजूद भी आधुनिक काल में जो प्रवृत्तियाँ देख पड़ती हैं उनके कारण दोनों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होगया है। रूसी साम्यवादियों के प्रभाव में साम्यवाद उस पद्धति का सिद्धान्त मात्र ही रह गया है, जिसके द्वारा वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से नवीन व्यवस्था की ओर अग्रसर हो सकते हैं। केवल इस बात को छोड़कर कि नवीन समाज राज्यविहीन तथा वर्गविहीन होना चाहिये,

साम्यवाद भावी समाज की रूपरेखा के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहता। अराजकतावाद इस त्रुटि की पूर्ति कर देता है। यह उन सिद्धान्तों का वर्णन करता है जिनके अनुसार नवीन समाज की रचना होगी और मनुष्यों को अपना जीवन व्यतीत करना होगा। दूसरे शब्दों में, अराजकतावाद ध्येय या आदर्श का सिद्धान्त है; साम्यवाद उन साधनों का वर्णन है जिसके द्वारा उस आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। यदि इसी बात को दूसरे ढङ्ग से कहा जाय तो "अधिकांश साम्यवादी अराजकतावादी समाज के आदर्श को पसन्द करेंगे और बहुत से अराजकतावादी भी शायद स्वीकार करेंगे कि साम्यवादियों द्वारा अनुमोदित साधन इस ध्येय की प्राप्ति के लिये अधिक उपयुक्त हैं।"* ईसके कथन के अन्तिम भाग के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कुछ समकालीन अराजकतावादी सोवियत रूस में जो घटनाएं हुई हैं उनके कारण बड़े निराश हैं। उनका विचार है कि आतंकवादी साम्यवादी शासन अराजकतावादी समाज की स्थापना में सहायक नहीं हो सकता; जिन साधनों का प्रयोग किया जाय उनकी उद्देश्य या लक्ष्य से कुछ संगति होनी चाहिये। श्रमिक वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्वेच्छापूर्वक किये गये समझौते के आधार पर स्थापित स्वतन्त्र समाज से, जो अराजकतावादियों का लक्ष्य है, कोसों दूर है।

अराजकतावादी आदर्श—

अराजकतावादी का आदर्श समाज वर्गहीन तथा राज्यहीन समाज होगा। भूमि तथा उत्पादन के अन्य भौतिक साधनों पर समाज का स्वामित्व हो जाने और पूँजीवादी वर्ग का अन्त हो जाने पर सम्पत्तिशाली वर्ग तथा वेतन-भोगी वर्ग के बीच के भेदभाव का लोप हो जायगा। किसी भी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के श्रम को खरीदने का अधिकार नहीं होगा। क्रोपॉटकिन के अनुसार ऐसे समाज में वेतन की प्रथा नहीं होगी; प्रत्येक व्यक्ति को, जो कुछ उसे आवश्यक है, मिलेगा। अराजकतावादी का ध्येय है "प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करे और प्रत्येक अपनी आवश्यकता के अनुसार ले।" यह स्मरण रखने योग्य बात है कि अराजकतावाद उत्पादन की वस्तुओं और उपभोग की वस्तुओं में कोई भेद नहीं मानता। वह दोनों बातों में व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कर देता है।

* Joad : Modern Political Theory. p. 87.

अराजकतावादी समाज का सङ्गठन पारस्परिक सहायता एवं सहकारिता के सिद्धान्त पर होगा, संघर्ष या आदिम प्रतियोगिता के आधार पर नहीं। हॉब्स ने मानव प्रकृति का जो विश्लेषण किया है, जिसके अनुसार मनुष्य स्वार्थी एवं प्रतियोगितावादी है, मौलिक रूप से गलत माना जाता है। यही गलती डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त में है जिसमें 'योग्यता की विजय' के सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। पशु-जगत के विशद् अध्ययन से सुप्रसिद्ध अराजकतावादी नेता प्रिंस क्रोपॉटकिन ने यह प्रमाणित किया है कि केवल वे ही पशु-जातियाँ जीवित रही हैं, जिनके सदस्यों ने वातावरण के विरुद्ध अपने संग्राम में सहयोग से काम किया और जो पशु-जातियाँ परस्पर सहयोगपूर्वक काम नहीं कर सकीं वे नष्ट हो गईं। जो क़ानून मानव-जगत का नियमन करता है, वह पशु-जगत के नियमों से भिन्न नहीं है। किसी भी समुदाय में सहकारिता के गुणों पर प्रतियोगिता के गुणों का प्राधान्य इस बात का प्रमाण है कि वह विनाश की ओर अग्रसर है। अपनी प्रकृति से मानव अच्छा एवं सामाजिक है, उसमें सहयोग की प्रवृत्ति है। परन्तु मनुष्य में परोपकारिता एवं सामाजिकता की जो सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं, वे राज्य के नियन्त्रण तथा दबाव के कारण कुंठित हो जाती हैं। प्रतियोगिता के वातावरण का भी उन पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। इसलिये यदि हम प्रतियोगिता का और उसके साथ ही राज्य की सत्ता का भी परित्याग कर दें तो मनुष्यों की स्वाभाविक मैत्री-भावना बढ़ेगी तथा गहरी होती जायगी और प्रत्येक बाहरी समुदाय को शत्रु समझने या उससे भयभीत होने के स्थान पर वे उसे ऐसा मैत्रीपूर्ण समुदाय समझने लगेंगे जिसे उनकी सहायता एवं सहयोग की आवश्यकता है।

अराजकतावाद राज्य-विरोधी है। वह राज्य को एक अनावश्यक बुराई मानता है और इसलिये उसका विनाश चाहता है। अराजकतावादी समाज में कोई दबाव या क़ानून नहीं होगा और न शासन सत्ता ही होगी। अराजकतावाद आदि से अन्त तक बल-प्रयोग के विरुद्ध है। परन्तु बल-प्रयोग के अभाव का अर्थ व्यवस्था का अभाव नहीं है। शासन की हिंसात्मक सत्ता के अभाव में अथवा उसके अभाव के ही कारण समाज में व्यवस्था एवं मेलमिलाप का प्रसार होगा। स्वतन्त्र सहयोग तथा स्वतन्त्र प्रबन्ध के वे स्वाभाविक परिणाम होंगे। विविध उद्योगों एवं व्यवसायों का प्रबन्ध उनके लिये निर्मित ऐच्छिक संस्थाओं द्वारा किया जायगा। यदि लोगों को मकानों की आवश्यकता होगी, तो मकान बनाने

वाले अपनी संस्थाएँ बना लेंगे और जनता आवश्यकता की पूर्ति के लिये मकान बनायेंगे। इसी प्रकार जिन लोगों की अध्यापन में अभिरुचि होगी। वे अपना एक अध्यापकमण्डल बना लेंगे और जो उनसे शिक्षा प्राप्त करना चाहेंगे, उन्हें वे शिक्षा देंगे। इस प्रकार प्रत्येक व्यवसाय का संचालन उनमें रुचि रखनेवाले व्यक्तियों की संस्था द्वारा किया जायगा। ये सब संस्थाएँ अपने अधिकारियों का चुनाव करेंगी, अपनी नीतियों का निर्धारण करेंगी और स्वतंत्र व्यवस्था द्वारा वे एक दूसरे के काम में सहयोग देंगी। उनसे यह आशा की जाती है कि वे मिलकर काम करेंगी क्योंकि वे सभी स्वाभाविक और स्वेच्छा से निर्मित होंगी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पसन्द की किसी संस्था का सदस्य होगा और उसे किसी भी समय उससे त्यागपत्र देकर दूसरी संस्था का सदस्य बन जाने की स्वतंत्रता होगी। यदि उनके बीच कभी विवाद खड़े हुए, तो स्वेच्छा से स्थापित पंचायती न्यायालयों द्वारा उनके फैसले होंगे।

ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति न तो आलसी रहेगा और न उसे अधिक काम करना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पसन्द का काम ४ से ५ घण्टे तक करेगा और सबको पर्याप्त विश्राम मिलेगा जिससे वे शान्ति और सुख के साथ जीवन बिता सकें। दबाव कहीं नहीं होगा; सर्वत्र सुव्यवस्था होगी। जो व्यक्ति इसमें सन्देह करते हैं कि स्वतंत्र मिलन तथा स्वतंत्र व्यवस्था के सिद्धान्त के फलस्वरूप इस प्रकार के सुव्यवस्थित समाज की स्थापना हो सकेगी उनको फोरियर का उत्तर यह है: "कुछ पत्थरों के टुकड़ों को लेकर एक बक्स में डाल दीजिये और उन्हें हिला दीजिये। वे सब ऐसे सुव्यवस्थित रूप से जम जायँगे जैसा उन्हें जानबूझकर जमाने से कभी नहीं हो सकता।"*

अराजकतावादी समाज में स्वतंत्र ऐच्छिक रूप से निर्मित अनेक संस्थाएँ होंगी जिनका संगठन बड़े-बड़े समुदायों में किया जायगा। कोकर ने इस कल्पित ऐच्छिक समझौते का इस प्रकार वर्णन किया है-"हम अपने भवनों, राजपथों, भण्डारों, यातायात के साधनों, विद्यालयों आदि का उपभोग कर सकने की आपको गारण्टी देते हैं परन्तु इस शर्त पर कि आप २० वर्ष की आयु से लेकर ४५ या ५० वर्ष की आयु तक ४ या ५ घण्टे प्रतिदिन ऐसा कोई कार्य करें जो जीवनोपयोगी माना जाय। जब आप चाहें तब किसी भी संस्था के सदस्य बन सकते हैं अथवा

* Joad, Ibid, p. 111.

नवीन कोई संस्था बना सकते हैं परन्तु शर्त यह है कि वह किसी आवश्यक कार्य या सेवा का ज़िम्मा ले। शेष समय में आप जिसके साथ चाहें उसके साथ रहें और अपनी अभिरुचि के अनुसार आमोद-प्रमोद, कला, विज्ञान आदि बातों में भाग लें। बस हम आपसे यही चाहते हैं कि आप अन्न, वस्त्र, भवन-निर्माण, यातायात आदि से सम्बद्ध किसी समुदाय में वर्ष में १२०० से १५०० घण्टे तक कार्य करें। इसके बदले में हम आपको समस्त संस्थाओं द्वारा उत्पादित वस्तुओं की गारण्टी देते हैं।"* इस अवतरण में अराजकतावादी समाज के जीवन का बड़ा सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। ऐसे समाज में असन्तोष पैदा करने के लिये धनी तथा निर्धनों के भेद नहीं होंगे, न उसमें आन्तरिक विवादों को पैदा करने या बढ़ानेवाली कोई सरकार ही होगी। हितों का परस्पर संघर्ष शायद ही कभी होगा, विरोध के अवसर कम होंगे और सब व्यक्ति मेल मिलाप से रहेंगे।

अराजकतावादियों द्वारा राज्य की निन्दा—

अराजकतावादी लोग राज्य को एक विशुद्ध बुराई और सर्वथा अनावश्यक तथा अवांछनीय वस्तु मानते हैं। वे कहते हैं कि यह व्यर्थ है क्योंकि इससे किसी युक्तियुक्त प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। राज्य को जो अभी तक विविध कार्य सौंपे गये हैं, उन्हें ऐच्छिक संस्थाएँ अधिक अच्छे ढंग से कर सकती हैं। राज्य का पूर्व इतिहास उत्साहप्रद नहीं है। इसने नागरिकों के नैसर्गिक अधिकारों का संरक्षण नहीं किया है। यह किसानों एवं मजदूरों को ज़मींदारी एवं पूँजीपतियों के शोषण से सुरक्षित नहीं रख सका है। मनुष्यों को नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ बनाने की जगह इसने विशेषाधिकारों तथा विषमताओं को उत्पन्न करके और दूषित आर्थिक व्यवस्था की रक्षा करके अपराधों की ओर प्रवृत्ति बढ़ाई है। उसके कारागृह अपराधों को कम करने के स्थान में और भी बढ़ाते हैं और उसके न्यायालय मुकद्दमे-बाज़ी को बढ़ाते हैं। वह पहले तो निर्दोष व्यक्तियों को अपराधी बना देता है और फिर उन्हें दण्ड देकर पक्का अपराधी बना देता है। राज्य व्यक्तियों के मनमें विदेशियों के प्रति घृणा के भाव पैदा करता है और मानव-समाज को विभिन्न विरोधी तथा लड़ाकू राष्ट्रों या गुटों में विभक्त कर देता है। अपने सर्वश्रेष्ठ नागरिकों का जो एकमात्र उपयोग वह करता है, वह है उन्हें कारागृह में बन्द रखना। राज्य को

* Coker : Recent Political Thought, p. 213.

सफलताएँ बहुत ही नगण्य रही हैं; परन्तु मानव-जाति को जो उससे क्षति पहुँची है वह महान् है। विभिन्न राज्यों के बीच जो युद्ध होते हैं वे इस बात के यथेष्ट प्रमाण हैं।

राज्य को जो वस्तु बुरा बना देती है वह है शासकों द्वारा बल-प्रयोग। बल-प्रयोग दोहरी बुराई है। इससे उस व्यक्ति का नैतिक पतन होता है, जो उसका प्रयोग करता है, चाहे वह कितना ही सदाशय क्यों न हो। वह उसे अभिमानी, उद्धत, स्वार्थी तथा निर्दयी बना देता है। एक बार उसका स्वाद ले लेने पर वह उसे सदा अपने अधिकार में रखना और उसका विस्तार करना चाहता है और समस्त उपायों का प्रयोग कर अपने अधीन मनुष्यों को विभक्त और विक्षिप्त रखना चाहता है। क्रोपॉटकिन ने कहा कि "अमुक निन्दनीय मन्त्री एक श्रेष्ठ व्यक्ति हुआ होता, यदि उसे सत्ता न दी गई होती।" जिस व्यक्ति पर बल-प्रयोग किया जाता है, उससे उसकी मानवता नष्ट हो जाती है। मनुष्य को यह शिक्षा देनी चाहिये कि वह श्रेष्ठ काम करे क्योंकि वह श्रेष्ठ है और क्योंकि उसे श्रेष्ठ कार्य करना पसन्द करना चाहिये, इसलिये नहीं कि सरकार ने उसका आदेश दिया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति उसी समय पैदा हो सकती है, जब कि राज्य का अस्तित्व न रहे।

अराजकतावादी के अनुसार व्यक्तियों को राज्य की व्यर्थता का अनुभव कराने में बाधा इसलिये उपस्थित होती है कि मनुष्य में प्रतियोगिता, स्वार्थ, असामाजिकता आदि दुर्गुणों का प्राधान्य मान लिया जाता है जिनको रोकने के लिये किसी प्रकार की शासन-सत्ता की आवश्यकता भी माननी पड़ती है। हम यह देख चुके हैं कि अराजकतावाद इस बात को स्वीकार नहीं करता। वह यह मानता है कि मनुष्य में स्वाभाविक अच्छी प्रवृत्तियाँ हैं और सङ्गठित शासन उसके विकास में बाधा डालता है। शासन के प्रादुर्भाव का वास्तविक कारण यह है कि समाज में पुरोहितों, लोकाचार के ठेकेदारों तथा दलपतियों ने, जिनका मानव समाज में सदैव अस्तित्व रहा है, सामाजिक विकास के आरम्भ काल में ही अपना गुट्ट स्थापित कर लिया, मनुष्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तथा अनेकों प्रकार से उन पर अपना प्रभुत्व कायम करने की चेष्टा की।

अराजकतावाद हमें हर प्रकार की सत्ता की अधीनता से मुक्त करना चाहता है, चाहे वह राज्य की प्रजा पर सत्ता हो या पूँजीपति की मज़दूरों

पर या धर्माचार्यों को धार्मिक व्यक्तियों पर सत्ता हो। पूँजीपतियों तथा धार्मिक आचार्यों एवं पुरोहितों को अराजकतावादी योजना में वैसे ही कोई स्थान प्राप्त नहीं है, जैसे कि शासन-सत्ता को।

अराजकतावाद की ओर प्रगति—

स्वतन्त्र और स्वेच्छापूर्वक स्थापित समूहों के स्वतन्त्र समुदायों की संस्था के आदर्श की प्राप्ति के साधनों के सम्बन्ध में अराजकतावाद कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। प्रिंस क्रोपॉटकिन ने जो अराजकतावाद का सर्वप्रथम प्रमाणिक लेखक था, इस आदर्श को अव्यावहारिक नहीं माना। इसके विपरीत उसका विचार था कि समाज शनैः-शनैः इस आदर्श की ओर अग्रसर हो रहा है। उसने लोगों के शासन-सत्ता के हस्तक्षेप के बिना सहकारी कार्य करने के अनेक उदाहरण दिये हैं, जैसे, विभिन्न देशों की रेलवे कम्पनियाँ आपस में स्वेच्छा से समझौता करके यात्रियों को एशिया के पूर्व से योरोप के पश्चिम तक बिना किसी कठिनाई के यात्रा करने की सुविधाएँ देती हैं। परन्तु उसने यह भी कहा है कि इस ओर विकास बड़े धीरे-धीरे हो रहा है क्योंकि जिनके हाथों में सत्ता है उनकी ओर से इसमें बाधा डाली जा सकती है। शासन की ओर से जो बाधाएँ डाली जाती हैं, वे क्रान्ति के बिना अन्य किसी उपाय से दूर नहीं की जा सकतीं। निष्कर्ष यह है कि अराजकतावादी समाज की स्थापना की प्रक्रिया में अन्तिम कदम क्रान्ति होगा जिसमें पूँजीवादी शासन के समस्त अवशेष नष्ट हो जायँगे।

अराजकतावाद के मार्ग में बाधाएँ—

सामाजिक व्यवस्था का अराजकतावादी आदर्श, जिसमें मनुष्य बिना किसी सरकार तथा बिना किसी दबाव के शान्ति एवं प्रेम के साथ रहेंगे और स्वेच्छा से किसी भी उपयोगी कार्य में लग सकेंगे, बहुत ही आकर्षक है। कुछ व्यक्तियों के अनुसार यह एक आदर्श है, जिसकी प्राप्ति करना उचित है। परन्तु बहुत से लोग इसे एक अव्यावहारिक आदर्श मानकर अस्वीकार कर देते हैं। वे कहते हैं कि यह मानव प्रकृति से अत्यधिक आशा करता है। यह ऐसे देवताओं के लिये उचित व्यवस्था मानी जा सकती है जो पाशविक प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त हों, परन्तु मनुष्यों के लिये, जिनमें लोभ, मोह, इच्छा, वासना आदि का प्राबल्य है, इस व्यवस्था की उपयुक्तता संदिग्ध है। क्या नेपोलियन, एलेक्जेंडर अथवा हिटलर के समान कोई

असंभव करने का स्वप्न देखते थे।"* यह बात उस संघर्ष के सम्बन्ध में भी लागू है जो मित्र-राष्ट्रों तथा धुरी-राष्ट्रों के बीच अभी-अभी हुआ है। सब श्रेणियों एवं वर्गों के व्यक्तियों ने इस युद्ध में भाग लिया और उन्होंने अपनी मातृभूमि की राष्ट्रीय शत्रु से रक्षा करने में बड़े से बड़े बलिदान को भी कुछ नहीं समझा। अतीत काल में धार्मिक भावना अपने भक्तों में बलिदान की जैसी भावना को जन्म देती थी, आज के युग में राष्ट्रीयता भी त्याग या बलिदान की वैसी ही भावना को जन्म देती है। यह आधुनिक मनुष्य के लिये धर्म बन गई है।

राष्ट्रीयता का विकास—

राष्ट्रीयता एक सर्वथा नवीन भावना है; यह आधुनिक राष्ट्र-राज्य-प्रणाली का आवश्यक परिणाम है। इसका प्रादुर्भाव राष्ट्र-राज्यों के उदय के साथ हुआ जब कि वह अपने रूप को पहचानने लगी और प्रभुत्व का दावा करने लगी। प्राचीन राज्यों में सामुदायिक एकता और नागरिक भक्ति भी होती थी परन्तु उनका 'राष्ट्रीय आधार' नहीं होता था। पूर्व समय में देश-भक्ति और नागरिक-भक्ति स्थानिक होती थी, उदाहरणार्थ नगर-राज्यों में, अथवा वह योद्धाओं या राजाओं के प्रति अधीनता मात्र थी, जैसे पूर्वी साम्राज्यों में।

इटली में मेकियावेली आधुनिक ढङ्ग का सबसे पहला राष्ट्रवादी था जो विभक्त इटली को संयुक्त करके उसे एक ऐसा सुदृढ़ शक्तिशाली राज्य बनाने का स्वप्न देखता था जो फ्रेञ्च तथा स्पेनिश लोगों के हमलों से अपनी रक्षा कर सकता। वह अपने नगर-राज्य को इटली के बड़े राज्य में मिला देने के लिये तैयार था। परन्तु सबसे प्रथम राज्य जिसे राष्ट्र-राज्य (Nation State) बनने का गौरव प्राप्त हुआ वह इंगलैण्ड था, जहाँ ट्यूडर राजाओं ने राष्ट्रीय भावना को जगाया था।

योरोप में नेपोलियन ने सारे महाद्वीप को फ्रेञ्च आधिपत्य में लाने का प्रयत्न करके राष्ट्रीय भावना को जगाया। पोलैण्ड को जर्मनी, रूस तथा ऑस्ट्रिया ने परस्पर बाँटकर भी इस भावना को उत्तेजना दी। इस प्रकार नेपोलियन-युग में योरोप में राष्ट्रीयता का पुष्प विकसित होने लगा और उसका पूर्ण विकास उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में हुआ। वार्साई की सन्धि ने केन्द्रीय योरोप में अनेक छोटे-छोटे राष्ट्रीय

*Schuman : International Politics, p. 220.

राज्यों की स्थापना करके राष्ट्र-राज्य की भावना पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी।

राष्ट्रीयता की परिभाषा एवं प्रकृति—

राष्ट्रीयता की ऐसी परिभाषा करना कोई सरल कार्य नहीं है, जिसमें उसके सभी पक्षों का समावेश हो सके। यह कोई एकाकी शक्ति नहीं है, जो एक मन्तव्य से या एक ही दिशा में काम करती हो। यदि स्टूडर राजाओं ने पोप के बन्धन से मुक्ति पाने के लिये उसका प्रयोग किया तो इङ्गलैंड की जनता ने राजा के विरुद्ध अपने अधिकारों की स्थापना के लिये उसकी सहायता ली और अपने देश में प्रजातन्त्रात्मक शासन की प्रतिष्ठा की। यदि एक समय जर्मनी तथा इटली ने राष्ट्रीयता की भावना की सहायता से अपने देशों की एकता की प्रतिष्ठा की तो दूसरे समय उसी के आधार पर ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया गया।

१५ अगस्त सन् १९४७ ई० के पूर्व भारत की भाँति पराधीन तथा ब्रिटिश सेना के हटने से पूर्व मिस्र की भाँति अर्द्ध-पराधीन देशों को उसने विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये विद्रोही राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया। अतः राष्ट्रीयता एक ऐसी शक्ति है जिसने कभी तो प्रजातन्त्र तथा मानव-अधिकारों की प्रतिष्ठा की और कभी बड़े क्रान्तिकारी विद्रोहों को उत्तेजना दी। राष्ट्रीयता ने उग्र रूप धारण करके साम्राज्यवाद की पुष्टि भी की है और कई साम्राज्यों को जन्म दिया है। सन् १९१४-१८ तथा सन् १९३९-४५ ई० के विश्व-युद्ध योरोप के महान् राष्ट्रों के बीच प्रतिस्पर्द्धा के परिणामस्वरूप ही हुए। अतः राष्ट्रीयता की यह परिभाषा सर्वश्रेष्ठ मालूम होती है : राष्ट्रीयता "एक ऐसी शक्ति है जो एक राज्य के भीतर निरंकुश सत्ता के विरुद्ध मानव-अधिकारों को कायम रखने के लिये तथा बाहरी शत्रु से उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु समाज को सङ्गठित करती है।" इस परिभाषा में उसकी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को स्थान देना उचित नहीं है क्योंकि साम्राज्यवादी प्रवृत्ति राष्ट्रीयता का कोई सारभूत तत्त्व नहीं है।

राष्ट्रीयता की प्रकृति को भली भाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसे एक ऐसे आदर्श के रूप में जिसमें मानवता के लिये एक महान् मूल्यवान् सिद्धान्त का समावेश है तथा इसके साथ-साथ उसे एक मानसिक दृष्टिकोण तथा आचार-व्यवहार के आदर्श के रूप में भी समझने का प्रयास करें। एक आदर्श के रूप में यह इस तथ्य पर ज़ोर

देती है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय का अपना व्यक्तित्व होता है और अनुकूल अवस्थाएँ प्राप्त हो जाने पर वह मानव-संस्कृति के लिये एक अनुपम अनुदान दे सकता है। किसी एक राष्ट्र में मानव-विकास के लिये सभी संभावनाएँ नहीं होती। प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय में कुछ विशिष्ट गुण एवं लक्षण होते हैं, जो मानवता के लिय बड़े महत्व के होते हैं। भारत, चीन, जापान, इङ्गलैंड, जर्मनी, फ्रान्स, रूस आदि प्रत्येक राष्ट्र में कुछ अनुपम गुण हैं जिनसे वे मानव-संस्कृति एवं सभ्यता को विशिष्ट अनुदान दे सकते हैं। अतः प्रत्येक राष्ट्र को अपने अपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिये अधिकार तथा सुयोग मिलना चाहिये जिससे वह मानव-सभ्यता की प्रगति में योगदान दे सके। दूसरे शब्दों में, उसे अपनी न्याय-प्रणाली तथा अपनी संस्थाएँ स्थापित करने और अपने भाग्य का निर्माण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। अनुभव से यह सिद्ध है कि यदि प्रजा को अपने मामलों का प्रबन्ध करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाय, तो उसके गुण निश्चेष्ट रह जाते हैं और मानवता की प्रगति में उसकी अनुदान करने की शक्ति भी प्रभावहीन हो जाती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता का तकाज़ा है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय के लिये आत्म-निर्णय का सिद्धान्त (Principle of Self determination) लागू होना चाहिये। उसकी यह माँग है कि प्रत्येक राष्ट्र एक राज्य हो। आधुनिक राष्ट्रीयता का आदि और अन्तिम ध्येय सर्वत्र राजनीतिक स्वतंन्त्रता को स्थापना रहा है। जो लोग सन् १६१६ ई० में वार्साई में एकत्रित हुए, उन्होंने स्वभाग्य-निर्णय या आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार कर लिए परन्तु उन्होंने एशिया तथा अफ्रीका की पराधीन जातियों के सम्बन्ध में उसे मान्यता नहीं दी।

चूँकि राष्ट्रीयता का प्रयोजन जनता को अपने शासन का रूप निश्चित करने का अधिकार देना है अतः वह एकतन्त्रीय राज्य में प्रतिनिधि शासन को स्थापना करने के लिये तकाज़ा करती है। उन्नीसवीं शताब्दी के योरोप में राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र साथ-साथ चले। इसका कारण यह था कि दोनों के लिये जनता में ऐसी मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है जिसमें राज्य के नागरिक अपने तथा स्थानिक हितों का राष्ट्रीय हितों के लिये बलिदान करने के लिये तैयार हों तथा सामान्य राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिये सहयोग करने को सन्नद्ध हों। यह राष्ट्रीयता का रचनात्मक रूप है। परन्तु जहाँ राष्ट्रीयता की यह माँग है कि प्रत्येक

राष्ट्रीय समुदाय को बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपनी प्रतिभा के अनुकूल क़ानून तथा संस्थाओं के विकास करने के अधिकार हों, वहाँ वह क्रान्तिकारी रूप धारण कर लेती है। भारतीय, मिस्री, चीनी तथा आयर्लैण्ड की राष्ट्रीयता इसी प्रकार की थी। भारतीय राष्ट्रीयता की यह माँग थी कि भारत अंग्रेज़ी शासन के बन्धन से मुक्त हो। यह विदेशी शासन के प्रति विद्रोह तथा उसके स्थान पर राष्ट्रीय शासन स्थापित करने की आकांक्षा थी। जो देश स्वतन्त्र होता है, उसमें राष्ट्रीयता देश की शक्ति, महानता तथा गौरव को बढाने और दूसरे देशों के साथ व्यवहार में अपने अधिकारों को आगे बढाने तथा अपने हितों की रक्षा के दावे की प्रेरणा देती है। राष्ट्रवादी देशभक्त हो जाता है। वह अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का गौरव गान करता है, अपनी जाति की पवित्रता तथा श्रेष्ठता का दावा करता है और राष्ट्रीय विस्तार की बड़ी योजनाएँ तैयार करता है। पूँजीवादियों, उद्योगपतियों और राजनीतिज्ञों के हाथों में राष्ट्रीयता धृष्ट और विस्तारशील हो जाती है और साम्राज्यों की नींव डालती है, जिनसे छोटे राष्ट्रों और पिछड़ी हुई जातियों की स्वतन्त्रता नष्ट होती है और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग होती है।

आधुनिक युग में राष्ट्रीयता एक आदर्श की अपेक्षा मनोवृत्ति तथा व्यवहार की प्रणाली के रूप में घटनाचक्र का निर्धारण अधिक करती है। वह करोड़ों व्यक्तियों के लिये एक प्रकार का धर्म बन गई है। 'अतः उसके आचार्य पैदा हो गये हैं, उसका अपना धर्मशास्त्र तथा कर्मकाण्ड भी तैयार हो गया है।' मातृभूमि अथवा पितृभूमि उसके देवता हैं; उसकी स्वतन्त्रता उसका ध्येय है, राष्ट्रीय राज्य और उसकी पताका उसके पूजा के पात्र हैं और राष्ट्रीय जुलूस तथा पुराने शहीदों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना तीर्थयात्रा है। धर्म युद्ध के नाद से जो भावनाएँ पैदा होती हैं वही भावनाएँ इससे भी जाग्रत होती हैं।

मनोवृत्ति तथा व्यवहार के *निर्णायक* के रूप में राष्ट्रीयता राष्ट्र-राज्य को सामाजिक तथा राजनीतिक सङ्गठन का सर्वोच्च रूप मानती है। राष्ट्रवादी एक विशिष्ट प्रकार का देशभक्त होता है जो समस्त राष्ट्रीय समाज के प्रति भक्तिभाव रखता है और उसके राज्य, राष्ट्रध्वजा तथा राष्ट्रगीत जैसे राजनीतिक प्रतीकों के प्रति अपनी भक्ति को अपने दल, वर्ग अथवा जाति के प्रति अपनी भक्ति के ऊपर स्थान देता है। "एक सच्चा राष्ट्रवादी अपने देश को प्रत्येक वस्तु से ऊँचा मानता है; वह सब

प्रश्नों का समाधान राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से करता है। उसका ध्येय सब बातों को त्यागकर राष्ट्रीय नीतियों की अभिवृद्धि करना, राष्ट्र की रक्षा करना और स्थिर रूप से राष्ट्रीय सत्ता की वृद्धि करना है क्योंकि वह समझता है कि जब राष्ट्र अपनी सैनिक सत्ता को खो देता है तो उसका पतन हो जाता है।"*

राष्ट्रवादी देशभक्त उन सब बातों का विष के समान त्याग करेगा जिनसे राष्ट्रीय राज्य की एकता तथा दृढता को ठेस पहुँचती है। उसके लिए राज्य पाप और पुण्य से परे हैं, चाहे सही हो या ग़लत, उसका देश ही उसका सर्वस्व है; उसकी सेवा करना, उसकी पूजा करना और उससे प्रेम करना ही उसका कर्तव्य है। उसके लिये सब प्रकार का बलिदान श्रेष्ठतम एवं वीरतापूर्ण हैं।

राष्ट्रीयता के पक्ष में—

देशभक्ति के पर्याय के रूप में राष्ट्रीयता में बहुत सी अच्छी बातें हैं। यह एक बहुत ही उन्नयनकारी एवं आध्यात्मिक अनुभूति है जो व्यक्ति को एक स्वार्थमय वातावरण में से ऊँचा उठा देती है और उसे समाज के व्यापक एवं उच्चतम जीवन में प्रवेश कराती है। देश-प्रेम का उसके लिये क्या अर्थ है, इसकी कोई सीमा ही नहीं रह जाती। इस प्रकार व्यक्ति के सर्वश्रेष्ठ गुण प्रकट होते हैं और उसे अपने गुणों की अभिव्यक्ति के लिये ऐसे सुयोग मिलते हैं, जो अन्यथा प्रसुप्त अवस्था में ही पड़े रहेंगे। प्रत्येक देश के इतिहास के पृष्ठ राष्ट्रीयता से अनुप्रेरित वीरतापूर्ण बलिदानों की कथाओं से भरे पड़े हैं। यह उन्नयनकारी प्रभाव किसी एक जाति के व्यक्तिगत सदस्यों तक ही सीमित नहीं रहता, उसका प्रभाव समूचे समुदाय के जीवन पर भी पड़ता है। समुदाय अपने राष्ट्रीय चरित्र एवं परम्परा को भली भाँति अनुभूति करता है और मानवता के कल्याण के लिये उनका विकास करने के हेतु उसे उत्तेजना मिलती है। देशभक्त अपने देश के लिये ही देश की स्वतन्त्रता, महानता एवं गरिमा नहीं चाहता वरन् वह इसलिये चाहता है कि वह (देश) मानवता की संस्कृति के लिये कुछ मूल्यवान् और श्रेष्ठ अनुदान दे सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीयता राष्ट्रीय संस्कृति की विविधताओं का रक्षण करती है। विविध राष्ट्रीय समुदायों का रक्षण करने से मानवता को लाभ ही होता है। यदि प्रत्येक समुदाय एक दूसरे की अनुकृति या नक़ल मात्र हो, तो मानव

* Quoteol by Schuman : op. cit., p. 225.

जाति अपनी श्रेष्ठतम अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकती। यह ठीक ही कहा गया है कि सभ्यता हितों एवं लक्षणों की विविधता तथा उनके समीकरण के कारण ही प्रगति करती है। हम उस सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं कर सकते जो ऐसे संसार में मतभेदों के विकास की उत्तेजना देता है 'जिसमें यातायात और सस्ते उत्पादन के कारण शनैः-शनैः जातियों की समस्त विविधताओं का नाश हो जायगा।'

एक समय ऐसी आशा की जाती थी कि राष्ट्रीयता की अभिवृद्धि से अन्तर्राष्ट्रीय सामञ्जस्य एवं सहयोग की अभिवृद्धि होगी। यदि प्रत्येक राष्ट्र अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के अनुसार अपना विकास करे, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के लिये तुलना की दृष्टि से मूल्यवान् सिद्ध होगा; वह एक प्रतिद्वन्द्वी नहीं बनेगा जिससे भय और संदेह उत्पन्न हो। राष्ट्रीय समुदाय के विकास का यह तात्पर्य नहीं है कि किसी दूसरे समुदाय से उसका आवश्यक रूप में संघर्ष हो। किन्तु ऐसा नहीं हुआ है। संसार के विभिन्न राष्ट्रीय राज्यों के बीच अधिक सामंजस्य एवं सहयोग की अभिवृद्धि कर मानव जाति के शान्तिमय एवं प्रगतिशील विकास को वृद्धि करने के स्थान में राष्ट्रीयता की भावना का वास्तविक परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा, कटुता एवं संघर्ष रहा है।

राष्ट्रीयता के दोष—

राष्ट्रीयता का तकाज़ा है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय को अपने कार्य करने तथा अपने भाग्य का निर्णय करने का निर्बाध अधिकार हो। उसके इस अधिकार पर कोई बाधा नहीं है और न कोई उसमें हस्तक्षेप ही कर सकता है। किन्तु दुर्भाग्य से समस्त राष्ट्रीय समुदाय समान रूप से उन्नत एवं उन्नतिशील नहीं हैं। यह कहा जा सकता है कि दक्षिणी अफ्रीका तथा ऑस्ट्रेलिया की निम्न पिछड़ी हुई जातियों के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के रक्षण की आवश्यकता नहीं है और ऐसी जातियाँ आत्मनिर्णय के अधिकार के योग्य नहीं हैं। इस विचार के अनुसार ब्रिटिश, अमेरिकन, फ्रेञ्च तथा जर्मन जैसी संसार की उच्चतम जातियों को ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अधिकार है। कुछ लोग इससे एक पग और आगे बढ़कर यह दावा भी करते हैं कि ऐसी उच्च एवं प्रगतिशील सभ्य जातियों का यह केवल अधिकार ही नहीं है वरन् कर्तव्य भी है कि वे अपने आधिपत्य का विस्तार करें और संसार की पिछड़ी जातियों

को अपने संरक्षण में लेकर अपनी उच्च सभ्यता का उन्हें लाभ पहुँचावें। ऐसा नहीं करना स्वार्थ-पूर्ण कार्य होगा; इससे मानव जाति अपने सदस्यों की योग्यता एवं प्रतिभा के लाभों से वंचित रह जायगी। उन्नीसवीं शताब्दी में एशिया, अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपों और अमेरिका में योरोप के राष्ट्रों ने जो औपनिवेशिक साम्राज्यों का विस्तार किया उसके समर्थन में यही सैद्धान्तिक तर्क दिया जाता है। इसी तर्क के आधार पर हमारे प्राचीन तथा गौरवान्वित देश पर ब्रिटेन ने इतने वर्षों तक राज्य किया। पाश्चात्य सभ्यता के लाभों से चीनी जनता को लाभ पहुँचाने के हेतु योरोप तथा अमेरिका के राज्यों ने अप्रगतिशील चीन को उनके लिये अपना द्वार खोल देने के लिये बाध्य किया। इस प्रकार राष्ट्रीयता, जिसके अनुसार समस्त राष्ट्रों को एक दूसरे के मित्र होना चाहिये, शत्रु नहीं, धृष्ट, प्रसरणशील तथा आक्रमणशील बन जाती है और साम्राज्यवाद में परिणत हो जाती है। चूँकि प्रत्येक साम्राज्य अपना विस्तार चाहता है और शक्तिशाली बनना चाहता है, इसलिये साम्राज्यवादी राष्ट्रों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता एवं प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपना शत्रु समझने लगता है; वह उससे भयभीत होने लगता है और उसे जीतने तथा शक्तिहीन बनाने की चेष्टा करता है। स्वार्थमयी तथा संकीर्ण राष्ट्रीयता इस प्रकार युद्ध को उत्तेजना देती है और अन्त में राष्ट्र को सैनिकवाद की ओर अग्रसर करती है। वह राष्ट्रों में सङ्कीर्ण मनोवृत्ति ही पैदा नहीं करती वरन् नागरिकों में बर्बरता भी पैदा करती है। उन्हें दूसरे राष्ट्रों में, जिनकी सभ्यता एवं संस्कृति उनकी सभ्यता से भिन्न होती है, कोई अच्छाई नहीं दिखाई देती। वे, दूसरी ओर, अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का औचित्य सिद्ध करने और उसके गौरव की प्रतिष्ठा के लिये चेष्टा करते हैं। उसके गुणों की प्रशंसा की जाती है और उसे समस्त संस्कृतियों से श्रेष्ठतम बताया जाता है। इस प्रकार पार्थक्य तथा असहिष्णुता की भावना का प्रादुर्भाव होता है जो मानवता के हित में सहयोग को असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य बना देती है। संकीर्ण राष्ट्रीयता के प्रभाव में स्वदेश-प्रेम का अर्थ दूसरे देशवासियों के प्रति घृणा हो जाता है।

राष्ट्रवादी के लिये इससे अधिक और कोई सत्य नहीं कि उसका राष्ट्र स्वयं अपना शासन करने में स्वतन्त्र होना चाहिये। राष्ट्रीय राज्य की एकता एवं दृढ़ता और उसकी शक्ति तथा गौरव ही उसकी इच्छा और

विचार से भिन्न है। यदि कोई राज्य एक-राष्ट्र-राज्य है, तो राष्ट्रवादी को अपने उद्देश्य की सिद्धि में कोई कठिनाई नहीं होगी, किन्तु यदि वह बहु-राष्ट्र राज्य है, अर्थात् यदि उसमें अलग-अलग समुदाय भी हैं, तो राष्ट्रीय एकता एवं दृढ़ता की प्राप्ति के मार्ग में राष्ट्रवादी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। उनमें एकता स्थापित करने तथा उन पर एक राष्ट्रभाषा एवं एक संस्कृति को लादने के प्रयत्न का उनकी ओर से विरोध होगा। इस प्रकार राष्ट्रीय 'अल्पजनों' (Minorities) की समस्या खड़ी हो जाती है। राष्ट्रवादियों की अल्पजनों को मिलाकर एक करने की चेष्टा और राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित अल्पजनों द्वारा उस चेष्टा के विरोध से ही यह समस्या खड़ी होती है। राष्ट्रवादी अपने समुदाय के लिये आत्म-निर्णय के अधिकार चाहता है; परन्तु समुदाय के भीतर जो अल्पजन हैं, उन्हें वह यह अधिकार नहीं देता। राज्य के भीतर जो अल्पजन बहुजन में मिल नहीं जाते उनके प्रति वह बड़ा सजग एवं सशंक रहता है और उनके अस्तित्व को राष्ट्र के लिये दुर्बलता का एक कारण मानता है। वह जितना अधिक दबाव डालता है उनका विरोध भी उतना ही अधिक होता जाता है। इसका परिणाम होता है दमन, विद्रोह तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का कुचक्र।

एक राज्य में अल्पजनों के अस्तित्व से पड़ोसी राज्यों द्वारा उसमें से अपने समानभाषी अल्पजनों के उद्धार (Irredentism) की एक दूसरी समस्या का जन्म होता है। राष्ट्रीय एकता के नाम पर राष्ट्र-वादी अपने राज्य के सभी अल्पजनों को मिलाकर एक राष्ट्र बना लेना चाहता है। परन्तु पड़ोसी राज्य इस कार्य को विरोधी दृष्टिकोण से देखते हैं, विशेषकर उस समय जब कि वे अल्पजन उनकी भाषा बोलते हों। तब वे पड़ोसी राज्य द्वारा अपने अल्पजनों पर होनेवाले वास्तविक या कल्पित अत्याचार की बातों का प्रचार करते हैं और उन्हें (अल्पजनों को) उस राज्य के अत्याचार से मुक्त कर अपने राज्य में मिला लेने की चेष्टा करते हैं। इटली के राष्ट्रवादी उस समय तक बहुत बेचैन रहे, जब तक कि इटली समानभाषी ट्रेण्टिनो और टाइरोल ऑस्ट्रो-हंगरी साम्राज्य के भाग बने रहे। अन्त में वे उन प्रदेशों को इटली में सम्मिलित करने में सफल हुए। इस प्रकार के अल्पजनों का, जिनका उद्धार नहीं हुआ हो (Irredenta), राज्य की वैदेशिक नीति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। हिटलर का समस्त जर्मन-भाषी जनता को जर्मन राज्य के अन्तर्गत कर लेना

एक ध्येय था। इस प्रकार आधुनिक राष्ट्रीयता ने दो अत्यन्त जटिल समस्याओं को जन्म दिया है; एक है अल्पजनों की समस्या और दूसरी पड़ौसी राज्यों द्वारा अपने अल्पजनों के उद्धार की इच्छा। प्राचीन काल में विविध जातियों के तथा विविध भाषा-भाषी लोग एक ही राजा के आधीन शांतिपूर्वक रह सकते थे, जैसे रोम साम्राज्य में। न तो राज्य की ओर से उन पर सामान्य भाषा लादने की कोशिश की जाती थी और न वे जातियाँ ही अपनी भाषा आदि के प्रयोग के अपने अधिकार का प्रश्न उठाती थीं। इसके साथ ही किसी राज्य के अपने पड़ौसी राज्य के अत्याचार से अपने अल्पजनों के उद्धार का प्रश्न भी नहीं उठता था। राष्ट्रीयता के उदय ने इस प्रकार की व्यवस्था को असम्भव कर दिया है।

राष्ट्रीय अल्पजनों की समस्या का एक दूसरा परिणाम यह है कि कुछ अल्पजन अपनी मृत भाषाओं के पुनर्जीवन का प्रयत्न करने लगते हैं जो मानवीय सम्पर्क के मार्ग में एक बड़ी बाधा सिद्ध होगा।

राष्ट्रीयता के एक दूसरे भयङ्कर दोष की ओर भी ध्यान देना उचित होगा। 'एक राष्ट्र और एक राज्य' के सिद्धान्त के कारण संसार में अनेक छोटे राज्य स्थापित हो जायँगे जैसा कि केन्द्रीय योरोप में हो चुका है। इन छोटे राज्यों के अस्तित्व के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति क़ायम रखने का कार्य और भी कठिन हो जाता है। पड़ौसी महान् राष्ट्रों को उन पर विजय प्राप्त करने की लालसा होती है। अन्त में, उन्हें किसी न किसी महान् राष्ट्र के अधीन हो जाना पड़ता है। यह बात प्रथम विश्वयुद्ध के बाद खड़े किये गये केन्द्रीय योरोप के राज्यों की अवस्था से स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह बात भी सन्देहास्पद है कि छोटे समुदायों को स्वतन्त्र राष्ट्र बना देने से सदा लाभ ही होता है। वास्तव में छोटे समुदायों के लिये यह बात अधिक लाभप्रद होगी कि वे बड़े समुदायों के साथ एक शासन तथा एक कानून के अन्तर्गत शामिल रहें।

यदि राष्ट्रीयता की भावना को विशुद्ध तथा नैतिक धरातल पर ही रखा जाय तो यह एक मूल्यवान् आदर्श है। यदि किसी प्रकार संसार के विविध राष्ट्रों को यह ज्ञान हो जाय कि वे परस्पर सहकारी हैं, प्रतियोगी नहीं, तो सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीयता की प्राप्ति हो सकेगी। इसके मार्ग में सबसे महान् बाधा है प्रत्येक राज्य का पूर्ण स्वतन्त्रता तथा प्रभुत्व (Sovereignty) का दावा। राष्ट्रीयता तथा पूँजीवाद का गठ-बंधन भी, जिसने साम्राज्यवाद को जन्म दिया, एक बड़ी समस्या है। पूँजीवाद के विनाश और उसके

स्थान पर नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना से आज की राष्ट्रीयता के अनेक दोषों का निवारण हो जाने की आशा की जा सकती है।

साम्राज्यवाद

साम्राज्यवाद का कार्य—

"साम्राज्यवाद हमारे युग की सबसे अधिक चित्ताकर्षक सिद्धि तथा सबसे महान् विश्व-समस्या है।"* संसार के महान् राज्यों ने, मुख्यतः योरोप के बड़े राष्ट्रों ने, योरोप से बाहर संसार के देशों का आपस में विभाजन कर लिया है। यह विभाजन कभी शान्तिपूर्वक किया गया और कभी इसके लिये बड़े भीषण संग्राम हुए। इस भूतल का आधे से अधिक भाग और विश्व की लगभग आधी जनसंख्या साम्राज्यों के उपनिवेशों, सुरक्षित प्रदेशों तथा प्रभाव-क्षेत्रों में निवास करती है।

वर्तमान युद्ध से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन का, जिसका क्षेत्रफल ६३,२८४ वर्ग मील है और जनसंख्या ४७,१७५,०००, साम्राज्य १३,१६०,८६० वर्गमील भूमि पर था और उसमें ५,१६,३८०,६७० लोग रहते थे। दूसरे शब्दों में ब्रिटिश साम्राज्य स्वयं ब्रिटेन से १४० गुना अधिक विशाल था। प्रत्येक अंग्रेज की १० औपनिवेशिक प्रजाएँ थीं। फ्रेंच साम्राज्य का क्षेत्र विस्तार में ४,४६४,६१० वर्गमील था और उसकी जनसंख्या १०७,८५३,००० थी। उसका साम्राज्य फ्रान्स से २० गुना बड़ा था। डेनमार्क का क्षेत्रफल १६,२०८ वर्गमील है, परन्तु उसके साम्राज्य का क्षेत्रफल ८,०२,१६६ वर्गमील और जनसंख्या ७५,१५७,००० थी। पुर्तगाल का साम्राज्य पुर्तगाल के क्षेत्रफल से २३ गुना बड़ा था और बेल्जियम का साम्राज्य बेल्जियम से ८० गुना बड़ा था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस क्षेत्र में देर से प्रवेश किया और उसके साम्राज्य का क्षेत्रफल ७११,६२६ वर्गमील था। जापान ने भी, जिसे अमेरिकन नौसेना के बेड़े ने उसके लिये अपना द्वार खुला रखने के लिये बाध्य किया, पाश्चात्य नीति को अपना लिया और उनके (पाश्चात्य देशों के) साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया। उसने संयुक्त राज्य अमेरिका को फिलिप्पाइन द्वीपों में से, अंग्रेजों को बर्मा, मलय प्रायद्वीप तथा प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीपों में से और डच लोगों को उनके प्रशान्त महासागर के साम्राज्य में से निकाल भगाया। उसने समस्त चीन पर अपना प्रभाव स्थापित करके संसार की प्रथम कोटि की शक्ति बनने का भी प्रयत्न किया। अमेरिका (दक्षिणी), अफ्रीका तथा एशिया और महासागरों

* Moon : Imperialism and World Politics, p. 1.

के द्वीपों के राष्ट्रों एवं अनुन्नत जातियों पर योरोपियन राज्यों, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान के राजनीतिक एवं आर्थिक आधिपत्य का नाम ही साम्राज्यवाद है। सन् १८८१ ई० से जिस वर्ष में फ्रान्स ने ट्यूनिस को अपने अधिकार में किया था, यह साम्राज्यवादी विस्तार बहुत ही तीव्र गति से होने लगा और अगले २० वर्षों में प्रायः समस्त अफ्रीका का योरोपीय शक्तियों ने आपस में विभाजन कर लिया।

आधुनिक साम्राज्यवाद के लक्षण

साम्राज्यवाद संसार में राष्ट्रीयता की भाँति कोई नवीन घटना नहीं है। प्राचीन तथा मध्ययुग में भी शासनों का विशाल भू-भागों पर आधिपत्य होता था। अलेक्ज़ैण्डर तथा चंगेज़ख़ाँ ने अपने साम्राज्यों को विश्व-व्यापी बनाने की चेष्टा की और रोम-साम्राज्य के अन्तर्गत उस समय के सभ्य संसार का एक बहुत बड़ा भाग सम्मिलित था। परन्तु इन साम्राज्यों की तुलना जब आधुनिक काल के ब्रिटिश साम्राज्य जैसे साम्राज्यों से की जाती है, तो वे नगण्य प्रतीत होने लगते हैं। आधुनिक साम्राज्य पहले के साम्राज्यों से केवल इसी बात में भिन्न नहीं है कि वे उनसे अधिक विशाल हैं और दूर-दूर तक फैले हुये हैं; उनमें बड़ा गहरा और मौलिक भेद है। प्राचीन काल के साम्राज्य वीर शासकों या योद्धाओं की व्यक्तिगत प्रेरणा के प्रयास अथवा धार्मिक भावना के परिणाम थे परन्तु आधुनिक साम्राज्य प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के बीच सत्ता तथा बाजार के लिये प्रतियोगी संघर्ष का एक महत्वपूर्ण रूप है। इसका राष्ट्रीयता और पूँजीवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है जो दोनों आधुनिक घटनाएँ हैं। इन शक्तियों के बिना साम्राज्य का वर्तमान रूप नहीं हो सकता था। प्राचीन या मध्य-युगीन साम्राज्य अपनी प्रकृति में अद्भुत-कल्पनापूर्ण (Romantic) थे; आधुनिक साम्राज्य मुख्यतया आर्थिक हैं। उनमें दूसरा महत्वपूर्ण भेद यह है कि आधुनिक साम्राज्य स्थानीय विकास के लिये एक बड़ी सीमा तक स्वतन्त्रता देता है और प्राचीन साम्राज्य की तरह अपने अधीन प्रदेशों से प्राप्त कर पर निर्भर नहीं रहता। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने उपनिवेशों (Dominions) को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दे दिया है और वह उनसे कोई कर नहीं माँगता। उसने भारत, पाकिस्तान, लङ्का तथा बर्मा को स्वतन्त्रता दे दी है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी फिलिप्पाइन्स को स्वतन्त्रता दे दी है। सभी आधुनिक साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने साम्राज्य के अन्तर्गत देशों में प्रतिनिधि-

शासन का विकास करना अपना ध्येय घोषित किया है। परन्तु इस दिशा में उनका कार्य बड़ी धीमी गति से हुआ है। यहाँ इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि प्राचीन काल के साम्राज्यों के कोई समकालीन प्रतियोगी नहीं थे; परन्तु आजकल अनेक बड़े-बड़े प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्य हैं। यह एक महत्वपूर्ण सत्य है। यदि एक समय में एक ही साम्राज्य हो, तो अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों द्वारा विश्व-शान्ति भंग नहीं हो सकती। रोम-साम्राज्य के उत्कर्ष-काल में शताब्दियों तक संसार में कोई युद्ध नहीं हुआ। संसार में एक प्रभुत्व की स्थापना विश्व शान्ति के लिये आवश्यक है परन्तु संसार में एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी अनेक साम्राज्यों का अस्तित्व विश्व-शान्ति के लिये महान् खतरा है। गत ४० वर्षों में संसार में महान् शक्तिशाली राज्यों की विदेशी नीतियों के संघर्ष के फलस्वरूप पिछली किसी शताब्दी से अधिक भयंकर संग्राम एवं रक्तपात हुए हैं। आधुनिक साम्राज्यवाद विभिन्न राष्ट्रों के बीच शत्रुता तथा प्रतिद्वन्द्विता को जन्म देता है। इसके परिणाम अराजकतापूर्ण हैं और यह संसार की शान्ति एवं सुव्यवस्थित प्रगति के लिये घातक है।

आधुनिक साम्राज्यवाद के प्रयोजन—

संसार के महान् राष्ट्रों द्वारा एशिया, अफ्रीका आदि के प्रदेशों का आर्थिक शोषण तथा राजनीतिक विभाजन, जिसे साम्राज्यवाद कहते हैं, अनेक कारणों से किया गया है जिनमें से दो उल्लेखनीय हैं; राष्ट्रीयता और औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution)। उग्र तथा विस्तारशील राष्ट्रीयता किस प्रकार राष्ट्र को साम्राज्यवाद की ओर ले जाती है, इसका विवेचन किया जा चुका है। बड़ा तथा शक्तिशाली राष्ट्र पहले दुर्बल राष्ट्र पर अपने राष्ट्रीय गौरव की प्रतिष्ठा के लिये अपनी संस्कृति को लाद देता है और बाद में अपने कार्य का समर्थन यह कह कर करता है कि उसका उद्देश्य असभ्य जातियों को सभ्य बनाना है। यह कहा जाता है कि श्रेष्ठ राष्ट्र का विश्व के प्रति एक कर्तव्य है। उसे चाहिये कि वह पिछड़ी हुई जातियों पर अपना शासन स्थापित कर उन्हें अपनी उच्च सभ्यता के लाभ प्रदान करे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एक महान् एजेण्ट सेसिल रोड्ज ने इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है: "मेरा यह दावा है कि संसार में हमारी प्रजाति सबसे प्रथम है और संसार के जितने भी अधिक भाग में हमारा निवास हो वह उतना ही मानव जाति के हित में होगा।" अँग्रेज लोग भारत

का त्याग इसलिये नहीं करना चाहते थे कि यदि वे भारत से बिदा हो जायँगे तो भारतीय असभ्य बने रहेंगे और वे अशिक्षा तथा अंध-विश्वास में डूबे रहेंगे। इटली ने भी सशस्त्र बल तथा विषैली गैस के प्रयोग द्वारा अबीसीनिया को सभ्य बनाने की चेष्टा की थी। जब एक देश को सभ्य बनाने के लिये अनेक देश उत्सुक रहते हैं, तो उसका स्वाभाविक परिणाम उनके आपसी संघर्ष में प्रकट होता है।

साम्राज्यवादी विस्तार का इतना ही महत्वपूर्ण कारण है आर्थिक आवश्यकता। ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिका जैसे अत्यन्त औद्योगिक देश अपने तैयार माल को दूसरे देशों मे भेजकर तथा अपनी अतिरिक्त पूँजी को पिछड़े देशों में लगाकर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। उनका जीवन स्तर उनकी निर्यात शक्ति पर निर्भर रहता है। इङ्गलैंड भारत को अपने माल के विक्रय के लिये सबसे उत्तम बाजार मानता था। इसी उद्देश्य से जापान भी चीन पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहता था। जब ब्रिटेन के सूती तथा लोहे के व्यवसाय को अमेरिका तथा जर्मनी के औद्योगीकरण द्वारा ठेस पहुँची, तब ब्रिटेन को अपनी औपनिवेशिक नीति में परिवर्तन करना पड़ा और उसने विस्तार पर कमर बाँधी। औद्योगिक देशों मे प्रतियोगिता अधिक तीव्र हो गई। प्रत्येक देश अपने तैयार माल के लिये नये बाजारों की खोज करने लगा। वे अपने कारखानों के लिये कच्चा माल भी चाहते थे। इङ्गलैंड, मिस्र तथा सूडान पर अपना नियन्त्रण बनाये रखना चाहता था क्योंकि वहाँ की अच्छी रुई मेनचेस्टर की सूती मिलों के लिये अत्यन्त आवश्यक है। रुई, रबड, कहवा, कोको, चीनी, चाय, नारियल आदि चीज़ों के कारण अफ्रीका आदि में साम्राज्य स्थापित किये गये। औद्योगिक राष्ट्रों की लोहे तथा कोयले की सर्वव्यापी भूख ने साम्राज्यवादी विकास को बडी उत्तेजना दी है। हाल में पेट्रोल का राजनीति में बडा महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है। फ़ारस तथा मेसोपोटेमिया के तैल-क्षेत्रों ने संसार के साम्राज्यवादी राष्ट्रों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। दूसरा आर्थिक तत्व जो राष्ट्रों को साम्राज्यवादी बना देता है वह है अतिरिक्त पूँजी को विदेशों में लगाने की आवश्यकता। एक बेङ्कर पिछड़े हुए देश को ऊँचे ब्याज पर पूँजी उधार देता है। शासन-प्रबन्ध ठीक न होने के कारण वह देश ब्याज अदा नहीं कर सकता। इस पर बैंकर अपनी राष्ट्रीय सरकार से अपील करता है और सरकार उस पिछड़े हुये प्रदेश पर

अपना संरक्षण स्थापित कर लेती है। इस प्रकार ऋणी देश साहूकार-देश के पंजे में फँस जाता है। "अतीत में योरोप के साहूकार देशों ने अफ्रीका तथा एशिया के अपने ऋणी देशों को हड़प कर लेने की स्पष्ट प्रवृत्ति प्रकट की है।" (मून) इस आर्थिक तत्व का इतना अधिक महत्व है कि लेनिन ने तो साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था बतलाया है। लेनिन के शब्दों में "साम्राज्यवाद विकास की अवस्था में पूँजीवाद की वह स्थिति है, जिसमें एकाधिकार तथा राजस्व पूँजी (Finance-Capital) का आधिपत्य स्थापित हो जाता है, जिसमें पूँजी का निर्यात विशेष महत्व प्राप्त कर लेता है, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों द्वारा संसार का बँटवारा आरम्भ हो जाता है और संसार की समस्त भूमि का सबसे महान् पूँजीवादी देशों द्वारा पूर्ण बँटवारा हो जाता है।"

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हमने ऊपर जिन आर्थिक तत्वों का उल्लेख किया है अर्थात् अतिरिक्त उत्पादन, कच्चा माल तथा अतिरिक्त पूँजी, वे साम्राज्यवादी प्रयत्नों के लिये उस समय तक प्रेरक-शक्ति प्रदान नहीं करेंगे जब तक कि उनका सम्बन्ध 'आर्थिक राष्ट्रीयता' के सिद्धान्त से न जोड़ दिया जाय। 'आर्थिक राष्ट्रीयता' से प्रयोजन उस सिद्धान्त से है जो राष्ट्रीय समाज की आर्थिक सम्पन्नता की वृद्धि करना तथा उसे कायम रखना राज्य का एक प्राथमिक कार्य मानता है। राज्य को ऐसे कानून बनाने चाहिये और ऐसी वैदेशिक नीति ग्रहण करनी चाहिये, जो राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाये। राज्य की राजनीतिक शक्ति एवं उसका प्रभाव उसकी आर्थिक स्थिति के अनुपात में होता है। कारखाने, मिल, तेल-क्षेत्र, खनिज-सम्पत्ति, रेल आदि राष्ट्रीय समृद्धि और राजनीतिक शक्ति के आधार हैं। अतः राष्ट्रीय सरकारों को व्यवसाय की अभिवृद्धि करनी चाहिये। इन सब बातों का यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि राष्ट्र अपने तैयार माल के लिये बाजार प्राप्त करने, विदेशों में लगी अपनी पूँजी की रक्षा करने, व्यवसाय प्राप्त करने, जलयानों के लिये कोयला प्राप्त करने तथा कच्चा माल प्राप्त करने आदि की दृष्टि से औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करना उचित समझने लगते हैं।" इस प्रकार जब पूँजीवाद का आर्थिक राष्ट्रीयता से गठबन्धन हो जाता है, तब उसमें साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव हो जाता है। उक्त आर्थिक साधनों पर अधिकार सीधी विजय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जैसे बर्मा, मलय प्रायद्वीप तथा अबीसीनिया में हुआ। यह

कार्य अन्य देशों में रियायतें प्राप्त करके तथा प्रभाव-क्षेत्र स्थापित करके भी किया जा सकता है जैसे चीन, फारस, टर्की आदि में किया गया है।

साम्राज्यवादी विस्तार के दो प्रयोजन और भी हैं। जर्मनी, इटली तथा जापान जैसे अत्यधिक आबादी वाले देश अपनी अतिरिक्त आबादी को बसाने के लिये उपनिवेशों की माँग करते हैं। एक दीर्घ काल से जापान की दृष्टि ऑस्ट्रेलिया पर लग रही है जहाँ लाखों जापानियों को बसाया जा सकता है। इस तर्क को लेकर साम्राज्यवादियों ने अपनी नीतियों के पक्ष में प्रबल लोक-समर्थन प्राप्त किया है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि उन उपनिवेशों में अतिरिक्त आबादी को बसाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। केमेरून्स में जर्मन प्रवासियों तथा अबीसीनिया में इटालियन प्रवासियों की संख्या बहुत ही कम रही है, फिर भी साम्राज्यवादी प्रचार में इस तर्क का बड़ा सहारा लिया जाता है।

दूसरा प्रयोजन है सामरिक महत्व के स्थानों की प्राप्ति। जिब्राल्टर, माल्टा, अदन आदि का आर्थिक मूल्य नगण्य है, परन्तु इनका सामरिक महत्व बहुत है क्योंकि इन स्थानों का सामुद्रिक राजमार्गों पर अधिकार है। ये नाविक अड्डे हैं और यहाँ जहाज कोयला लेते हैं। यदि संसार के विभिन्न भागों में ब्रिटिश नियन्त्रण में सामरिक महत्व के स्थान न होते जहाँ उसके जहाज आश्रय तथा कोयला ले सकते, तो ब्रिटिश नौसेना का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। युद्ध-काल में आवश्यक कच्चे माल के सम्बन्ध में स्वाश्रयिता का तर्क भी साम्राज्यवादी अपनी नीतियों के समर्थन में पेश करते हैं।

उत्पादन करनेवालों, माल को बाहर भेजने तथा अन्दर मँगाने वाले व्यापारियों, बैंकरों, धनपतियों तथा जलयानों के स्वामियों के सेना तथा नौसेना के अधिकारी, राजदूत और औपनिवेशिक अधिकारी बड़े मित्र होते हैं, जो स्वयं भी अपने हित में साम्राज्यवादी नीतियों का समर्थन करते हैं। साम्राज्यवादी प्रयत्नों के कारण सैनिकों, राजदूतों तथा अधिकारियों को अच्छे, पद मिलते हैं; वे धनोपार्जन के साथ गौरव भी प्राप्त करते हैं। मिशनरी लोग भी साम्राज्य के एजेण्ट होते हैं। मिशनरियों की हत्या के कारण अनेक बार पिछड़े हुए देशों पर हमले हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप वे साम्राज्यवादी देशों द्वारा हड़प लिये गये हैं। नवीन प्रदेशों की खोज करनेवाले तथा साहसिक यात्रियों ने भी दूर-दूर के

प्रदेशों में अपने देश के झण्डे गाड़कर अपने देश के साम्राज्य का विस्तार किया है।

साम्राज्यवादी साहसिक कार्यों में सहायक साधनों की यह सूची यातायात के साधनों के मूल्य के उल्लेख के बिना अपूर्ण रहेगी। आधुनिक काल के विशाल साम्राज्य जलयानों, वायुयानों, केबिल, बेतार आदि के बिना सम्भव नहीं हो सकते थे। पराधीन राष्ट्रों में अपना माल भेजने तथा उनकी रक्षा के लिये सेना आदि भेजने के हेतु जलयानों की बड़ी आवश्यकता होती है। उन प्रदेशों के भीतरी भागों में पहुँचने तथा वहाँ माल पहुँचाने के लिये रेलें आवश्यक होती हैं और उनके साथ सम्पर्क बनाये रखने के लिये तार तथा बेतार आवश्यक होते हैं। आजकल विज्ञान के इन क्रान्तिकारी आविष्कारों ने दूरस्थ साम्राज्यों के नियन्त्रण, उनकी व्यवस्था तथा रक्षा के कार्य को सरल बना दिया है। आज के साम्राज्य चाहे जितनी दूरी पर हों, फिर भी इनकी सहायता से उनकी अच्छी व्यवस्था हो सकती है। साम्राज्य उन्हीं देशों के सफल हो सकते हैं जो उद्योग तथा शिल्पकला (Technology) में इतने प्रवीण हों कि उसकी सहायता से दूरस्थ देशों में भी अपनी सैनिक तथा प्रशासनीय सत्ता का प्रयोग कर सकें।

साम्राज्यवाद का समर्थन—

यह प्रतीत होता है कि एशिया, अफ्रीका तथा सात समुद्रों के द्वीपों को दुनिया के साम्राज्यवादी, देशों द्वारा विभाजित करना किसी भी आधार पर उचित नहीं माना जा सकता। सत्ता प्राप्त करने के लिये प्रतियोगिता का तनिक भी समर्थन नहीं किया जा सकता। परन्तु कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो साम्राज्यवाद की परिभाषा एक ऐसी प्रणाली के रूप में करते हैं जो अनेक प्रजातियों को एक शासन के अधीन कर देती है। साम्राज्यवाद के समर्थन में तर्क भी दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, बर्न्स ने साम्राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है :—"साम्राज्य एक ऐसा विशाल प्रदेश है जिसमें अनेक ऐसी प्रजातियाँ रहती हैं जो एक सरकार के अधीन हैं और जिनमें कोई एक जाति प्रधान होती है।" उसका कथन है कि अनेक जातियों को एक सामान्य कानूनी प्रणाली के अधीन रखना बहुत उपयोगी एवं लाभदायक है। इससे वाणिज्य-व्यापार में बाधाएँ कम हो जाती हैं, उनमें परस्पर सम्पर्क बढ़ता है और इससे सामान्यतया जीवन भी श्रेष्ठतम बन जाता है। विशाल साम्राज्य की

सदस्यता व्यक्तियों के दृष्टिकोण को व्यापक बना देती है, उनका मानसिक क्षितिज विस्तृत हो जाता है और प्रान्तीयता तथा स्थानिकता भी दूर हो जाती है। यदि जर्मनी, फ्रान्स और इटली एक शासन के अधीन रहें तो उनके बीच व्यापार अवश्य बढ़ जायगा और उनके लोगों का सांस्कृतिक सम्पर्क अधिक होने लगेगा। एक शासन के अधीन जितना व्यापक क्षेत्र होगा, उतना ही नागरिकों के लिये भी अच्छा होगा। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के समर्थक कहते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य के कारण ही भारत की जनता में ऐसी एकरूपता एवं एकता रही जो पहले विभक्त दशा में कदापि सम्भव नहीं थी। जब उच्च संस्कृति वालों के साथ निम्न संस्कृति के व्यक्तियों का सम्पर्क कायम हो जाता है, तब निम्न संस्कृति वालों का जीवन-स्तर ऊँचा उठ जाता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद सभ्यता के विस्तार का एक महान् माध्यम है। यह "श्वेत पुरुष के भार" (White Man's Burden) नामक सिद्धांत का ही अतिरंजित चित्र है।

साम्राज्यवाद के दोष—

योरोप के बाहर की सर्वथा विभिन्न संस्कृति एवं धर्म वाली प्रजातियों पर योरोपीय राष्ट्रों तथा अमेरिका एवं जापान के बलात्कारपूर्ण आधिपत्य से जो दोष पैदा होते हैं, वे उन लाभों से कहीं अधिक हैं, जो साम्राज्यवाद से पैदा हो सकते हैं। योरोपीय शक्तियों का पिछड़ी जातियों के साथ जो सम्पर्क हुआ है वह उनका सुधार करने के स्थान में विनाश का कारण बना है। अफ्रीका की आदिम जातियों का ह्रास हो रहा है और ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैंड की आदिम जातियों का तो खात्मा ही हो चुका है। ब्रिटिश शासन ने भारत में चाहे जो कुछ अच्छा किया हो परन्तु हमारी सभ्यता एवं संस्कृति पर उसका प्रभाव अत्यन्त विनाशकारी रहा है। हम राष्ट्रीयता से हीन हो गये हैं; हमारी राष्ट्रीय आत्मा कुण्ठित हो गई है और हमारी प्रगति रुक गई है।

साम्राज्यवादी विस्तार की प्रक्रिया विजित जनता के लिये एक अभिशाप सिद्ध हुई है। "साम्राज्य का पथ उसके शिकारों के रक्त से लाल हो रहा है।" ब्रिटिश लोगों ने भारत के लिये युद्ध किये और उनमें विजय प्राप्त की। बर्मा, मलय प्रायद्वीप तथा अन्य देशों पर भी अंग्रेजों ने विजय प्राप्त की। उन्होंने चीनियों, अफगानों, तुर्कों तथा अरबों से भी लड़ाइयाँ लड़ीं और उनका अपमान किया। इसी प्रकार फ्रान्स ने भी

अपनी सैनिक शक्ति के बल पर साम्राज्य का विस्तार किया। विजित देशों में जो विद्रोह और क्रान्तियाँ होती हैं, उनका पशु बल से दमन किया जाता है। युद्ध, विद्रोह, दमन और अत्याचार ही दुर्बल राष्ट्रों के भाग्य में होते हैं। इस अत्याचार एवं दमन की करुण-कथा से ही उनके दुःखों का अन्त नहीं हो जाता; साम्राज्यवादी शासन की स्थापना के बाद उनका निर्दयतापूर्वक आर्थिक शोषण भी किया जाता है। साम्राज्यवाद का मूल्य हम उन देशों की जनता में बढ़ती हुई कटुता, रोष तथा विद्रोह की भावना और साम्राज्यवादी अधिकारियों द्वारा उनकी आत्मा को कुचलने के प्रयास पर ध्यान देकर ही आँक सकते हैं।

अन्त में, साम्राज्यवाद का साम्राज्यवादी राष्ट्रों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। सन् १८५४-५६ ई० के क्रीमियन युद्ध तथा सन् १६०४-५ ई० के रूस-जापानी युद्ध को छोड़ सन् १६१४ ई० से पूर्व साम्राज्यवादी देशों के बीच प्रदेशों की प्राप्ति के लिये सशस्त्र संघर्ष नहीं हुए। उनमें जो विवाद हुए उनका कूटनीतिक रीति से तथा समझौते द्वारा समाधान कर लिया गया। परन्तु अब ऐसे कोई प्रदेश नहीं बचे हैं जिन पर वे अपना अधिकार जमा सकें, अतः साम्राज्यवाद के संघर्ष ने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया है। जब साम्राज्यवादी देशों के झगड़े कूटनीतिक प्रणाली द्वारा नहीं निपट सके तो योरोप एक सशस्त्र शिविर बन गया जिसके परिणामस्वरूप दो विश्वयुद्ध हुए। इस प्रकार साम्राज्यवाद का अर्थ है युद्ध। पहले तो साम्राज्यवादी राज्यों तथा पिछड़े राष्ट्रों के बीच युद्ध होता है और फिर साम्राज्यवादी देशों में ही आपस में युद्ध ठन जाता है। पिछले प्रकार के युद्ध से विग्रही राष्ट्रों की बड़ी हानि होती है और अन्त में उनका सर्वनाश सुनिश्चित है।

दूसरी बात यह है कि साम्राज्यवाद से केवल विजित राष्ट्रों का ही नहीं वरन् विजेता राष्ट्रों का भी नैतिक पतन होता है। जिस निरंकुश सत्ता का प्रयोग साम्राज्यवादी देश अपने अधीन देशों पर करते हैं, उसके कारण उसका प्रयोग करनेवालों का नैतिक पतन हो जाता है। रोम साम्राज्य, जिसने आरम्भ में बड़े बलवान् शत्रुओं को पराजित किया, अन्त में उत्तर की ओर से होनेवाले जंगली जातियों के आक्रमणों को नहीं रोक सका क्योंकि भ्रष्ट शासन-प्रबन्ध तथा सदियों के विलासी जीवन ने उसके नागरिकों का चरित्र बहुत ही दूषित और निस्सत्व कर दिया था। द्वितीय विश्वयुद्ध में इन्हीं कारणों से ब्रिटिश सेनाओं को

अनेक लड़ाइयों में बड़ी लज्जाजनक रीति से पीछे हटना पड़ा था। कोई भी राष्ट्र अन्ततोगत्वा अपना पतन किये बिना दूसरे राष्ट्र को अधिक समय तक अपने आधिपत्य में नहीं रख सकता।

अन्त में यह कहना गलत नहीं होगा कि जिस मान्यता के आधार पर साम्राज्यवाद आधारित है वह उचित नहीं है। इस बात को हम नहीं मान सकते कि साम्राज्यवादी राष्ट्र को सभ्यता हर हालत में अधीन राष्ट्र की सभ्यता से श्रेष्ठ होती है। भारत तथा चीन की सभ्यता या संस्कृति अथवा उनके निवासियों को निम्न नहीं कहा जा सकता। उनकी संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएँ अत्यन्त प्राचीन होने के साथ साथ बड़ी उच्च हैं जो पश्चिमी राष्ट्रों को बहुत कुछ सिखा सकती हैं। किन्तु फिर भी पाश्चात्य देशवासी इन देशों में सभ्यता के प्रचारक बनने का दम भरते हैं। यदि तर्क के लिये यह मान भी लिया जाय कि पश्चिमी सभ्यता श्रेष्ठ है, तो भी जिस ढंग से उसे हम पर लादने की चेष्टा की गई है, उससे उसके गुण बहुत कम हो जाते हैं। अपनी सभ्यता को स्वीकार कराने में उन्होंने जिस बल का प्रयोग किया है, उसके कारण उसकी श्रेष्ठता का दावा निर्बल पड़ गया है। जिस रीति से उन्होंने आदर्श की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया है, उसके दोष उसमें आ गये हैं। एक आदर्श तथा आधुनिक राजनीति में एक शक्ति के रूप में साम्राज्यवाद अत्यन्त निंद्य है।

अन्तर्राष्ट्रीयता

अन्तर्राष्ट्रीयता का अर्थ—

संकुचित तथा उग्र राष्ट्रीयता में जो नैसर्गिक दोष हैं और साम्राज्यवाद के मुख्य लक्षण सैनिकवाद के कारण संसार में जो घोर अराजकता फैली है उनके कारण अनेक अच्छे व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार इतना सुनिश्चित एवं स्पष्ट नहीं है जैसा कि राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवाद का है। उसकी यह कहकर व्याख्या करना उचित प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता विचार तथा कार्य की एक ऐसी पद्धति है जो संसार के राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सहयोग एवं मित्रता की अभिवृद्धि चाहती है। आज के युग के व्यक्ति ही इसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं करते, प्राचीन काल तथा मध्य-काल में भी लोगों ने इसकी आवश्यकता का अनुभव किया था। राष्ट्रों के बीच शान्ति एवं मित्रता की इच्छा ने सदैव से लोगों को इस दिशा में प्रेरित किया है। यूनानी लोग तो अपने देश की सीमा तक ही सीमित रहे किन्तु

मध्य-युग में लोग सार्वभौम साम्राज्य के विचार से परिचित थे। दाँते ने विश्व-सम्राट् तथा विश्व-कानून सहित एक विश्व-राज्य की कल्पना की थी।

मध्य-युग में सार्वभौम साम्राज्य की भावना ने अनेक सम्राटों की नीतियों पर बड़ा बुरा प्रभाव डाला। किन्तु मध्य-युगीन विचार को हम अन्तर्राष्ट्रीयता का नाम नहीं दे सकते। उसे हम विश्वबन्धुत्व का सिद्धान्त (Cosmopolitanism) कह सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये राष्ट्रों का अस्तित्व परम आवश्यक है, जो आधुनिक काल का विकास है। यह इन राष्ट्रों में परस्पर मैत्री स्थापित करना चाहती है। विश्वबन्धुत्व उस युग का आदर्श था जब कि कि राष्ट्र-राज्य का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था; वर्तमान युग में उसकी माँग है कि राष्ट्रों की सीमाओं का अन्त कर दिया जाय और राष्ट्रीयता के बन्धनों को भी तोड़ दिया जाय। जहाँ तक साम्यवाद संसार के मजदूरों के सम्बन्ध में राष्ट्रीयता के भेदों को स्वीकार नहीं करता वह विश्वबन्धुत्व का पोषक है किन्तु अपने दृष्टिकोण में अन्तर्राष्ट्रीय नहीं है। आज के नर-नारियों के हृदयों में राष्ट्रीयता की भावना ने ऐसा स्थान बना लिया है कि विश्वबन्धुत्व के आदर्श को अव्यावहारिक मानकर हम उसकी उपेक्षा कर सकते हैं। किसी भी विश्व-व्यवस्था की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का भी समुचित ध्यान रखा जाय। अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार इस आवश्यकता की पूर्ति करता है।

जिस किसी बात से राज्यों के बीच में मैत्री तथा शान्तिमय सम्बन्धों की अभिवृद्धि हो, वह अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रगति में सहायता करती है। ग्रोटियस के समय से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का, कूटनीतिक सम्बन्धों एवं व्यवहारों का तथा मध्यस्थों अथवा पंचों द्वारा राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों का शान्तिपूर्वक निर्णय करने की पद्धति का विकास तथा विविध प्रयोजनों से अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना, इन सब बातों से अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना अथवा 'अन्तर्राष्ट्रीय मन' के विकास में बड़ा योग मिला है। हमारा उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विकास का पूरा विवरण प्रस्तुत करने का नहीं है; ग्रोटियस, पुफेनडॉर्फ, वुल्फ, वाटेल, वेंटन तथा अन्य प्रसिद्ध विधान-विशेषज्ञों ने इस दिशा में जो योगदान दिया है उसके सम्बन्ध में हमें उल्लेख नहीं करना है। हेग-सम्मेलन और उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के निर्माण के लिये जो प्रयत्न किये गये तथा अन्तर्राष्ट्रीय पञ्चायतों

द्वारा। विवादों के निर्णय के लिये तथा अपने राष्ट्रीय अधिकारों की रक्षा और अपनी शिकायतों को दूर करने के निमित्त युद्ध को रोकने के लिये योरोपियन राजनीतिज्ञों ने जो प्रयत्न किये उन पर भी यहाँ विचार नहीं किया जायगा।

हमें केवल यही उल्लेख करना है कि राष्ट्रों में अपने विवादों के निर्णय के लिये शस्त्र-ग्रहण करने की अपेक्षा विवेक तथा न्याय के आधार पर उनका शान्तिपूर्वक निर्णय करने की प्रवृत्ति अनेक प्रकार से बढती जा रही थी। राज्यों के पारस्परिक व्यवहार के क्षेत्र में क़ानून का राज स्थापित करने में कुछ सफलता मिल रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार कुछ प्रगति कर रहा था। यह सत्य है कि इस दिशा मे प्रगति धीमी रही; परन्तु जो इस कार्य मे संलग्न हैं, उन्हें उत्साह प्रदान करने के लिये वह पर्याप्त थी। किन्तु सन् १६१४-१८ ई० के महायुद्ध ने इस प्रवृत्ति को एक घातक धक्का पहुँचाया। उसने यह सिद्ध कर दिया कि यदि किसी राष्ट्र ने यह दृढ संकल्प कर लिया है कि वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये शस्त्र-ग्रहण करेगा तो अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत की शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते या निश्चय उसे रोकने के लिये पर्याप्त नहीं हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध में जो भयंकर नर-संहार हुआ उसके कारण संसार के राजनीतिज्ञों को एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि करे और यदि युद्ध का अन्त नहीं कर सके तो कम से कम उसे कठिन अवश्य बना दे। इस उद्देश्य से सन् १६१६ में राष्ट्र-संघ (League of Nations) की स्थापना की गई। उसका घोषित लक्ष्य "युद्ध न करने के दायित्व की स्वीकृति, समस्त राष्ट्रों में खुले, न्यायपूर्ण एवं सम्मानपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना, संसार के राज्यों की सरकारों के आचार-व्यवहार के नियमन के लिये अन्तर्राष्ट्रीय विधान के समझौतों की स्थापना तथा राष्ट्रों के बीच जो परस्पर संधियाँ हों उनके समुचित आदर द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की प्राप्ति" था। यद्यपि राष्ट्रसंघ को अपने सदस्यों के सहयोग से अफीम के व्यापार का नियन्त्रण, नारियों तथा बालकों की रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय विधान का संग्रह, शरणार्थियों की सहायता आदि सामाजिक तथा मानवतावादी अराजनैतिक कार्यों में एक सीमा तक सफलता मिली, तथापि वह राजनैतिक समस्याओं का समाधान करने में सर्वथा असमर्थ

रहा। यह युद्ध को रोक नहीं सका। राष्ट्रीयता की चट्टान पर राष्ट्रीय संघ चूर-चूर हो गया।

राष्ट्र-संघ की दयनीय असफलता और सन् १६३६ ई० में द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ ने विचारशील व्यक्तियों के हृदयों में फिर उथल-पुथल पैदा कर दी और विश्व की एकता के लिये फिर से चेष्टा की जाने लगी। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रों की अनियन्त्रित स्पर्द्धा से उत्पन्न अराजकता से संसार को बचाने का एक मात्र मार्ग एक विश्व-संघ (Federal Union) की स्थापना है जिसमें संसार के समस्त देश या कम से कम प्रमुख प्रजातन्त्रीय राष्ट्र सम्मिलित हों। उनका विचार है कि मानव जाति को उस समय तक शान्ति नहीं मिलेगी जब तक कि विश्व-व्यापी आधार पर राजनीतिक एकता स्थापित नहीं हो जाती। राजनीतिक एकता के बाद आर्थिक एकता की स्थापना हो सकेगी और आर्थिक एकता हमारे बीच से ग़रीबी तथा युद्ध का अन्त कर सकेगी।

जब तक संयुक्त राज्य अमेरिका और योरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्र अफ्रीका, एशिया तथा अन्य भागों में अपने साम्राज्यों को क़ायम रखे हुए हैं, तब तक संसार के समस्त राज्यों का विश्व-संघ एक अप्राप्य आदर्श ही रहेगा। ऐसी कोई आशा नहीं की जा सकती कि ये साम्राज्य-वादी राष्ट्र स्वयं अपने साम्राज्यों का परित्याग कर देंगे और विश्व-संघ की सजग इकाइयां बन जायेंगे, जो संघ के लिये परम आवश्यक है। दूसरे, स्थायी और सुदृढ़ विश्वसंघ का अर्थ है ऐसी राज्य-इकाइयों का अस्तित्व, जिनकी न्यायपूर्ण तथा विवेकपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित स्थायी एवं अपरिवर्तनीय सीमाएँ हों। परन्तु यह शर्त आज के राष्ट्र-राज्यों द्वारा पूरी नहीं हो सकती। प्रभुत्व के एक अंश का भी परित्याग करने के लिये राज्यों की अनिच्छा भी विश्व-संघ की स्थापना में एक बड़ी बाधा है। गत शताब्दी में योरोप में संघ की स्थापना के लिये जो योजनाएँ प्रस्तुत की गईं उनकी असफलता ने स्पष्ट कर दिया है कि यह कार्य कितना कठिन है। स्ट्रेट लिखित "यूनियन नाउ" (Union Now) नामक पुस्तक की १० मास में ६६,००० प्रतियों के बिक जाने से यह बात भी स्पष्ट है कि संसार के लोग इस अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का अन्त करने के लिये कितने इच्छुक हैं।

जब तक राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के समाधान के पुराने तरीक़ों का परित्याग कर हम नूतन विश्व-व्यवस्था की दृष्टि से

अनुप्रेरित होकर नये तरीक़ों का प्रयोग नहीं करेंगे, तब तक मानवता को उन कष्टों से मुक्ति नहीं मिल सकती जिनके कारण वह आज दुःखी है। पिछले कुछ वर्षों में नये विचारों तथा जीवन के नये मूल्यों पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिये कई योजनाएँ हमारे सामने आई हैं। फैसिज्म तथा साम्यवाद ऐसी ही योजनाएँ हैं। गांधीवाद को भी हम तीसरी योजना समझ सकते हैं। प्रथम योजना इटली तथा जर्मनी में (दूसरे नाम से) कार्यान्वित हुई। उसने देश की आन्तरिक प्रगति में बहुत कुछ काम किया परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थिति को सुधारने की जगह उसने संसार को द्वितीय विश्व-युद्ध में झोंक दिया जिसके भीषण परिणामों से हमें अभी तक मुक्ति नहीं मिल पाई है। साम्यवाद ने भी एक नई सभ्यता के जन्म की आशा दिलाई थी। वह वास्तव में भिन्न विचारों एवं आदर्शों पर आधारित एक नवीन सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता है परन्तु वह भी संसार को राष्ट्रीय समुदायों की स्वार्थमय प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप भय, संघर्ष तथा तनातनी के वातावरण से मुक्त नहीं कर सका है। रूस भी सत्ता-प्राप्ति के फेर में पड गया है और उसके तथा ऐंग्लो-अमेरिकन गुट के बीच जो प्रतिस्पर्धा चल रही है उससे विश्वशान्ति खतरे में पड रही है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के कारण विभक्त और युद्ध से जर्जर एवं त्रस्त इस संसार को अहिंसा तथा नवीन आर्थिक व्यवस्था के प्रतीक चरखे के आधार पर संगठित नवीन समाज का आदर्श ही, जिसकी महात्मा गांधी ने कल्पना की थी, आशा की झलक दिखा सकता है। यदि सत्य तथा अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी के त्यागमय जीवन का एक धर्मान्ध युवक के हाथों अन्त न हो जाता तो संसार को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को प्रेम एवं उदारता के सिद्धान्त के आधार पर सफलतापूर्वक निपटाने के अनेक प्रयोग देखने को मिलते किन्तु परमेश्वर की इच्छा कुछ और ही थी। उनके अपूर्ण कार्य को पूरा करना हमारा कर्तव्य है।

चुने हुए पाठ्य ग्रन्थ

Appadorai,	The Substance of Politics.
Asirvatham,	Political Theory.
Barker,	Political Thought in England from Spencer to the Present Day.
Burns,	Political Ideals
Coker,	Recent Political Thought
Cole,	A Guide to Modern Politics.
,,	Social Theory.
Garner,	Political Science and Government.
Gettell,	Introduction to Political Science
Gilchrist,	Principles of Political Science.
Ilyas Ahmad,	The First Principles of Politics.
Joad,	Modern Political Theory.
Kranenberg,	Political Theory.
Laski,	Introduction to Politics
,,	A Grammar of Politics.
,,	State in Theory and Practice.
Leacock,	Elements of Political Science.
Lord,	Principles of Politics
Russell,	Roads to Freedom
Wassermann,	Modern Political Philosophers.
Wilde,	Ethical Basis of the State.
Wilson,	Elements of Modern Politics.
Willoughby,	The nature of the State.

मुद्रक—नरसिंह नाथ भार्गव, बी. एस-सी., दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, दरेसी २, आगरा।